भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य

मैनेजर पाडेय



वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली-110002

ISBN-81-7055-273-7

वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागज, नयी दिल्ली-110002
द्वारा प्रकाशित

प्रथम सस्करण 1993
द्वितीय सस्करण 1997 मूल्य 275 00

शुभम ऑफसेट, दिल्ली-110032
मे मुद्रित

BHAKTI ANDOLAN AUR SURDAS
KA KAVYA
by Manager Pandey

दूसरे संस्करण की भूमिका

आज हम जिसे भारतीय सस्कृति कहते है उसके निर्माण में भक्ति आदोलन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इसके विभिन्न रूपो पर उस आदोलन की अमिट छाप है। भाषा और साहित्य ही नही सगीत, नृत्य, चित्र, मूर्ति, स्थापत्य आदि कलाओ के साथ धर्म तथा दर्शन की जो सजीव और सार्थक परपराए भारतीय जन-जीवन मे घुली-मिली है उनमे से अधिकाश भक्ति आदोलन की देन हैं। भक्ति आन्दोलन के व्यापक और स्थायी प्रभाव का एक कारण यह है कि उसमे भारतीय सस्कृति के अतीत की स्मृति है, अपने समय के समाज तथा सस्कृति की सजग चेतना है और भविष्य की गहरी चिंता भी है। यह केवल सास्कृतिक आदोलन ही नही है, बल्कि एक व्यापक सामाजिक आदोलन भी है, क्योकि उसमे सस्कृत के विभिन्न रूपो मे जनता के सामाजिक जीवन की वास्तविकताओ और आकाक्षाओ की अभिव्यक्ति मिलती है।

भक्ति आदोलन का लक्ष्य है मानुष-सत्य या कि मनुष्यत्व की रक्षा और विकास। भक्तिकाव्य की सपूर्ण रचनाशीलता इसी लक्ष्य की ओर उन्मुख है। भक्त कवियो की दृष्टि मे मानुष-सत्य के ऊपर कुछ भी नही है—न कुल, न जाति, न धर्म, न सप्रदाय, न स्त्री-पुरुष का भेद, न किसी शास्त्र का भय और न लोक का भ्रम। इन सबका दुराग्रह हमेशा मनुष्यत्व के विकास मे बाधक बनता है, इसलिए इनकी भक्ति काव्य मे निर्द्वंद्व और निर्भीक आलोचना है। समाज मे तरह-तरह के भेद-भाव पर टिकी व्यवस्था की जगह मनुष्यत्व पर आधारित समता-मूलक और मानवीय व्यवस्था की कामना भक्ति काव्य मे है, जिससे आज भी शोषित-पीडित भारतीय जनता प्रेरणा और शक्ति पाती है।

भक्ति हृदय का धर्म है। हृदय के धर्मो मे सर्वाधिक व्यापक, उदात्त और मानवीय धर्म है प्रेम। वही भक्ति का मूल भाव और भक्ति काव्य का बीज-भाव भी है। वह मनुष्य को कुल, जाति, धर्म, सप्रदाय आदि की सीमाओ से ऊपर उठाता है और हर तरह की सत्ता के भय से मुक्त करता है। भक्ति काव्य मे प्रेम सूफियो

को वैष्णवो से मिलाता है और सगुण भक्तो को निर्गुण सतो से। इस तरह वह व्यापक मानवीय भावभूमि पर मनुष्य मात्र की एकता का आधार बनता है। यही कारण है कि भक्ति काव्य मे कही भी धार्मिक उन्माद और साप्रदायिक सकीर्णता नही है। यह सही है कि सभी भक्त कवियो के प्रेम का रूप एक जैसा नही है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और मीरा के प्रेम मे अतर है, लेकिन इन सबके काव्य मे प्रेम के रूपो और स्वरो की अनेकता के बावजूद उसकी भावना एक-सी है। भक्ति-भावना की इसी लोकधर्मिता के उदात्त तथा मूलगामी स्वरूप की पहचान और भक्ति काव्य मे उसके विभिन्न पक्षो की अभिव्यक्ति की खोज के लिए मैंने एक नया निबध लिखा है जो इस पुस्तक का पहला अध्याय बना है। पुस्तक का अतिम अध्याय है 'सूर का काव्य और किसान-जीवन'। वह भी नया है। हिंदी आलोचना मे यह बात फैली हुई है कि सूरदास अपने समय के समाज से बेखबर अपने भाव मे मग्न रहने वाले कवि है। इस पुस्तक के अतिम अध्याय के पाठक देखेंगे कि सूर की कविता मे लोक-चिता के अभाव की बात सही नही है। उनकी काव्यानुभूति की सस्कृति और काव्य-भाषा की सरचना से साबित होता है कि सूरदास का अपने समय के समाज से, विशेषत किसान-जीवन और उसके परिवेश से कितना अतरग सबध है। इस पुस्तक के आरभ और अत मे जो दो नये अध्याय जोडे गए है उनको ध्यान मे रखकर पुस्तक का नाम बदल दिया गया है।

आज भारतीय समाज एक विकट सकट से गुजर रहा है। यह सकट जितना सामाजिक और राजनीतिक है उससे अधिक सास्कृतिक है, क्योकि सस्कृति के गोला-बारूद से ही राजनीति की लडाई चल रही है, सास्कृतिक प्रतीक राजनीतिक युद्ध के अस्त्र-शस्त्र बनाए जा रहे हैं। इस सस्कृति की राजनीति से जो राजनीति की नई सस्कृति पैदा हुई है वह धार्मिक उन्माद, साप्रदायिक सकीर्णता और मानव-द्रोह की आधी पर सवार होकर आगे बढ रही है और भक्ति आदोलन के उदात्त मानवीय मूल्यो, सामाजिक आदर्शों और सास्कृतिक आकाक्षाओ की विरासत को तहस-नहस कर रही है। ऐसी स्थिति मे भक्ति काव्य की 'विगत सार्थकता और वर्तमान अर्थवत्ता' की पहचान एक बार फिर आवश्यक हो गई है। वर्तमान सकट से उबरने मे भी भक्ति काव्य हमारी मदद कर सकता है, क्योकि भक्ति काल की कविता आज भी जनता के जीवन मे रमी हुई कविता है, इसलिए उसके सहारे व्यापक जनता से आत्मीय सवाद सभव है। अगर यह पुस्तक अपने पाठको को एक बार और भक्ति काव्य पर ध्यान देने के लिए प्रेरित कर सकी तो इसका प्रकाशन सार्थक होगा।

भारतीय भाषा केंद्र — **मैनेजर पांडेय**
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067, फरवरी 1993

प्रथम संस्करण की भूमिका

भक्ति आदोलन के साथ भारतीय समाज, सस्कृति और साहित्य के विकास की नई अवस्था का आरभ होता है। भक्ति आदोलन व्यापक सास्कतिक आदोलन है, जिसकी अभिव्यक्ति दर्शन, धर्म, कला, साहित्य, भाषा और सस्कृति के दूसरे रूपो मे दिखाई देती है। वास्तव मे यह सामती सस्कृति के विरुद्ध जनसस्कृति के उत्थान का अखिल भारतीय आदोलन है। इसके मूल मे ग्यारहवी-बारहवी सदी से अखिल भारतीय स्तर पर विभिन्न जातियो के निर्माण, जातीय भाषाओ के गठन और जातीय साहित्य के विकास की प्रक्रियाओ की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। भक्ति आदोलन के साथ-साथ विभिन्न जातीय भाषाओ के गठन की प्रक्रिया तेज होनी है और आधुनिक भारतीय भाषाओ के निर्माण का आधार तैयार होता है। सस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्र श से स्वतत्र देशी भाषाओ मे साहित्य-रचना के आरभ के साथ भारतीय साहित्य का इतिहास विकास की एक नई अवस्था मे प्रवेश करता है। इसी के साथ भारतीय सस्कृति और साहित्य का इतिहास सामती जकड से निकलकर सामतवाद विरोधी जनसस्कृति की रचनाशीलता की मजिल की ओर बढता हुआ दिखाई देता है। सामती सस्कृति, दरबारी वातावरण और पुराने काव्यशास्त्र के रीतिवाद से मुक्त भक्ति-काव्य लोकभाषाओ मे जनसस्कृति और जनभावनाओ की अभिव्यक्ति का काव्य है।

भक्ति आदोलन और उसके साहित्य मे अभिव्यक्त अनुभूति, विचारधारा और सास्कृतिक चेतना का जितना सबध भारतीय सस्कृति और साहित्य की प्राचीन परपराओ से है, उससे अधिक अपने युग के समाज और जनसस्कृति से है। उसमे सामाजिक जीवन की तरह-तरह की विसगतियो की पहचान है। यही नही, उसमे सामती समाज-व्यवस्था और उसकी विचारधारा के मानव-विरोधी रूपो तथा परिणतियो का बोध है, उनका चित्रण है और उनके विरुद्ध विद्रोह का भाव भी है। सामती समाज-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह-भावना और जनसस्कृति की सृजनशीलता की जैसी अभिव्यक्ति भक्ति-काव्य मे हुई है, वैसी भक्तिकाल के

पहले की भारतीय कविता मे कम ही मिलती है।

भक्ति आदोलन की नई सास्कृतिक चेतना के कारण उस काल की कविता की अतर्वस्तु, रचनादृष्टि और अभिव्यक्ति-पद्धति का जो नया विकास हुआ वह सस्कृत काव्य और काव्यशास्त्र से बहुत कुछ स्वतत्र है। सस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्र श के अभिजातवर्गीय साहित्य से भक्तिकाल का जनोन्मुख साहित्य अतर्वस्तु और रूप की दृष्टि मे भिन्न ही नही, नया और स्वतत्र भी है। भक्ति-काव्य की अतर्वस्तु जनसस्कृति और जनजीवन के अनुभवो से निर्मित है। इसके काव्यरूप सस्कृत के प्रचलित काव्यरूपो से भिन्न हैं, वे लोकजीवन और लोक-साहित्य मे प्रचलित काव्यरूपो के विकसित रूप हैं। भक्तिकाल की प्रगीतात्मकता ग्रामगीतो की मौखिक परपरा की देन है। इसकी कविता के अधिकाश छद सस्कृत के छदो से भिन्न और हिन्दी के जातीय छद है। सबमे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय साहित्य के इतिहास मे पहली बार भक्तिकालीन कविता मे सामान्य जनता के जीवन-व्यवहार की भाषा और कविता की भाषा के बीच एकता कायम हुई। कवि समय-सिद्ध भाषा की तथाकथित साहित्यिकता और जीवन-व्यवहार की भाषा की सहज सामाजिकता के बीच का कृत्रिम भेद समाप्त हुआ।

अतर्वस्तु और रूप के स्तर पर भक्तिकालीन कविता की यह नवीनता सस्कृत काव्य और काव्यशास्त्र की रूढियो से बहुत कुछ स्वतत्र है, इसलिए सस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धातो और रीतिवादी आग्रहो के आधार पर भक्ति-काव्य का मूल्याकन करना उसकी उत्पत्ति तथा विकास के ऐतिहासिक सदर्भों की उपेक्षा करके नई रचनाशीलता की कीमत पर परपरा को प्रतिष्ठित करना है। कुछ आलो-चको का सवेदनशील मन भक्तिकाल की कविता की अभूतपूर्व मौलिकता से चमत्कृत तो होता है, लेकिन उनका परपराप्रेमी मन भक्ति-काव्य का मूल्याकन करते समय उसे पुरानी परपरा—सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश की कविता की परपरा—का नया रूप सिद्ध करके सतुष्ट हो जाता है। रूढिवादी आलोचना-दृष्टि से भक्ति-काव्य की अतवस्तु और रूप सबधी नवीनता की व्याख्या नही हो सकती। भक्तिकाल की जनोन्मुख कविता की व्याख्या और मूल्याकन के लिए प्राचीन रूढिवाद और रीति-वाद के आग्रहो से मुक्त आलोचना दृष्टि की आवश्यकता है।

भक्ति आदोलन और उसके साहित्य पर विचार करते समय कुछ आलोचक भक्ति-दर्शन के मात्र मूल स्रोतो की खोज करते है और भक्ति आदोलन के ऐति-हासिक सदर्भ की उपेक्षा करते हैं। ऐसे आलोचक भक्ति के इतिहास की खोज करते हुए वेदो तक पहुच जाते हैं, लेकिन भक्ति आदोलन के समकालीन सामाजिक-सास्कृतिक आधार और सर्जनात्मक स्वरूप को नही देखते।

यहा सास्कृतिक आदोलन के इतिहास और विचारो के इतिहास के सदर्भ मे पद्धति का प्रश्न विचारणीय है। किसी सास्कृतिक आदोलन या वैचारिक आदोलन

के केद्रीय विचार के मूल स्रोत की खोज से अधिक महत्त्वपूर्ण है उस ऐतिहासिक सदभ का विश्लेषण, जिसमे उस सास्कृतिक आदोलन या वैचारिक आदोलन का विकास और प्रसार होता है। सस्कृति और विचारो के इतिहास मे प्राय यह देखा जाता है कि एक विचार अमूर्त अवधारणा के रूप मे इतिहास-प्रक्रिया मे लबे काल तक जीवित रहने के बाद अनुकूल सामाजिक आधार पाकर व्यापक आदोलन का रूप धारण करता है। भक्ति का अस्तित्व भावना और विचार के रूप मे चाहे जितना पुराना हो, लेकिन व्यापक सास्कृतिक आदोलन के रूप मे उसका विकास बारहवी सदी से सत्रहवी सदी के बीच मे ही दिखाई देता है।

अगर भावना और विचार के रूप मे भक्ति के प्राचीन अस्तित्व पर ही ध्यान दिया जाएगा और उसके तत्कालीन व्यापक सामाजिक सास्कृतिक आधार की उपेक्षा की जाएगी तो भक्ति आदोलन और उसके साहित्य से जुडे अनेक प्रश्नो का उत्तर पाना कठिन होगा। भक्ति आदोलन और उसके साहित्य का अध्ययन करने वालो को बार-बार कुछ प्रश्नो का सामना करना पडता है। भक्ति आदोलन के साथ ही सामती समाज-व्यवस्था मे सदियो से पीडित दलित वर्ग और वर्ण-व्यवस्था निम्नतम स्तर पर रहने वाली छोटी जातियो मे रचनात्मक प्रतिभा का विस्फोट और उस समाज-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह की भावना की अभिव्यक्ति क्यो हुई? भक्ति आदोलन के साथ ही सामतवाद विरोधी जनसस्कृति का उत्थान क्यो हुआ? भक्ति आदोलन और उसके साहित्य के साथ-साथ विभिन्न जातीय भाषाओ के गठन की प्रक्रिया क्यो तेज हुई? भक्ति-काव्य के भीतर सामतवाद विरोधी और मानववादी स्वर के विकास के क्या कारण है? भक्ति-काव्य की अतर्वस्तु और उसकी रचना के नए स्वरूप के विकास का सामाजिक आधार क्या था? ऐसे सभी प्रश्नो का उत्तर पाने के लिए भक्ति आदोलन और उसके साहित्य को उस काल के सामाजिक-सास्कृतिक परिवेश और ऐतिहासिक सदर्भ से जोडकर देखना जरूरी है।

भक्ति आदोलन और उसके साहित्य से प्रेम करने वाले लोग कई तरह के है। कुछ लोग परलोक मे अपनी जगह सुरक्षित करने के लिए भक्ति-साहित्य का पाठ करते है, तो कुछ लोक-परलोक दोनो को एक साथ सुधारने के लिए भक्ति-साहित्य का उपयोग करते है। कुछ परपरा की पूजा-भावना से भक्ति-साहित्य की ओर देखते है और कुछ वर्तमान को अतीत के अनुरूप बनाने की आकाक्षा से सास्कृतिक इतिहास के स्वर्णयुग का आह्वान करते हैं। इन सबसे भिन्न कुछ लोग गभीरता से भक्ति-साहित्य मे उस युग के समाज और सस्कृति की खोज करने के नाम पर उसमे पाए जाने वाले भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि के नामो की सूची तैयार करके सतुष्ट हो जाते है।

भक्ति-साहित्य के अध्ययन का एक दृष्टिकोण वह है जो इतिहासवाद के नाम

पर अतीत की अतीतता की रक्षा करना चाहता है। ऐसे भोले इतिहासवादी उसकी वर्तमान अर्थवत्ता पर विचार नही करते। इनमे भिन्न कुछ ऐसे आधुनिकतावादी है जो भक्ति काव्य के ऐतिहासिक सदर्भ और वस्तुनिष्ठ अस्तित्व की उपेक्षा करके उसकी केवल वर्तमान उपयोगिता की बात करते है। इन दोनो से भिन्न कुछ उतावले क्रातिकारी है जो भविष्य की अतिरिक्त चिंता के कारण अतीत के बोध को बोझ समझकर उससे मुक्त होने की कोशिश करते है।

भक्ति आदोलन और उसके साहित्य पर विचार करते समय उसके सामाजिक-सास्कृतिक आधार, विचारधारात्मक रूप और कलात्मक स्वरूप पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करना चाहिए। यही नही, वर्तमान सदर्भ मे जनसस्कृति के उत्थान के उस व्यापक अखिल भारतीय आदोलन की अर्थवत्ता और भक्ति-काव्य के कलात्मक तथा सौंदर्यबोधात्मक महत्त्व का विश्लेषण भी आवश्यक है। अतीत के साहित्य की आलोचना करते समय वाल्टर बेंजामिन की इस धारणा पर ध्यान देना जरूरी है कि अतीत के अनुभव के रूप मे उसका मूल्याकन करना अपर्याप्त है, वर्तमान के अनुभव के रूप मे उसका विश्लेषण और मूल्याकन आवश्यक है। भक्तिकालीन कविता भारतीय जनना के बीच आज भी सर्वाधिक लोकप्रिय है, वह आज भी जनता की सास्कृतिक आकाक्षाओ और आवश्यकताओ को एक सीमा तक पूरा करती है, इसलिए जनता के सामाजिक-सास्कृतिक उत्थान की चिंता करने वाले भक्तिकाव्य की उपेक्षा नही कर सकते। यह केवल परपरा के प्रति जनवादियो के दृष्टिकोण का ही प्रश्न नही है, बल्कि जनसस्कृति के विकास के प्रसग मे उनके वर्तमान दायित्व से भी जुडा हुआ है।

हिंदी साहित्य के इतिहास मे भक्ति आदोलन और उसके काव्य के मूल्याकन का इतिहास समाज तथा साहित्य के सबध, साहित्य सबधी दृष्टिकोण, काव्य-विवेक और आलोचना-दृष्टि के विकास का इतिहास है। रीतिकाल के दरबारी काव्य और सामती काव्यरुचि के युग मे भक्तिकाव्य अभिजात वर्ग द्वारा उपेक्षित था, लेकिन उस युग मे भी वह आम जनता की सास्कृतिक आकाक्षाओ को पूरा करने का मुख्य साधन था। आधुनिक युग मे नवजागरण और स्वाधीनता आदोलन के विकास के साथ जब राष्ट्रीय और जनवादी सास्कृतिक चेतना का उदय हुआ तो भक्ति आदोलन और उसके काव्य के जनवादी स्वरूप के महत्त्व को पहचानना भी सभव हुआ।

भारतेंदु युग मे बालकृष्ण भट्ट ने साहित्य को 'जनसमूह के हृदय का विकास' कहकर अपने युग के श्रेष्ठ साहित्य का ही स्वरूप स्पष्ट नही किया, बल्कि भक्तिकालीन साहित्य की मूलभूत विशेषता की ओर भी सकेत किया। साहित्य और भाषा के जातीय स्वरूप की चिंता करने वाले भारतेंदु और उनके युग के लेखको ने भक्तिकालीन साहित्य के महत्त्व और मूल्य को पहचाना था। बाद मे

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने तरह-तरह के रीतिवाद और रूढिवाद का विरोध करते हुए भक्ति-काव्य के उचित मूल्याकन का मार्ग प्रशस्त किया।

आचार्य रामचद्र शुक्ल ने भक्ति-काव्य का अनुशीलन करते हुए ही वह साहित्य-विवक विकसित किया था, जिससे वे तरह-तरह के रीतिवादी और जन-विरोधी साहित्य का डटकर विरोध कर सके। भक्तिकाव्य से आचार्य शुक्ल का साहित्य-विवेक बना था और उनकी वस्तुवादी आलोचना-दृष्टि से भक्ति-काव्य का मूल्याकन सभव हुआ। छायावाद के श्रेष्ठ कवि जयशकर प्रसाद और निराला का भक्ति-काव्य से घनिष्ट सबध बार-बार उनके साहित्य मे प्रकट हुआ है। प्रगतिशील आदोलन भक्ति आदोलन के बाद के भारतीय समाज के इतिहास से जनसस्कृति के विकास का दूसरा व्यापक अखिल भारतीय स्तर का सास्कृतिक आदोलन था।

प्रगतिशील आदोलन के काल मे साहित्य और समाज के सबध, समाज के विकास मे साहित्य की भूमिका और साहित्य की सार्थकता के बारे मे जो नया दृष्टिकोण विकसित हुआ उससे भक्ति साहित्य के नए मूल्याकन की सभावना बनी। इसी काल मे हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भारतीय साहित्य की विकासशील परपरा मे भक्ति-साहित्य के स्थान का मूल्याकन किया। प्रगतिशील आदोलन के काल मे ही कुछ प्रगतिवादी आलोचको के भक्तिकाल सबधी सकुचित दृष्टिकोण से सघर्ष करते हुए रामविलास शर्मा ने भक्ति आदोलन और उसके काव्य के ऐति-हासिक सदर्भ का विश्लेषण किया और उसका मूल्याकन किया। रामविलास शर्मा ने भक्ति आदोलन और उसके काव्य के सामाजिक-सास्कृतिक आधार को स्पष्ट करते हुए उसके सामतवाद विरोधी रूप और मानववादी स्वर को रेखाकित किया है। हिदी साहित्य के इतिहास मे भक्ति-काव्य के मूल्याकन के उतार-चढाव से यह सिद्ध होता है कि जब रचना और आलोचना मे जातीय और जनवादी तत्त्वो का प्रभाव बढा है तो भक्ति-काव्य का महत्त्व बढा है और जब जनविरोधी और विजा-तीय प्रवृत्तिया प्रबल हुई है तो भक्तिकाव्य की उपेक्षा हुई है।

ग्यारहवी सदी से सत्रहवी सदी के बीच के भारतीय समाज, सस्कृति और साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने वाले अनेक विद्वानो की राय है कि ग्यारहवी और बारहवी सदी से भारत मे जातियो (नेशनैलिटीज) के निर्माण की प्रक्रिया आरभ होती है। जातियो के निर्माण की प्रक्रिया के आरभ का अर्थ है सामतवाद के विघटन की प्रक्रिया का आरभ, सौदागरी पूजीवाद के विकास का आरभ, जातीय भाषाओ के गठन की प्रक्रिया का आरभ और जातीय साहित्य के विकास की प्रक्रिया का आरभ। समाज के आर्थिक आधार के बदलने के कारण समाज के विभिन्न वर्गों के सबध और सतुलन मे परिवर्तन होता है। जातीय निर्माण की प्रक्रिया के आरभ के इस काल मे किसान, शिल्पकार और व्यापारी वर्ग का प्रभुत्व बढता है। समाज के आर्थिक आधार और उत्पादन-सबधो मे परिवर्तन के कारण

विचारधारात्मक रूपो मे परिवर्तन होता है, सस्कृति, कला, और साहित्य के नए विकास की सभावना बनती है। नए आर्थिक विकास और बदले हुए सामाजिक सबधो के कारण जिन वर्गों का प्रभाव बढता है, सस्कृति, कला और साहित्य मे भी उनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

भक्ति आदोलन और उनके साहित्य का लगभग बारहवी सदी से आरभ होने वाले आर्थिक और सामाजिक परिवतनो से घनिष्ट सबध है। जातीय निर्माण की प्रक्रिया के आरभ के साथ सामतवाद के विघटन की प्रक्रिया के प्रारभ के कारण ही जनसस्कृति के उत्थान के इस व्यापक आदोलन का विकास सभव हुआ। सामतवाद के विघटन की प्रक्रिया के आरभ होने और किसानो, शिल्पकारो आदि का समाज मे प्रभाव बढने के कारण ही दलित जातियो मे विद्रोह की भावना जगी, जिसकी अभिव्यक्ति सत साहित्य मे हुई। देशी भाषाओ के विकास के कारण भी शिक्षा की सुविधा से वचित दलित जातियो की रचनात्मक प्रतिभा को विकास और अभिव्यक्ति का अवसर मिला, अन्यथा सस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रश काल मे अभिजात वर्ग ही साहित्य की रचना और आस्वादन का अधिकारी था। देशी भाषाओ का यह विकास समाज, सस्कृति और साहित्य के नए युग के आरभ का सूचक है।

सामतवाद के विघटन और जनसस्कृति के उत्थान की प्रक्रिया से उपजे भक्तिकाव्य मे सामतवाद विरोधी स्वर का मुखर होना स्वाभाविक है। सत और भक्त कवि लोकमगल की भावना से प्रेरित और लोकमगल की साधना के कवि थे। उनके अनुभव और उनकी काव्यसाधना का क्षेत्र लोकजीवन ही था। सामान्य जनता की सस्कृति से उनकी कविता निर्मित हुई थी और लोकजीवन ही भक्ति-काव्य का सरक्षक बना। सामती सस्कृति और उससे जुडी दरबाराश्रयी कविता के विरुद्ध जनसस्कृति के उत्थान का प्रतिनिधित्व करने वाले कवि और काव्य का लोकाश्रयी होना स्वाभाविक है। भक्त कवियो ने स्पष्ट रूप से सामती व्यवस्था और राजसत्ता का विरोध करते हुए घोषणा की थी कि 'सतन सो कहा सीकरी सो काम'। सत काव्य मे पुरोहितवाद, धार्मिक आडबर, जातिभेद, सामाजिक विषमता और ऊच-नीच के भेदभाव का जो खडन तथा विरोध है वह सामती समाज-व्यवस्था और उसकी विचारधारा के विरुद्ध विद्रोह की अभिव्यक्ति है। सामती व्यवस्था और उसकी विचारधारा के विरुद्ध विद्रोह का यह भाव अपने ऐतिहासिक सदर्भ मे क्रातिकारी महत्त्व का है। इसमे उस युग के सामाजिक परिवर्तन का प्रतिबिबन है और नए सामाजिक परिवर्तन को प्रेरित करने की शक्ति भी है। सत कवियो के रहस्यवाद मे भी अत्याचारी सामती व्यवस्था के विकल्प के रूप मे एक समतावादी व्यवस्था की कल्पना की बार-बार अभिव्यक्ति हुई है। सत कवियो का यह काल्पनिक देश लोक से अलग कोई परलोक नही है। कुछ लोग समझते हैं कि सत काव्य केवल

असहमति और विरोध का काव्य है। यह सतकाव्य की अधूरी समझ का परिणाम है। सतकाव्य मे सामती समाज-व्यवस्था और उसकी विचारधारा के विरुद्ध विद्रोह के साथ-साथ समतामूलक समाज-व्यवस्था की आकाक्षा, जनजीवन के यथार्थ और जनसस्कृति के सौदर्य की अभिव्यक्ति भी हे। लोकप्रचलित प्रेम-कथाओ को आधार बनाकर काव्यरचना करने वाले सूफी कवियो की कविताओ मे कथा के पुराने ढाचे के भीतर अपने समय की जनसस्कृति के विभिन्न रूपो की अभिव्यजना हुई है। जायसी के 'पद्मावत' मे नागमती का विरह-वर्णन अनुभूति की व्यापता के लिए याद किया जाता है, लेकिन उसमे लोकप्रचलित काव्यरूप 'बारहमासा' का प्रयोग करते हुए विरह-वर्णन मे जनजीवन और जनसस्कृति की जो मार्मिक व्यजना है, वह कम महत्त्वपूर्ण नही है। नागमती की विरहानुभूति की व्यापकता जनजीवन और जनसस्कृति का आधार लेकर व्यक्त हुई है। जायसी की सामतवाद विरोधी चेतना का एक प्रबल प्रमाण यह भी है कि उन्होने सामती व्यवस्था की सर्वोच्च सत्ता के एक प्रतिनिधि दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन को 'शैतान' के रूप मे देखा और चित्रित किया है। सामती राजसत्ता के प्रति जायसी का दृष्टिकोण दिल्लीश्वर को जगदीश्वर कहने वालो से भिन्न था।

निर्गुण सतो की तरह सगुण भक्तो की कविता मे सामती समाज और उसकी विचारधारा के विरुद्ध ललकार की भाषा मे उग्र विद्रोह की घोषणाए कम है, लेकिन उनकी कविता मे चरित्रो के निर्माण, कथा की सरचना, यथार्थ बोध, भाव बोध और जीवनमूल्य के बोध के स्तर पर सामती व्यवस्था और विचारधारा का विरोध प्रकट हुआ है। सूर और तुलसी ने कृष्ण और राम की जिन कथाओ को आधार बनाकर काव्य रचना की है, वे सस्कृत काव्य की उदात्त परपरा की उपज और लोकजीवन मे प्रचलित कथाए है। इन कथाओ के नायक अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध सघर्ष करने वाले वीर पुरुष हे। सामती समाज-व्यवस्था के अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध सघर्ष करने वाली जनता इन कथा-नायको के सघर्ष मे अपने सघर्ष की आकाक्षा का मूर्त रूप देखती है। यही इन कथाओ की व्यापक लोकप्रियता का रहस्य है। सूर और तुलसी के कृष्ण और राम अन्यायी, अत्याचारी और दमनकारी शासको को मारकर उनकी दमनकारी सत्ताओ के स्थान पर लोकहितकारी राज्य-व्यवस्था की स्थापना करते है। तुलसी की रामराज्य की कल्पना मे अत्याचारी सामती राजसत्ता के स्थान पर न्यायप्रिय और जनप्रिय राजव्यवस्था की जनाकाक्षा व्यक्त हुई है। यह तुलसी की सामतवाद-विरोधी चेतना का एक प्रमाण है। समतावादी राज-व्यवस्था की यह कल्पना सामती युग की ऐतिहासिक सीमाओ से प्रभावित है। लेकिन उसमे सामती व्यवस्था से मुक्ति की जनता की आकाक्षा और तुलसी की लोकहितवादी भावना की मुखर अभिव्यक्ति हुई है।

भक्त कवियो की कविता मे मानवीय सबधो और भावो के जो रूप है, उनमे

भी कवियो की सामतवाद-विरोधी चेतना प्रकट हुई है। सूरदास के काव्य मे कृष्ण से राधा और दूसरी गोपियो का प्रेम सामती नैतिकता के बधनो से मुक्त प्रेम है। उन्मुक्त प्रेम की यह कल्पना और मानवीय सबध के रूप मे उसके विकास का चित्रण प्रेम और विवाह सबधी सामती दृष्टिकोण का विरोधी है। प्रेम के सहज मानवीय और उदात्त रूपो की गहराई, व्यापकता तथा विविधता का जैसा चित्रण सूर के काव्य मे है, वैसा अन्यत्र बहुत कम उपलब्ध होता है। हिंदी मे सूर से बडा प्रेम का कवि दूसरा कोई नही है। सूर का वात्सल्य वर्णन अमानवीय व्यवस्था के बीच भी मनुष्य की मनुष्यता को जगाने और उसकी रक्षा करने मे समर्थ है। सूर का भक्तिमार्ग प्रेममार्ग है, उसमे जीवन के रागात्मक सबधो के सहज, उदात्त और मानवीय रूपो की अभिव्यक्ति है। सूर का काव्य जीवन और जगत के प्रति सच्चे अनुराग से पैदा हुआ है और वह जीवन तथा जगत मे सच्चा अनुराग जगाने वाला काव्य है। वह जीवन की समग्रता का काव्य है, जिसमे मानव-जीवन के बचपन, किशोरावस्था और यौवन के रूप, भाव तथा कर्म के सौदर्य की व्यजना है।

रामविलास शर्मा ने लिखा है कि भक्ति आदोलन किसी एक वर्ग का आदोलन नही था, उसमे किसान, शिल्पकार, व्यापारी आदि सभी शामिल थे। वास्तव मे भक्ति आदोलन सामती व्यवस्था से पीडित और उससे मुक्ति के लिए छटपटाते सघषशील सभी वर्गो का व्यापक सास्कृतिक आदोलन था। लेकिन उसमे मुख्य भूमिका शिल्पकारो और किसानो की थी, इसलिए वह जनसस्कृति के उत्थान का आदोलन बन सका। एक ओर उसमे जीवन-जगत की सच्चाई और सौदर्य की अभिव्यक्ति है, सामती समाज-व्यवस्था मे मक्ति की आकाक्षा है और पुरोहितवाद का उग्र विरोध है तो दूसरी ओर उसमे जगत के मिथ्यात्व की घोषणा है, जीवन-जगत मे वैराग्य का भाव है, मायावाद है और निराशावाद भी है। वास्तव मे सामती युग मे धर्म के माध्यम से प्रकट होने वाला सामाजिक विद्रोह सामती युग की विचारधारा के प्रभावो से पूरी तरह मुक्त नही होता, लेकिन ऐसे प्रभावो के बावजूद इन विद्रोहो और आदोलनो की समाज के विकास मे महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

भक्ति दर्शन, भक्ति आदोलन और भक्ति-काव्य मे जहा की जीवन-जगत सबधी मिथ्या चेतना और उल्टी विश्वदृष्टि के कारण यथार्थ को मिथ्या और मिथ्या को यथार्थ माना गया है, वहा भी जीवन-जगत की आलोचना मे सामती समाज-व्यवस्था की आलोचना दिखाई देती है। भक्ति दर्शन केवल मिथ्या चेतना का ही दर्शन नही है, उसमे जीवन-जगत के बीच विकसित होने वाले मानवीय भावो और सबधो की प्रधानता है। भक्तियोग भावयोग है, इसलिए भक्त कवि जीवन-जगत के सौदर्य पर मुग्ध होता है और मानवीय भावो को ही अपनी काव्य-साधना और भक्ति-भावना का आधार बनाता है। भक्ति-काव्य मे जहा यथार्थबोध और सौंदर्य-

बोध पर जगत के मिथ्यात्व की धारणा का कोई प्रभाव नही है, वही काव्य का चरम उत्कर्ष दिखाई देता है। भक्ति आदोलन के आचार्यों ने अद्वैतवाद और मायावाद के विरुद्ध जीवन-जगत की यथार्थता का प्रतिपादन किया था, भक्त कवियो ने जीवन के विभिन्न भावो और मानवीय सबधो को ही भक्ति के विभिन्न भावो तथा भक्त और भगवान के बीच के सबधो का आधार बनाया था। भक्ति दर्शन मे जीवन-जगत की यथार्थता की स्वीकृति मुख्य है और उसके मिथ्यात्व का बोध गौण, इसलिए भक्ति-काव्य मे जीवन-जगत के वास्तविक रूप और सौदय का चित्रण प्रधान हे, वैराग्य और निराशा का भाव गौण।

समाज के आर्थिक आधार मे परिवर्तन से विभिन्न वर्गों के आपसी सबधो मे भी परिवर्तन आता है। इससे विचारो के निर्माण की पद्धति और विचार-प्रणाली मे भी परिवर्तन होता है। फलत सास्कृतिक रूपो के निर्माण और विकास की पद्धति मे भी परिवर्तन होता हे। गोल्डमान ने लिखा है कि सामाजिक सरचनाओ के बदलने मे विश्वदृष्टि की सरचनाए बदलती है और सामाजिक सरचनाओ तथा विश्वदृष्टि की सरचनाओ के परिवर्तन से साहित्य-सरचनाओ के परिवर्तन की प्रक्रिया तेज होती है। जिस आर्थिक-सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से जातीय निर्माण की प्रक्रिया तेज हुई, उसी से सामतवाद के विघटन की प्रक्रिया भी आरभ हुई। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न वर्गों के आपसी सबधो मे जो बदलाव आए, उनकी अभिव्यक्ति भक्ति आदोलन और उसके साहित्य मे हुई। सामतवाद के विघटन और जनसस्कृति के उत्थान की प्रक्रिया के आरभ के साथ ही देशी भाषाए विकसित हुई और उनमे साहित्य रचना की शुरुआत हुई। भक्ति-काव्य मे लोक-प्रचलित काव्यरूपो का प्रयोग हुआ और नए काव्यरूपो का विकास भी हुआ। भक्ति-काव्य मे प्रगीत का विकास एक ओर जनसस्कृति से भक्ति-काव्य के घनिष्ठ सबध का सूचक है तो दूसरी ओर उसकी सामतवाद विरोधी प्रकृति का एक प्रमाण भी है। आत्माभिव्यक्ति प्रगीत का प्राण है। यह आत्माभिव्यक्ति सामती समाज की कठोर सामूहिकता के विरुद्ध व्यक्ति की वैयक्तिकता के उठ खडा होने की घोषणा है। भक्तिकाल के कवियो की कविता मे आत्माभिव्यक्ति का स्वर अत्यत मुखर है। इस काल मे प्रगीत का विकास भक्त कवियो की आत्माभिव्यक्ति की कामना का मूर्त रूप है। बहुत गहरे स्तर पर प्रगीतात्मकता भक्ति-काव्य की सामतवाद विरोधी रचना-दृष्टि को प्रमाणित करती है। निस्सदेह सूरदास भक्तिकाल के सबसे बडे प्रगीतकार है। इस तरह वे भक्ति आदोलन की सामतवाद विरोधी चेतना और जनसस्कृति के उत्थान के प्रतिनिधि रचनाकार सिद्ध होते है।

सूर के काव्य मे ज्ञान और भक्ति, सगुण और निर्गुण, रागानुगामी जीवन और विधिनिषेधवादी जीवन-दृष्टि, जनसस्कृति और सामती सस्कृति, गाव की सस्कृति और नगरीय सस्कृति के द्वद्व मे उस युग के व्यापक बौद्धिक-सास्कृतिक द्वद्वो की

का अध्ययन और उसकी विभिन्न समस्याओ पर विचार करता रहा हू। इस प्रक्रिया मे भक्ति आदोलन और उसके काव्यसबधी मेरे विचारो मे परिवर्तन हुआ है। अपने नए विचारो को पाठको के सामने रखने के लिए ही मैंने इस पुस्तक की अपेक्षाकृत लबी भूमिका लिखी है।

यह पुस्तक भक्तिकाल और सूर-साहित्य को नए ढग से देखने-समझने मे जितनी सहायक होगी, मेरा प्रयास उतना ही सार्थक होगा।

इस पुस्तक के लेखन और प्रकाशन मे जिन मित्रो का मूल्यवान सहयोग मिला हैं, उन सबका मैं कृतज्ञ हू।

मैनेजर पाडेय

भारतीय भाषा केद्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067
1982

अनुक्रम

भक्तिकाव्य और हिंदी आलोचना

जब से हिंदी आलोचना केवल समकालीन लेखन की समीक्षा बन गई है और उस समीक्षा की समकालीनता अपनी पीढी के मित्रो के बीच परस्पर प्रशसा या निंदा तक सिमट गई है, तब से पुराने साहित्य की चर्चा साहित्य-चिंता के बाहर हो गई है। आजकल छायावाद और भारतेंदु युग का साहित्य भी आलोचना के बदले इतिहास और शोध के खाते मे डाल दिया गया है। ऐसी स्थिति मे अगर रीतिकाल और भक्तिकाल की कविता आलोचना की सीमा से परे हो तो क्या आश्चर्य ! हा, कभी-कभी परपरा पर बहस के दौरान भक्तिकाव्य की याद जरूर आती है।

आज भी भक्तिकाल की कविता की महानता और अनन्य लोकप्रियता को सब स्वीकार करते हैं, कुछ जान-बूझकर और कुछ केवल श्रद्धावश। फिर भी उस कविता के प्रति आज की आलोचना उदासीन ही अधिक है। आखिर क्यो ? इस प्रवृत्ति के पीछे सकीर्ण समकालीनता का आग्रह है, भक्तिकाव्य सबधी अज्ञान है या परपरा के प्रति उदासीनता ? जो भी हो, यह स्थिति चिंताजनक है। भक्ति-काव्य से आज की आलोचना की उदासीनता के कारण भक्तिकाव्य का भले ही कुछ न बिगडा हो, लेकिन समकालीन आलोचना जरूर प्रभावित हुई है। भक्ति-काव्य से आज की आलोचना की दूरी देखकर मन मे बार-बार यह सवाल उठता है कि यदि रामचद्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी भी आलोचना की आज वाली समकालीनता के शिकार होते तो हिंदी आलोचना कहा और कैसी होती।

आज के कुछ कवि कभी-कभी निराला, नागार्जुन और त्रिलोचन की कविता मे गहरी दिलचस्पी लेने की बात करते हैं। लेकिन निराला, नागार्जुन और त्रिलोचन तो भक्तिकाव्य से कभी उदासीन नही रहे हैं। भक्तिकाल के कवियो से उनका लगाव और उनकी कविता मे भक्तिकाव्य की गहरी प्रतिध्वनिया जग-जाहिर हैं। फिर उनकी कविता मे दिलचस्पी का दावा करने वाले भक्तिकाव्य से

उदासीन क्यो हैं ?

भक्तिकाव्य की एक विशेषता हिंदी भाषा के काव्यत्व का उत्कर्ष है। हिंदी-भाषी समाज ने लबे काल के अपने इतिहास मे व्यापक जीवन-जगत के साथ अनेक प्रकार के सबधो का अनुभव जिस भाषा मे किया है उसमे वे अनुभव अनेक रूपो मे सचित हैं। उन अनुभवो को नाम और रूप देकर सगुण-साकार बनाने की रचनात्मक प्रक्रिया से ऐसे शब्दो, मुहावरो, कहावतो, लोकोक्तियो, लोकवार्ताओ और बात कहने के विशेष ढग का विकास हुआ है जिनमे हिंदीभाषी समाज की सवेदनशीलता प्रकट हुई है और उसकी जिंदगी की सहज कविता भी। उस कविता मे जीवन की वास्तविकताओ की अनुभूतिया हैं और नई सभावनाओ की चाह भी। वह हिंदी भाषा के स्वभाव की कविता है और हिंदीभाषी समाज के स्वभाव की कविता भी। यही हिंदी का हिंदीपन है। हिंदी भाषा की इसी बुनियादी कविता का या हिंदीपन का उत्कर्ष भक्तिकाव्य मे दिखाई देता है। वैसे तो प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कवि की अपनी विशिष्ट काव्यभाषा होती है, लेकिन बडे कवि वही होते है जो अपनी भाषा के काव्यत्व को पहचानकर उसे समकालीन बनाते हुए विकसित करते हैं। हिंदी मे ऐसा उन्ही कवियो ने किया है जो भक्तिकाव्य को भूले नही है। आज के जिन कवियो की स्मृति मे भक्तिकाव्य नही है उनकी कविता मे अतर्राष्ट्रीय आधुनिकता भले ही अधिक हो, लेकिन हिंदीपन कम ही है।

समकालीनता की मारी आज की हिंदी आलोचना ने कबीर को आध्यात्म-प्रेमी विदेशियो तथा उनके देशी सहयोगियो को सौंप दिया है और तुलसीदास को 'जय श्रीराम' का नारा लगाने वाले शाखामृगो की मर्जी पर छोड दिया है। लगता है कि जायसी, सूरदास और मीराबाई की कविता ऐसे उपयोगो-दुरुपयोगो की छूट नही देती, इसलिए वे अभी बचे हुए हैं।

आलोचना की समकालीनता का एक पक्ष यह भी है कि वह अतीत की महत्त्वपूर्ण रचनाओ की वर्तमान अर्थवत्ता की खोज करे। लेकिन खोज की प्रक्रिया ऐसी हो कि रचना मे जो अर्थ अदृश्य है वह सामने आए, कालातीत की ऐतिहासिक भूमि और भूमिका प्रकट हो, कृति की पवित्र प्रतिमा मे प्रतिष्ठित चेतना का समकालीन अर्थ खुले और उसकी नई सभावनाओ की पहचान हो, ताकि वह नई चेतना के विकास का माध्यम बने, न कि पूजा की वस्तु। रामचद्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भक्तिकाव्य की व्याख्या करते हुए अपने-अपने ढग से यही काम किया है। हाल के वर्षों मे विजयदेव नारायण साही ने जायसी के पद्मावत के नए अर्थ और महत्त्व की खोज की है और विश्वनाथ त्रिपाठी ने मीरा की कविता की नई पहचान विकसित की है। आलोचना की इस समकालीनता के अनुसार केवल नया ही समकालीन नही होता। जो सार्थक है वही

समकालीन है, वह नया हो या पुराना। किसी ने ठीक ही कहा है कि 'साहित्य के स्वराज्य मे अतीत के नागरिक भी वैसे ही सक्रिय रहते है जैसे वर्तमान के।' साहित्य मे सच्ची नागरिकता रचनाओ की ही होती है, और रचनाए अतत सार्थक या निरथक होती हैं न कि नई और पुरानी।

विद्वान लोग समझते हैं कि वे ही साहित्य की आलोचना, परपरा की पहचान और सस्कृति की व्याख्या करते है। यह पूरी सच्चाई नही है। कभी-कभी विशेष ऐतिहासिक स्थितियो और सामाजिक वास्तविकताओ का सामना करती हुई जनता भी सस्कृति, परपरा और साहित्य की पहचान का विवेक विकसित करती है। वह विवेक सग्रह और त्याग की प्रक्रिया से विकल्पो के बीच चुनाव मे मदद करता है। यदि हम इस व्यापक प्रक्रिया को समझने के लिए केवल भक्तिकाव्य के साथ जनचेतना के सबध पर ध्यान दे तो भी उस प्रक्रिया का स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा। यह सब जानते है कि भक्ति-आदोलन केवल कविता का आदोलन नही है। वह एक अखिल भारतीय समग्र सास्कृतिक आदोलन है जिसका पहले की सस्कृति, परपरा और कविता से गहरा सबध है और बाद की सस्कृति, परपरा और कविता के विकास मे उसकी महत्त्वपूण भूमिका है। भक्तिकाल की कविता जनता के जीवन मे रमी हुई कविता है, वह परपरा है और सस्कृति भी है। इस-लिए जब इस देश की जनता के सामने ऐसी ऐतिहासिक स्थितिया और सामाजिक वास्तविकताए आती हैं जो विकल्पो के बीच चुनाव की चुनौती खडी करती है तब वह भक्ति आदोलन के कवियो की ओर देखती है। ऐसी स्थितियो मे विद्वान लोग विचारो की विदेशी सहायता से काम चला लेते हैं, लेकिन साधारण जनता तो अपने भक्त कवियो से ही कुछ आशा कर सकती है।

पिछले कुछ वर्षों मे इस देश मे अनेक जन-आदोलन हुए है। उन आदोलनो को भक्त कवियो की याद आती रही है और उनसे शक्ति भी मिलती रही है। जब महाराष्ट्र के दलितो ने वण-व्यवस्था और जातिप्रथा के विरुद्ध विद्रोह किया तब उन्हे मराठी के भक्त कवि नामदेव, एकनाथ, तुकाराम आदि से प्रेरणा और शक्ति मिली। हिंदीक्षेत्र का दलित आदोलन कबीर से प्रेरित और प्रभावित होता रहा है। यहा दलित आदोलन के विकास के साथ कबीर और रैदास की लोक-प्रियता बढी है। वैसे कबीरदास पहले से ही दलित जन समुदाय मे अधिक लोकप्रिय रहे हैं। इधर जब से साप्रदायिकता की महामारी फैली है और मस्जिद-मदिर का झगडा खडा हुआ है तब से कबीरदास का महत्त्व साधारण जनता के साथ-साथ विद्वानो की भी समझ मे आने लगा है। कबीर ऐसे कवि हैं जिन्हे किसी तरह की साप्रदायिकता और कट्टरता न तो अपना बना सकती है और न पचा सकती है। साप्रदायिकता, धार्मिक कट्टरता और अनेक दूसरी सामती रूढियो के विरुद्ध सघर्ष मे प्रेरणा का एक अक्षय स्रोत है भक्त कवियो की कविता,

इसीलिए उसमे साधारण जनता के साथ-साथ बुद्धिजीवियो की भी दिलचस्पी बढ गई है।

हिंदीक्षेत्र मे अभी सामती मूल्यो और रूढियो का जितना अधिक प्रभाव है उतना देश के किसी अन्य भाग मे शायद ही कही हो। इसलिए यहा स्त्रियो का जैसा शोषण, दमन और उत्पीडन है वैसा अन्यत्र कही नही। यहा हत्या और आत्महत्या से बचा हुआ स्त्री-जीवन आग के दरिया से गुजरने के समान है। इस पराधीनता से स्त्रियो की मुक्ति का जो आदोलन हिंदीक्षेत्र मे अब आरभ हुआ है वह मीराबाई के जीवन और काव्य के विद्रोही स्वरो को पहचान रहा है। मीरा के काव्य मे राजसत्ता पुरुषसत्ता, लोकरूढि और कुलीनता के विरुद्ध विद्रोह का स्वर जैसा प्रखर है वैसा उस काल के किसी अन्य कवि के यहा नही है। यही कारण है कि राजस्थान मे दिवराला के सतीकाड के बाद इस नृशस सामती प्रथा के विरुद्ध जो आवाज उठी और आदोलन चला उसमे मीराबाई को बार-बार याद किया गया। यह स्वाभाविक और जरूरी भी था। आज भी भारतीय नारी को गुलाम बनाए रखने मे राजसत्ता, पुरुषसत्ता, लोकरूढि और कुलकानि की बहुत बडी भूमिका है। मीरा के काव्य और जीवन से इन चारो के विरुद्ध सघष की प्रेरणा मिलती है। अभी हिंदी आलोचना मे मीराबाई के वास्तविक महत्त्व की खोज और पहचान बाकी है। अनेक आलोचक तो उन्हे भक्तिकाल के बडे कवियो मे गिनने के लिए भी तैयार नही हैं। लेकिन जब इस देश मे नारी स्वाधीनता का आदोलन पूरी तरह विकसित होगा, वह शहरो से बढकर गावो तक पहुचेगा और यहा का स्त्री-समुदाय सचमुच स्वतत्र होगा तब मीराबाई हिंदी ही नही, गुजराती जनता के बीच भी सबसे अधिक लोकप्रिय होगी। इस बात पर कम ध्यान दिया गया है कि जैसे विद्यापति हिंदीक्षत्र को बगाल से जोडते हैं वैसे ही मीराबाई गुजरात से। बगाल मे जो महत्त्व विद्यापति का है उससे अधिक गुजरात मे मीराबाई का है।

इस तरह हिंदीभाषी जनता ने अपने जीवन-सघर्ष और सामाजिक सघर्ष की प्रक्रिया मे भक्त कवियो का महत्त्व पहचाना है और उनकी कविता के सग्रह-त्याग का विवेक विकसित किया है। क्या वह विवेक तर्कयुद्ध मे लगे आलोचको के निर्णयो से कम महत्त्व का है? क्या वह आलोचको के किसी काम का नही? क्या भक्तिकाव्य सबधी आलोचनात्मक चेतना के विकास मे उस विवेक की कोई भूमिका नही है?

भक्तिकाव्य व्याख्या की समस्याए

आचार्य रामचद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह के महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक प्रयत्नो के बावजूद भक्तिकाव्य की

व्याख्या हिंदी आलोचना के लिए आज भी एक चुनौती है। इसका एक कारण भक्तिकाव्य की अपार सृजनात्मक समृद्धि है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और मीरा की कविता एक व्यापक आदोलन से जुडी हुई है, लेकिन उन सबकी कविता एक-सी नही है। उनमे से हरेक की कविता का अपना विशिष्ट रूप, रग और स्वर है। एक की कविता से निकलकर दूसरे की कविता मे प्रवेश करना लगभग कविता की दूसरी दुनिया मे पहुचना है। जो आलोचक इन कवियो की कविताओ मे केवल सामान्य एकता ढूढते रहते है वे उनकी सृजनात्मक विशिष्टताओ और विविधताओ को देख नही पाते।

भक्तिकाव्य के व्याख्याकारो के सामने एक कठिनाई और भी है। वह एक व्यापक सास्कृतिक आदोलन की देन है, जिसकी जडे अपने समय के समाज और उसके इतिहास मे बहुत दूर तक फैली हुई है। भक्तिकाव्य मे उस समय के भारतीय समाज की वास्तविकताए हैं और उनकी आलोचना भी है, सामाजिक व्यवस्थाओ के चित्र हैं और व्यवस्था के बधनो को तोडने की आकाक्षा भी है, सामती सत्ता के अनेक रूप हैं और उनके आतक के विरुद्ध निर्द्वंद्व निर्भयता भी है। उसमे कही शास्त्र की रूढियो के अस्वीकार की घोषणा है, कही लोक के बधनो की उपेक्षा का साहस है तो कही शास्त्र और लोक के बीच समन्वय का प्रयास भी है। उसमे उस काल के सामाजिक और सास्कृतिक अतर्विरोधो की अभिव्यक्ति है, कही अतर्विरोधो के बीच सघर्ष की चेतना अधिक है तो कही समन्वय की कोशिश। उस युग के वैचारिक द्वद्वो की पहचान मे प्रत्येक कवि का एक अपना पक्ष है और अन्य पक्षो का प्रतिवाद भी है।

भारतीय समाज के इतिहास, उसकी सास्कृतिक प्रक्रिया और उसके भीतर उठे भक्ति आदोलन से कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और मीरा का सबध एक जैसा नही है। इसीलिए सामाजिक अतर्विरोधो और भावात्मक वैचारिक द्वद्वो के बारे मे उनकी चिंताओ मे भी अतर है। भक्ति आदोलन और उसके काव्य की यह जटिल समग्रता उस व्याख्याकार को भटकाती है जो किसी एक कवि की सामाजिक-सास्कृतिक दृष्टि को केंद्रीय दृष्टि मानकर उसकी सापेक्षता मे अन्य कवियो का मूल्याकन करता है या एक कवि के भावबोध को दूसरे कवि के भावबोध की कसौटी बनाता है।

भक्तिकाव्य के किसी भी व्याख्याकार के सामने एक समस्या भक्ति आदोलन से इस्लाम और उससे जुडी हुई सामाजिक-सास्कृतिक प्रक्रिया के सबध की रही है। कुछ लोग भक्ति आदोलन को इस्लाम और मुसलमानी शासन की प्रतिक्रिया समझते है तो कुछ दूसरे उस पर इस्लाम का अत्यत सीमित प्रभाव मानते है। जो लोग भक्ति आदोलन को लोकजागरण का आदोलन और जनसस्कृति की अभिव्यक्ति कहते है वे भी लोकजीवन और जनसस्कृति के भीतर इस्लाम के सामाजिक

और सास्कृतिक प्रभावो को अस्वीकार नही करते । लेकिन आश्चर्य की बात है कि ऐसे सभी आलोचक भक्तिकाव्य मे उन प्रभावो की अभिव्यक्ति की उपेक्षा करते है। यह एक ऐतिहासिक वास्तविकता है कि भक्ति आदोलन के काल मे इस देश मे इस्लाम मौजूद था और भारतीय समाज मे मुसलमान केवल मौजूद ही नही थे, बल्कि शासक भी थे। विचारणीय बात यह है कि उस ऐतिहासिक वास्तविकता का कौन सा पक्ष भक्ति आदोलन के किस कवि की कविता मे किस रूप मे व्यक्त हुआ है। मीरा की कविता मे उस वास्तविकता के चिह्न बहुत कम है। तुलमीदास के यहा इस्लाम और मुसलमानो की मौजूदगी दज है और अरबी-फारसी शब्दो का प्रयोग भी है। सूरदास की कविता मे कृषि, ग्राम-प्रबध, व्यापार, शासन-व्यवस्था और दरबार आदि से जुडे चित्रो मे उस वास्तविकता के अनेक पक्ष हैं और उनके साथ अरबी-फारसी की शब्दावली भी है। ध्रुपद के साथ खयाल गायकी और रबाव तथा शहनाई आदि बाजो का उल्लेख भी है। इस तरह सूर और तुलसी की कविता मे उस नई सास्कृतिक प्रक्रिया की ओर सकेत है जो उस काल मे विकसित हो रही थी। लेकिन भारतीय जीवन मे उस वास्तविकता क व्यापक प्रसार और गहरे प्रभाव की समग्रता का जैसा बोध कबीर और जायसी के काव्य मे है, वैसा और कवियो के यहा नही। कबीर और जायसी की कविता मे उस वास्तविकता के बोध के साथ-साथ धार्मिक रूढिवाद से उपजे भेदभाव को हटाकर मानवीय स्तर पर व्यापक एकता की पहचान और प्रतिष्ठा का प्रयत्न भी है।

भक्तिकाव्य की व्याख्या से जुडी हुई दूसरी विवादास्पद समस्या निर्गुण-सगुण के सबध की है। यह सही है कि कबीर, सूर और तुलसी के काव्य मे निर्गुण-सगुण के सबध पर जितना विवाद है उससे अधिक वितडावाद आलोचको की व्याख्याओ मे है। लेकिन यह भी सच है कि कबीर, सूर और तुलसी की कविता मे निर्गुण-सगुण के सबध पर पर्याप्त विवाद है। कबीरदास निर्गुण भक्त हैं। उन्होने पुराणगोषित अवतारवाद का विरोध किया है—'दसरथ सुत सब लोक बखाना, राम नाम को मरम है आना।' सगुण मत का आधार है अवतारवाद। सूर के कृष्ण और तुलसी के राम अवतार है। उनकी सगुण लीला और चरित्र के कवि हैं सूर और तुलसी। यह सब विवादास्पद नही है। विवाद की बात यह है कि सूर और तुलसी ने निर्गुण का खडन किया है कि नही? वैसे तो कृष्ण की सगुण लीला के गायक सूरदास की कविता मे आदि से अत तक प्रेम के उल्लास से भरपूर जीवन के उत्सव का सर्वव्यापी सगीत है, जिसमे तन्मयता से हटकर किसी वाद-विवाद के लिए कोई जगह नही है, फिर भी सूर ने 'भ्रमरगीत' के उद्धव-गोपी सवाद मे ज्ञान बनाम भक्ति और निर्गुण बनाम सगुण विवाद के लिए अवसर निकाल ही लिया है। वहा तीन सौ से अधिक पदो मे योग, ज्ञान

और सबसे अधिक निर्गुण की निस्सारता पर गोपियो का धाराप्रवाह व्याख्यान है। गोपियो के भावाकुल तर्क के आगे ज्ञानी उद्धव निरुत्तर, अवाक् और पराजित दिखाई देते हैं। भ्रमरगीत के सगुण-निर्गुण-विवाद से साबित होता है कि सूरदास अपने युग के वैचारिक द्वद्वो से अलग और अनभिज्ञ कवि नही है।

सगुण-निर्गुण-विवाद मे तुलसीदास अधिक सजग हैं। वे दार्शनिक कवि हैं और भारतीय धर्म, दर्शन तथा साहित्य की विशाल परपरा के परम पडित भी। जब वे निर्गुण का खडन करते हैं तब उनके सामने निर्गुण भक्ति की पूरी परपरा रहती है

साखी सबदी दोहरा, कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगतजन, निंदहिं वेद पुरान॥

कबीरदास भी योगियो के बाह्याचार की आलोचना करते हैं, लेकिन वे गोरखनाथ को आदर के साथ याद करते हैं—'साथी गोरखनाथ ज्यू अमर भये कलिमाह।' उसके ठीक विपरीत तुलसीदास गोरखनाथ के योग को भक्तिविरोधी मानते है—'गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग।' साथ ही वे प्रेम की कहानी और आख्यान लिखने वाले सूफियो की भी आलोचना करते हैं। निर्गुण का खडन करते समय तुलसीदास प्राय कबीर को सामने रखते हैं। कबीर ने कहा था—'दसरथ सुत सब लोक बखाना, राम नाम को मरम है आना।' मानो उसे याद करते हुए 'रामचरितमानस' के 'शिव-पार्वती-सवाद' मे तुलसी ने लिखा

एक बात नहि मोहि सोहानी।
जदपि मोह बस कहेहु भवानी॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना।
जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥
कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखडी हरिपद विमुख जानहिं झूठ न साच॥

निर्गुणपथियो की इससे अधिक कठोर आलोचना और क्या हो सकती है। इसके बाद भी यदि किसी को तुलसीदास के निर्गुण-विरोध पर सदेह हो तो उससे बहस करना व्यर्थ है। तुलसीदास उन सबकी उग्र आलोचना करते है जो वेद तथा पुराण का विरोध करते हैं और श्रुतिसम्मत तथा पुराण-पोषित भक्तिपथ से अलग चलने की कोशिश करते हैं। इसके साथ ही तुलसीदास निर्गुणपथियो की कडी आलोचना के बाद दार्शनिक स्तर पर निर्गुण-सगुण के बीच एकता स्थापित करते हैं

सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

तुलसीदास जिस वैदिक और पौराणिक परपरा की रक्षा के लिए निर्गुण की आलोचना करते हैं उसमे विरोधी विचारो के साथ ऐसा व्यवहार बहुत पहले से होता आया है। उस व्यवहार के अनुसार किसी विरोधी विचार का पहले पूर्ण विरोध किया जाता है। यदि विरोध से वह नष्ट नही होता तो उसे विकृत किया जाता है। अगर वह विरोध और विकृति की प्रक्रिया को झेलते हुए जीवित रहता है तो उसके विद्रोही स्वर को दबाकर उसे आत्मसात् कर लिया जाता है। निर्गुण मत से पहले बौद्धदर्शन और लोकायत दर्शन विरोध, विकृति और समाहार की इसी पद्धति के शिकार हो चुके हैं।

स्त्री सबधी दृष्टिकोण

सामाजिक व्यवस्था और सास्कृतिक प्रक्रिया के साथ सभी भक्त कवियो का सबध एक जैसा नही है। यही कारण है कि उस युग की अनेक सामाजिक वास्त-विकताओ और स्थितियो के बारे मे उनकी राय भी एक जैसी नही है। इसका सबसे स्पष्ट प्रमाण स्त्री के बारे मे विभिन्न भक्त कवियो के विचारो मे दिखाई देता है। यद्यपि कबीर की सामाजिक चेतना अत्यत प्रखर है, लेकिन उनके स्त्री-सबधी विचारो पर उस युग की गहरी छाया है। वे कहते हैं

> नारी कूड नरक का, बिरला थामे बाग।
> कोई साधुजन ऊबरे, सब जग मुआ लाग॥

सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक विश्वास सबधी कबीर के अधिकाश विचारो से तुलसीदास असहमत है, लेकिन स्त्री के बारे मे दोनो की राय लगभग एक जैसी है। कबीर की तरह तुलसी भी स्त्री को अवगुणो की खान और बुराइयो की जड समझते है। वे यह भी कहते हैं कि पति की सेवा (चाहे पति जैसा भी हो) उसका धर्म है

> सहज अपावन नार, पति सेवत सुभगति लहै।
> जस गावत श्रुति चार, अजहू तुलसी हरिहै पिये॥

तुलसीदास स्त्री की पराधीनता की पीडा पहचानते है

> कत विधि सृजी नारि जगमाही, पराधीन सपनेहू सुख नाही।

पर साथ ही वे स्त्री की स्वतत्रता को भी खतरनाक समझते हैं—'जिमि स्वतत्र भए बिगरहि नारी', इसलिए उसे पुरुष के शासन मे रखना पसद करते हैं। कबीर और जायसी सतीप्रथा को भी महिमा-मडित करते हैं। इस तरह कबीर, जायसी और तुलसी के काव्य मे स्त्री सामती रूढियो मे जकडी हुई है। लेकिन सूरदास के काव्य मे स्त्री का सहज, स्वतत्र और तेजस्वी रूप मिलता है, जो प्रेम के अलावा लोक और वेद के किसी बधन को नही मानती। 'सूरसागर' मे केवल एक जगह सतीप्रथा का उल्लेख है। वहा भी उस प्रथा की भर्त्सना ही है और

उसके जघन्य रूप के त्रासद प्रभाव की ओर सकेत भी

देख जरनि, जड, नारि की, (रे) जरति प्रेम के सग ।
चिता न चित फीको भयो, (रे) रची जु पिय के रग ।
लोक-वेद बरजत सबै, (रे) देखत नैननि त्रास ।

स्त्री के बारे मे मीरा का दृष्टिकोण बाकी भक्त कवियो से एकदम अलग है। उनकी कविता मे एक ओर सामती समाज मे स्त्री की पराधीनता और यातना की अभिव्यक्ति है तो दूसरी ओर उस व्यवस्था के बधनो का पूरी तरह निषेध और उससे स्वतत्रता के लिए दीवानगी की हद तक सघर्ष भी है। उस युग मे एक स्त्री के लिए ऐसा सघर्ष अत्यत कठिन था। लेकिन मीरा ने अपने स्वत्व की रक्षा के लिए कठिन सघर्ष किया। वह राठौड राजकुल की बेटी और सिसोदिया राजकुल की बहू थी, जहा सतीप्रथा का चलन था। लेकिन विधवा होने के बाद मीरा कुल की रीति और लोक की रूढि के अनुसार सती नही हुई। वह लगातार लाछन, अपमान और यातना सहती हुई स्वतत्र रहकर कृष्णभक्त बनी। उन्होने निर्भय होकर भ्रामक युगधर्म और लोकभय का सामना करते हुए स्पष्ट कहा

भजन करस्या सती न होस्या मन मोह्यो घण नामी ।

उस युग मे किसी स्त्री को भक्ति भी सहज सुलभ न थी, क्योकि स्त्री को भक्त-रूप मे स्वीकार करने के लिए व्यापक समाज की कौन कहे, साधु समाज भी तैयार न था। उस काल मे मीरा के बारे मे प्रचलित विभिन्न प्रवादो से भी यही सकेत मिलता है। 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' मे वल्लभ-सप्रदाय के भक्तो का गुणगान किया गया है, लेकिन मीराबाई को उसमे बहुत बुरा-भला कहा गया है और गालिया भी दी गई है।

मीरा का जीवन और काव्य उस काल के अन्य भक्त कवियो की स्त्री-सबधी मान्यताओ का प्रतिकार है और प्रत्युत्तर भी।

मूल्याकन सबधी मतभेद

भक्ति आदोलन और उसके काव्य के स्वरूप की जटिल समग्रता का एक और रूप लोकजीवन से उसके सबध मे दिखाई देता है। भक्तिकाव्य के प्रमुख व्याख्याकारो ने उस सबध का विवेचन किया है। आचार्य शुक्ल भक्तिकाव्य को लोकधर्म की अभिव्यक्ति मानते हैं और रामविलास शर्मा उसे लोकजागरण का काव्य कहते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी लोकधर्म को भक्ति आदोलन की जन्मभूमि मानते हैं, लेकिन लोकधर्म की उनकी धारणा शुक्लजी से भिन्न है। वह शास्त्रीय धर्म के विरोध और विकल्प मे विकसित लोकधर्म है। नामवर सिंह लोकधर्म को जनसाधारण के विद्रोह की विचारधारा कहते हैं। वास्तव मे आचार्य शुक्ल के

लोकधर्म का आधार है तुलसीदास की सामाजिक-सास्कृतिक दृष्टि और आचार्य द्विवेदी के लोकधर्म के मूल मे कबीरदास की सामाजिक-सास्कृतिक दृष्टि है।

आचार्य रामचद्र शुक्ल तुलसीदास के लोकधर्म की कसौटी पर दूसरे भक्त कवियो को परखते हैं इसीलिए उन्हे 'निर्गुण धारा के सतो की बानी मे लोकधर्म की अवहेलना छिपी हुई' दिखाई देती है, सूर का 'प्रेमपक्ष लोक से न्यारा' लगता है और मीरा की प्रेमसाधना लोकमर्यादा का अतिक्रमण करने के कारण खटकती है। शुक्लजी के अनुसार, तुलसीदास ने यह पहचाना कि निर्गुण सतो के 'बचनो से जनता की चित्तवृत्ति मे घोर विकार की आशका है जिससे समाज विश्रृखल हो जाएगा, उसकी मर्यादा नष्ट हो जाएगी।' तात्पर्य यह कि जो भी पहले से चली आती हुई सामाजिक व्यवस्था और मर्यादा को बदलने की प्रेरणा देगा वह तुलसीदास और शुक्लजी के लोकधर्म का विरोधी होगा। सवाल यह है कि कैसे समाज और कैसी मर्यादा के लिए सतो की बानी खतरा बन रही थी। इसमे कोई सदेह नही है कि सामाजिक असमानता और जाति-पाति के भेदभाव पर टिकी हुई समाज-व्यवस्था और उसकी रक्षा करने वाली मर्यादाओ का विरोध निर्गुण सतो के काव्य मे है। वही तुलसीदास को असह्य लगता है और रामचद्र शुक्ल को लोकविरोधी। शुक्लजी का लोकधर्म मूलत ऐसा समाज दर्शन है जिसमे पहले से स्थापित और स्थिर सामाजिक सबधो को यथावत् बनाए रखने का आग्रह है।

भक्तिकाव्य मे जहा वर्णाश्रमवादी समाज व्यवस्था, उस व्यवस्था के पोषक शास्त्रो और उन शास्त्रो को धारण करने वाले पडितो का विरोध दिखाई देता है वहा आचार्य शुक्ल की भौंहे तन जाती हैं। ऐसा विरोध सबसे अधिक निर्गुण काव्य मे है, इसलिए उसके सामने आते ही शुक्लजी कटु हो जाते हैं। वह कटुता कही सीधे प्रकट होती है और कही व्यग्य बनकर। इसका सबसे दिलचस्प उदाहरण नामदेव के प्रसग मे दिखाई देता है। महाराष्ट्र के भक्त कवि नामदेव की कविता मे निर्गुण-सगुण की एकता है। वह एकता उनके मराठी अभगो मे है और उनकी हिंदी रचनाओ मे भी। कहा जाता है कि नामदेव पहले सगुण भक्त थे, बाद मे निर्गुण की ओर झुके। उनके सगुण से निर्गुण की ओर जाने को शुक्लजी ने अपने विशेष व्यग्यात्मक अदाज मे प्रस्तुत किया है—"नामदेव किसी गुरु से दीक्षा लेकर अपनी सगुण भक्ति मे प्रवृत्त नही हुए थे। अपने ही हृदय की स्वाभाविक प्रेरणा से हुए थे। ज्ञानदेव उन्हें बराबर 'बिन गुरु होहिं न ज्ञान' समझाते आते थे। अत मे बेचारे नामदेव ने नागनाथ नामक शिव के स्थान पर जाकर बिसोबा खेचर या खेचरनाथ नामक एक नाथपथी कनफटे से दीक्षा ली।" शुक्लजी का सकेत स्पष्ट है—नामदेव सगुण भक्त हुए थे अपने ही हृदय की प्रेरणा से लेकिन निर्गुण बने दूसरो के कहने पर। सगुण होना स्वाभाविक प्रक्रिया

है, लेकिन निर्गुण होना पतन है, इसलिए निर्गुण की ओर झुकने वाले नामदेव 'बेचारे' हो गए ।

शुक्लजी ने अपने इतिहास मे नामदेव की सगुण और निर्गुण दोनो तरह की कविताओ को उद्धृत किया है, पहले सगुण के पद, बाद मे निर्गुण के । सगुण लीला के पदो को उद्धृत करने के बाद उन्होने लिखा है—"यह तो हुई नामदेव की व्यक्तोपासना सबधी हृदयप्रेरित रचना ।" फिर बाद के निर्गुण पदो को लक्ष्य करके लिखा है—"आगे गुरु से सीखे हुए ज्ञान की उद्धरणी अर्थात् 'निर्गुन बानी' भी कुछ देखिए ।" इस व्यग्य-बाण का लक्ष्य केवल नामदेव की निर्गुण कविता ही नही है, कबीर की कविता भी है, बल्कि पूरी निर्गुण कविता है । अभिप्राय यह है कि निर्गुण कविता मे न हृदय की प्रेरणा होती है, न बुद्धि की साधना । फिर वह कविता कैसे होगी । आलोचना-बुद्धि का चमत्कार देखिए कि नामदेव की सगुण सबधी कविता तो 'हृदय प्रेरित रचना' है लेकिन उन्ही की निर्गुण कविता 'सीखे हुए ज्ञान की उद्धरणी' मात्र ! क्या आलोचना के इस चमत्कार के मूल मे निर्गुण कविता के प्रति गहरा तिरस्कार नही है ?

नामदेव और कबीर की कविता मे काफी समानता है । उन दोनो की धार्मिक भावना और सामाजिक चेतना मे भी बहुत दूर तक एकता है । इस एकता का बोध कबीर को भी था, तभी उन्होंने नामदेव को अत्यत आदर के साथ याद किया है । भारतीय समाज मे हिंदुओ और मुसलमानो के बीच एकता स्थापित करने के लिए कबीर ने जिस भक्तिमार्ग का विकास किया, उसके मार्ग-दर्शक नामदेव थे । नामदेव की मराठी और हिंदी कविता मे उस एकता की भावना अत्यत गहरी है । यहा तक कि उनकी कृष्णलीला के चीरहरण-प्रसग मे एक मुसलमान गोपी भी शामिल है । हिंदू-मुसलमान एकता की ऐसी अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति का साहस किसी दूसरे भक्त कवि की कविता मे शायद ही मिले । नामदेव की निर्गुण कविता के प्रसग मे आचार्य शुक्ल के आक्रामक व्यग्य को देखकर यह अनुमान करना कठिन नही है कि यदि कृष्णलीला मे एक मुसलमान गोपी को शामिल करने वाली कविता उनके सामने होती तो वे कैसी प्रतिक्रिया करते ।

भक्तिकाव्य और लोकधर्म

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के भक्ति आदोलन सबधी विचारो की व्याख्या करते हुए नामवर सिंह ने लिखा है कि "मध्यकाल मे मुख्य अतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच द्वद्व का है ।" भक्ति आदोलन शास्त्रीय धर्म का विरोध करने वाले लोकधर्म के उत्थान का आदोलन है । उस लोकधर्म मे उस युग के किसानो और दस्तकारों के विविध वर्गों-उपवर्गों की मिली-जुली भावनाओ की अभिव्यक्ति है

और दमनकारी सामाजिक व्यवस्था तथा सास्कृतिक मूल्यो के विरुद्ध विद्रोह की चेतना है। वही लोकधर्म कबीर और दूसरे सतो के काव्य का मुख्य प्रेरणास्रोत है। यह सब ठीक है। लेकिन जब नामवर सिंह कहते है कि "सामान्यजन मे प्रचलित टोना, टोटका, तत्र-मत्र, मिथक आदि विश्वासो को ही वे (हजारीप्रसाद द्विवेदी) लोकधर्म मानते हैं" तब बात उलझ जाती है। अगर यही सब लोकधर्म है तो रूढि और अधविश्वास किसे कहेगे ? क्या कबीर के काव्य मे कही भी इन सबका समर्थन और स्वीकार है ? कबीर की दृष्टि मे यह सब लोकधर्म नही, लोक मे प्रचलित अपधर्म है।

कबीर शास्त्रीय धर्म की बार-बार आलोचना करते हैं, वह चाहे वेद-पुराण के सहारे चलने वाला हो या कुरान के सहारे, उस पर पडितो-पुरोहितो का प्रभुत्व हो या मुल्लाओ-मौलवियो का कब्जा। लेकिन कबीर यह भी जानते हैं कि समाज मे लोकधर्म के नाम पर वह भ्रमजाल भी फैला होता है, जिसे लोकाचार कहा जाता है। वह कई बार शास्त्रोक्त व्यवहार होता है। इसीलिए कबीर लोकाचार की भी आलोचना करते हैं

ताथैं कहिये लोकोचार, वेद कतेब कथैं व्यौहार ॥

वे आख मूदकर सामान्यजन मे प्रचलित विश्वासो को स्वीकार नही करते, उन्हे सजग आलोचनात्मक दृष्टि से देखते हैं। कबीर के सामने यह लोकविश्वास था कि जो काशी मे मरेगा वह मोक्ष पाएगा और मगहर मे मरने वाला अगले जन्म मे गदहा होगा। इस लोकविश्वास को मानने का अर्थ था भक्ति का निरादर। कबीर ने स्पष्ट शब्दो मे इस लोकविश्वास का खडन किया है। वे कहते हैं

लोकामति के भोरा रे।
जो कासी तन तजै कबीरा, तो रामहि कहा निहोरा रे ॥

× × ×

कहै कबीर सुनहु रे सतो भ्रमि परे जिमि कोई रे।
जस कासी तस मगहर ऊसर हिरदै राम सति होई रे ॥

कबीर यह नही मानते कि लोक मे धर्म के नाम पर जो कुछ है वह सब विवेक-सम्मत है। अधविश्वास और रूढियो का चलन भी लोक मे ही होता है। उनका आत्मविश्वास न तो शास्त्र की रूढियो को स्वीकार करता है और न लोक-प्रचलित अधविश्वासो को। प्राय जिसे लोकधर्म कहा जाता है उसमे बहुत कुछ ऐसा भी होता है जिसे कबीर लोकभ्रम मानते हैं

लोका जानि न भूलौ भाई।

कबीर शास्त्रीय ज्ञान के बोझ से मुक्त हैं। वे लोक के व्यापक अनुभव से शास्त्रीय ज्ञान की सामाजिक भूमिका भी पहचानते हैं, इसीलिए वेद और कुरान को कभी झूठ का बाना, कभी प्रपच, कभी फदा और कही लोक को भरमाने का

साधन कहते हैं। वे लोक के अनुभव से यह भी जानते है कि समाज मे बहुत-सी भ्रामक मान्यताए और रूढिया वेद और कुरान के नाम पर प्रचलित हैं। पुरोहितो और मौलवियो के लिए वेद तथा कुरान सामाजिक-धार्मिक रूढिवाद के जाल को अधिक कठोर और मजबूत बनाने के पवित्र स्रोत रहे है। इसीलिए कबीर लोक मे प्रचलित धार्मिक रूढिवाद के साथ-साथ उसके मूल स्रोतो पर भी आक्रमण करते है। यही नही, वे एक कदम आगे बढकर जीवन के अनुभव और उस अनुभव से पाए सत्य को शास्त्र और उसके सत्य से अधिक प्रामाणिक मानते हैं, 'तू कहता कागद की लेखी, मै कहता आखिन की देखी।' कबीर जिस 'अनभै साचा' को लेकर शास्त्र के सामने खडे होते है उसी के सहारे वे लोकभ्रम के भय का भी सामना करते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "अनभै साचा अनुभव सत्य है और अनभय सत्य भी।" जीवन के विभिन्न प्रसगो मे सत्य का अनुभव तो बहुतो को होता है, लेकिन उसे कभी शास्त्र के भय और कभी लोक के डर से कहने का साहस नही होता। बिरला ही कोई निर्भय होकर अपने अनुभव का सच कहता है। वही कबीर होता है, कल, आज और कल भी।

वेदात के अनुसार सत्य के दो रूप हैं—पारमार्थिक और लौकिक। आध्यात्मिक स्तर पर सभी आत्माओ की पवित्रता और एकता पारमार्थिक सत्य है, लेकिन समाज मे अमीर-गरीब, ऊच-नीच, जाति-पाति आदि का भेद व्यावहारिक या लौकिक सत्य है। सत्य के इन दोनो रूपो की समानातर सत्ता बनाए रखना शास्त्रीय धर्म का मुख्य लक्ष्य रहा है। कबीरदास ऐसे शास्त्रीय धर्म और उसके अनुगामी लोकधर्म दोनो का विरोध करते हैं। वे पारमार्थिक और लौकिक सत्य के बीच के अतर को अस्वीकार करते हैं, आत्मा की माग और जीवन की वास्तविकताओ के बीच की दरार को पाटना चाहते है, इसीलिए आध्यात्मिक क्षेत्र की समानता और एकता की भावना को मनुष्यो के बीच सामाजिक समानता और एकता के रूप मे चरितार्थ करने का आग्रह करते हैं।

भक्तिकाल के लोकधर्म को लेकर आलोचना मे जो धर्मयुद्ध चला है उसमे शास्त्रीय धर्म से लोकधर्म के द्वद्व की पहचान हुई है, लेकिन लोकधर्म के आतरिक द्वद्व की उपेक्षा हुई है। कबीर और दूसरे सत कवि शास्त्रमत (जिसे वे प्राय वेदमत कहते हैं) और उससे प्रभावित लोकमत की आलोचना करते हुए एक नई नैतिक चेतना और विश्वदृष्टि विकसित करते है, जिसे वे प्राय साधुमत कहते हैं।

एतोनियो ग्राम्शी ने लोकमत का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि लोकमत अनुभवाश्रित, यथार्थपरक, समयसापेक्ष और भौतिकतावादी होता है। उसमे भोलापन, सहजता और भावावेग की प्रधानता होती है। किसी भी समाज मे एक ही समय मे विभिन्न जनसमुदाओ के अनुभव से जुडे अनेक लोकमत हो सकते

हैं। लोकमत मे जिंदगी की सच्चाई होती है, लेकिन उसे सामाजिक सत्य का निभ्रांत स्रोत समझना सही नही है । ग्राम्शी ने यह लिखा है कि धर्म लोकमत का महत्त्वपूर्ण अग है, लेकिन लोकमत केवल लोकधम नही है । प्राय जिसे लोकमत कहा जाता है उसमे शास्त्रीय धर्म का प्रभाव होता हैं और वह नवीनता का विरोधी भी होता है । ग्राम्शी के विश्लेषण से स्पष्ट है कि लोकमत को यथावत् स्वीकार करना या उसे महिमामडित करना उसके अतर्विरोधो की उपेक्षा करना है ।

भक्ति आदोलन के साथ जो नया लोकधर्म विकसित हुआ, वह सभी कवियो के यहा एक जैसा नही है। दूसरी भारतीय भाषाओ के भक्तिकाव्य के लोकधर्म की स्थानीय विशेषताओ को छोड दे और केवल हिंदी के भक्तिकाव्य को देखें तो भी यह समझना बहुत कठिन न होगा कि कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और मीरा के लोकधर्म रूप एक-सा नही है । वैसे जब शास्त्रबद्ध और सघबद्ध धर्म भी आरोपित एकता के बावजूद समाज के सभी वर्गों और समुदायो के बीच समान अर्थ और रूप मे माना नही जाता तब किसानो, कारीगरो, पडितो और स्त्रियो का लोकधर्म एक कैसे होगा । भक्ति आदोलन के प्रत्येक कवि के लोकधर्म का रूप उसकी विश्वदृष्टि के अनुरूप है और कवि की विश्वदृष्टि पर उस वर्ग या समुदाय की जिंदगी की वास्तविकताओ और आकाक्षाओ की छाप है, जिसका वह सदस्य है । वही विश्वदृष्टि प्रत्येक कवि की भक्तिभावना, सामाजिक चेतना और काव्यरचना के विशिष्ट स्वरूप का निर्माण करती है।

कबीर जिस लोकधर्म का विकास कर रहे थे उसका मुख्य लक्ष्य है मानुष सत्य या मनुष्यत्व का विकास । आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "कबीर ने मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता मे आत्म-गौरव का भाव जगाया।"मनुष्यत्व की भावना को ही आगे रखकर कबीर एक ओर हिंदू समाज के जातिभेद, धार्मिक रूढिवाद, अधविश्वास आदि की आलोचना करते है तो दूसरी ओर मुसलमान समुदाय के धार्मिक बाह्याचार और रस्मो-रिवाज की बखिया उधेडते हैं । यह आलोचना जनता को जगाने वाली है और रूढवादियो को चिढाने वाली । साथ ही यह आलोचना जनता के मन से शास्त्र के भय और सामाजिक रूढिवाद के भ्रम को दूर करके उसमे मनुष्यत्व की भावना जगाने वाली है।

कबीर की एक बडी विशेषता प्रश्न करने की प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति कबीर मे जितनी प्रखर है उतनी उस काल के किसी अन्य कवि मे नही है । उस समय के समाज, उसकी व्यवस्था और उसके धर्म का कोई भी पक्ष कबीर के प्रश्नो से बच नही पाया है । वे सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक आस्था की रूढियों को प्रश्नो के कठघरे मे लाकर सवाल-दर-सवाल करते हुए उनके अतर्विरोधो को

खोलते हैं। उनके प्रश्न उस युग की नैतिक मान्यताओ को चुनौती देते हैं और नई नैतिक दृष्टि की जरूरत का अहसास जगाते है। उन सवालो की कौध लोगो के दिमाग पर छाए भ्रामक विश्वासो के कोहरे को छिन्न-भिन्न करने वाली है। कबीर के प्रश्न जितने सरल और बेलाग हैं, उतने ही तीखे और तिलमिला देने वाले भी हैं। वे कभी-कभी सुकरात की तरह अज्ञानी बनकर प्रश्न करते है और ज्ञानियो की पोल खोल देते है। प्रश्न की प्रवृत्ति ही कबीर की कविता मे व्यग्य को विशिष्ट सामाजिक कला बनाती है। वही प्रवृत्ति पाठको को प्रश्न पूछने की प्रेरणा और निर्भिक दृष्टि भी देती है। कबीर और तुलसी की कविता मे एक अतर यह है कि कबीर की कविता प्रश्न पैदा करती है, जबकि तुलसी की कविता उत्तर देने वाली है।

कबीरदास अगर केवल आलोचना और प्रश्न करने तक सीमित रहते तो वे अधिक से अधिक असहमति और विरोध के कवि होते, जैसा कि कुछ लोग कहते है। लेकिन वे केवल असहमति और विरोध के कवि नही है। उनकी सामाजिक सजगता असहमति और विरोध से आगे बढकर समाज मे मनुष्यत्व की भावना को विकसित करने और मानुष-सत्य को प्रतिष्ठित करने के लक्ष्य को सामने रखती है। आलोचना और प्रश्न की प्रवृत्ति तो उस बडे लक्ष्य की राह बनाने मे सहायक मात्र है। कबीर मनुष्यत्व की भावना के विकास के लिए मनुष्य के हृदय के धर्म अर्थात् मानवीय भावो और उनसे विकसित मानवीय गुणो को लोकधर्म का आधार बनाते हैं। समाज मे मानवीय भावो और मानवोचित गुणो के प्रसार के लिए मनुष्य-विरोधी भावो को हटाना आवश्यक होता है, इसीलिए कबीर ईर्ष्या, क्रूरता, कामुकता, कपट, अहकार, पाखड आदि की आलोचना करते हैं और प्रेम, करुणा, दया, उदारता, अहिंसा, समता आदि मानवीय भावो और गुणो को लोकधर्म बनाने पर जोर देते हैं। वे यह भी चाहते हैं कि इन मानवीय भावो, विचारो और गुणो के अनुरूप आचरण मनुष्य स्वय करे, न कि उसके लिए कोई अवतारी राम या कृष्ण। गौतम बुद्ध की तरह कबीर भी मनुष्य से यही कहते है कि अपना दीपक स्वय बनो।

कबीर के लोकधर्म मे व्यक्ति के आध्यात्मिक उत्कर्ष से अधिक महत्त्वपूर्ण है समाज मे मनुष्यत्व का जागरण। भक्ति-दर्शन के अनुसार भक्ति के क्षेत्र मे अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र आदि का भेद नही होता। कबीर इस अध्यात्मिक सत्य को सामाजिक सत्य बनाते हैं और एक समतामूलक मानवीय समाज के निर्माण की माग करते है। ऐसी माग वे ही कर सकते थे, क्योकि वे समाज के उस हिस्से से आए थे जिसके जीवन मे सामाजिक विषमता की लगातार मार की पीडा ही सबसे बडी सच्चाई थी। इसीलिए वे सामाजिक समता को लोकधर्म

का सबसे बडा मूल्य मानते हैं। तुलसीदास भी भक्ति के क्षेत्र मे ऊच-नीच, जाति-पाति, स्त्री-पुरुष का भेद नही मानते, लेकिन राम की भक्ति के क्षेत्र मे ही, सामाजिक जीवन मे नही, यहा तक कि रामराज्य मे भी नही। वे भक्त समुदाय के बाहर व्यापक समाज मे वर्णाश्रम व्यवस्था को ही आदर्श मानते हैं। यद्यपि उन्हे जीवन मे गरीबी के दुख का अनुभव था—'नहि दरिद्र सम दुख जग माही।' साथ ही वे वर्णव्यवस्था के उत्पीडन से भी परिचित थे, इसीलिए खीझकर लिखा—'धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ'। फिर भी अतत वे काल्पनिक आदर्श वर्णव्यवस्था को ही लोकधर्म के रूप मे समाज मे स्थापित करना चाहते है।

कबीर की कविता का लोक और उसका धम दूसरे भक्त कवियो से अलग है, क्योकि उनके जीवन का अनुभवलोक भी दूसरो से भिन्न है। कबीर बार-बार कहते है—'मैं जुलाहा, मैं जुलाहा।' उनकी कविता का तानाबाना भी कहता है कि वह एक बुनकर की कविता है। उस कविता का पूरा लोक एक जुलाहे के जीवन-यथाथ के अनुभवो और आकाक्षाओ से बुना हुआ है। यहा तक कि उनकी भक्ति-भावना का रहस्यलोक भी उन्ही अनुभवो और आकाक्षाओ से बना है। कबीर की कविता और भक्ति के इस स्वरूप को किसी आलोचक ने भले ही न पहचाना हो, लेकिन उनके समानधर्मा जायसी ने जरूर पहचाना और लिखा

ना नारद तब रोइ पुकारा। एक जोलाहे सौ मैं हारा।।
प्रेम ततु नित ताना तनई। जप तप साधि सैंकरा भरई।।

कबीर प्रत्येक लौकिक और अलौकिक वस्तु को जुलाहे की नजर से देखते हैं। उनके लिए ईश्वर भी एक बुनकर ही है और उसकी यह दुनिया तथा मानव काया—'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' है। वे अपने जीवनानुभवो का ताना तनकर उसमे भक्ति का बाना बुनते हैं

हरि मोर रहँटा मैं रतन पिउरिया।
हरि को नाम लै कातल बहुरिया।
छ मास ताग बरस दिन कुकुरी।
लोग बोले भल कातल बपुरी।।
कहै कबीर सूत भल काता।
रहँटा न होय मुक्ति कर दाता।।

चरखा कबीर के लिए जीवनयापन का साधन है और पूजा की वस्तु भी। उनकी दृष्टि मे जीवन के कर्म से धर्म अलग नही है। उनके कवि-कर्म और जीवन-कर्म मे अद्भुत एकता है। कारीगर कबीर के जीवन की कला ही उनकी कविता की कला बन गई।

तुलसीदास का कवि-स्वभाव कबीर से एकदम भिन्न है। वे 'नाना पुराण

निगम आगम' के पडित है और सस्कृत काव्य की विशाल परपरा के मर्मज्ञ भी। शास्त्र मत या वेद-मत उनकी काव्यदृष्टि का अनिवार्य अग है। साथ ही वे उस समय के समाज मे प्रचलित विभिन्न धार्मिक मतो से परिचित है और लोकमन को अच्छी तरह पहचानते भी हैं। वे एक कुशल कथावाचक की तरह नए-नए सवादो और प्रसगो को रचते हुए अपने युग के वैचारिक द्वद्वो को समेटने की कला मे अत्यत निपुण हैं। इसी कला के सहारे वे पुराणो, स्मृतियो आदि की मान्यताओ को लोकभाषा के माध्यम से लोकमन मे प्रतिष्ठित करते है। 'रामचरितमानस' के सस्कृत स्रोतो पर ध्यान दें तो स्पष्ट होगा कि वह कविता मे अनुवाद की कला का अनन्य उदाहरण है। आजकल आलोचना की एक प्रवृत्ति पाठो की अतर्व्याप्ति की खोज पर जोर देती है। उसके लिए 'रामचरितमानस' से बेहतर पाठ शायद ही मिले। तुलसीदास की कविता मे सामाजिक और धार्मिक स्तर पर समन्वय की चिंता अधिक है। वे जिस तरह 'रामचरितमानस' के आरभ, अत और बीच मे जगह-जगह सस्कृत मे वदना और प्रार्थना लिखकर लोकभाषा से सस्कृत का समन्वय करते है, वैसे ही लोकमत से वेदमत का। इस प्रक्रिया से वे एक ओर वैदिक-पौराणिक परपरा के लिए लोकमत मे जगह बनाते है तो दूसरी ओर उस परपरा मे और लोकमन मे भी अपनी जगह सुनिश्चित करते है। यह तुलसीदास के काव्य का एक पक्ष है।

तुलसी के काव्य का दूसरा पक्ष वह है जिसके आगे-पीछे कोई शास्त्र नही है। वहा लोकजीवन का व्यापक अनुभव है, उनका अपना चिंतन है और गहरी सहृदयता है। यह सब 'रामचरितमानस' मे भी है, विशेषत उसके मानवीय सबधो के चित्रण, कथा के रचना-विधान और काव्यभाषा की बनावट मे। परतु उनकी गभीर चिंतनशीलता और सहृदयता के एक से बढकर एक उदाहरण 'विनय-पत्रिका' मे मिलते है। 'विनयपत्रिका' मे उनका निश्छल आत्मनिवेदन दूसरे भक्त कवियो के आत्मनिवेदन से भिन्न नही है। 'कवितावली' के आत्मकथात्मक छदो मे अपने जीवन और समाज के कठोर सच को सीधे कहने की तत्परता है तो दूसरे अनेक छदो मे उस समय के समाज के यथार्थ का मर्मस्पर्शी चित्रण भी है। उन्होने समाज मे फैली गरीबी, भुखमरी, अकाल और महामारी के त्रासद यथार्थ का जो चित्रण किया है उसमे उनकी जनजीवन से गहरी आत्मीयता और व्यापक करुणा व्यक्त हुई है। तुलसीदास के काव्य का यह पक्ष शास्त्रमत से मुक्त एव लोक अनुभव से प्रेरित है।

भक्तिकाव्य मे प्रेम-भावना

कबीर जिन मानवीय भावो को लोकधर्म का आधार बनाकर समाज मे मनुष्यत्व की भावना का विकास करना चाहते थे, उनमे सबमे अधिक व्यापक और गभीर

भाव है प्रेम। वही भक्ति का मूलभाव है और सपूर्ण भक्तिकाव्य का केंद्रीय भाव भी। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि "भक्तिमार्ग शुद्ध भावमार्ग या प्रेममार्ग है। उसका आधार मनुष्य की सहज रागात्मिकावृत्ति है। उसकी पद्धति वह प्रेम-पद्धति है जिसे सब लोग स्वभावत जानते हैं।"

तात्पर्य यह कि भक्तिकाव्य के प्रेम के मूल मे लौकिक अनुभव है। भक्त कवियो ने प्रेममार्ग की जिन बाधाओ का वर्णन किया है वे भी लोकजीवन मे प्रेम की अनुभूति की बाधाए है। जैसे सामाजिक जीवन मे प्रेम की अनुभूति शास्त्र और लोक की रूढियो से स्वतत्र होना चाहती है वैसे ही जायसी, सूर और मीरा की प्रेमानुभूति विधि-निषेध से स्वतत्र है। वह शास्त्र के भ्रम और लोक के भय से मुक्त मानवीयता के विकास मे सहायक है। भारतीय समाज मे इस प्रेम का विशेष महत्त्व यह है कि वह कर्मवाद की मान्यताओ का निषेध करता है।

भक्तिकाव्य का प्रेम भक्ति आदोलन की विभिन्न धाराओ को आपस मे मिलाता है। वह वैष्णवो को सूफियो से और निर्गुण सतो को सगुण भक्तो से जोडता है। कही वह सामाजिक मूल्य है तो कही सामाजिक कर्तव्य। लेकिन उसका सबसे उत्कट और आवेगमय रूप स्त्री-पुरुष के प्रेम मे मिलता है, इसलिए माधुर्य भाव भक्ति की अनुभूति का आदर्श है।

कबीर की कविता मे प्रेम एक सामाजिक मूल्य भी है, परतु उनकी भक्ति की साद्रता वही प्रकट हुई है जहा माधुर्य भाव के अतर्गत प्रियतम से मिलन की आकाक्षा, मिलन की सभावना का सुख और विरह की व्याकुलता व्यजित हुई है। कबीर प्रेम की अनुभूति को जब भारतीय स्त्री के पारिवारिक परिवेश और उसमे पलने वाले मानवीय सबधो की भाषा मे व्यक्त करते है तब वह अधिक मूर्त और सवेद्य होती है। वह प्रेमानुभूति कही-कही रहस्यमयी लगती हुई भी भारतीय स्त्री की पारिवारिक जिंदगी की अनुभूतियो को ही प्रतिबिंबित करती है। वैसे लौकिक प्रेम की अनुभूति भी पूरी तरह रहस्य-रहित नही होती।

जायसी प्रेम के कवि के रूप मे विख्यात हैं। उनके अनुसार ससार मे प्रेम से अधिक सुदर और काम्य कुछ भी नही है। प्रेम ही मनुष्य के जीवन का चरम मूल्य है, जिसे पाकर मनुष्य बैकुठी होता है, अन्यथा वह एक मुट्ठी राख नही तो और क्या है—'मानुष प्रेम भएउ बैकुठी, नाही त काह छार भरि मुट्ठी।' यही प्रेम जायसी की कविता का प्रेरक है। उनकी कविता का लक्ष्य भी प्रेम ही है। उनको विश्वास है कि उनकी कविता पाठक के मन मे प्रेम की पीर अवश्य पैदा करेगी—'मुहम्मद कवि यह जोरि सुनावा, सुना सो पीर प्रेम कर पावा।' जायसी यह भी मानते हैं कि प्रेम केवल उन्ही की कविता का लक्ष्य नही है, बल्कि ससार की सभी भाषाओ की कविता मे जहा प्रेम है वही मनुष्य का मन लगता है

तुरकी अरबी हिदुई, भाषा जेती आहि।
जेहि महँ मारग प्रेमकर, सबै सराहै ताहि ।।

जायसी की दृष्टि मे प्रेम अत्यत गूढ और अथाह है । जाहिर है, ऐस प्रेम की कविता लिखना भी आसान नही होगा । दूसरे कवि अधिक-से-अधिक आसुओ से प्रेम की कविता लिखते हैं, लेकिन जायसी ने आखो से टपकने वाले लहू से प्रेम की कविता लिखी है •

जोरी लाइ रकत कै लेई, गाढि प्रीति नयनन्ह जल भेई।
ओ मैं जानि गीत अस कीन्हा, मकु यह रहै जगत महँ चिन्हा ।।

'पद्मावत' मे प्रेम की प्रधानता निर्विवाद है, परतु उस प्रेम के स्वरूप के बारे मे मतभेद है। विवाद का विषय यह है कि वह प्रेम मूलत लौकिक है या अलौकिक । जो आलोचक जायसी को सूफी कवि सिद्ध करते हैं वे 'पद्मावत' मे प्रत्येक स्तर पर सूफीमत की खोज करते हुए उसके प्रेम को अलौकिक, आध्यात्मिक और रहस्यवादी कहते हैं। आचार्य रामचद्र शुक्ल 'पद्मावत' को सूफी काव्य मानते हैं और उसके प्रेम को अलौकिक, आध्यात्मिक और एकातिक कहते हैं, लेकिन वे 'पद्मावत' मे जगह-जगह लौकिक प्रेम का उत्कर्ष देखते हैं । विजयदेव नारायण साही ने 'पद्मावत' मे शुद्ध कविता की खोज की है। उन्होने लिखा है कि जायसी ऐसे कवि है जिसे बैंकुठी प्रेम की तलाश नही है, जो ऐसा प्रेम चाहता है जो प्रेम करने वाले मनुष्य को ही बैंकुठी बना दे ।

जायसी की कविता का आधार है लोकजीवन का व्यापक अनुभव । 'पद्मावत' की भाषा की बनावट और मुहावरो मे लोकजीवन के अनुभवो की अनुगूज से सब परिचित हैं। उसी अनुभव से जायसी को वह प्रेमगाथा मिली है, जो 'पद्मावत' की कथा बन गई है । लोककथा की एक विशेषता यह है कि उसमे लौकिक से अलौकिक की सहज एकता होती है। यही स्थिति 'पद्मावत' की कथा मे भी है। 'पद्मावत' की सरचना मे लोकगीतो की भावभूमि और सवादधर्मिता जगह-जगह मौजूद है। लोकगीतो की भावभूमि और सवादधर्मी कल्पना का एक रूप सखियो के साथ पद्मावती की जलक्रीडा और बातचीत मे दिखाई देता है तो दूसरा नागमति के विरह-वर्णन मे। लोकगीतो की प्रश्नोत्तरी शैली और सगीतमयता पूरे 'पद्मावत' मे व्याप्त है । जायसी ने पद्मावत को गीत कहकर लोकगीत से आत्मीय सबध की ओर ही सकेत किया है।

'पद्मावत' का अतर्लोक भी लोक अनुभवो से भरा हुआ है। यहा तक कि उसके काल्पनिक रहस्यलोक अर्थात् सिंहलद्वीप मे भी बहुत कुछ वैसा ही है जैसा जायसी के समय के समाज मे था। उदाहरण के लिए कोई चाहे तो सिंहलद्वीप के बाजार का वर्णन पढ सकता है। 'पद्मावत' का रहस्यलोक कवि के लोक अनुभव का ही प्रतिबिंब है । उस रहस्यलोक मे कवि जहा भी जीवन के यथार्थ

की सीमाओ को लाघकर मानवीय आकाक्षा की सभावनाओ की ओर सकेत करता है वही अपार्थिव और अलौकिक की झलक मिलती है। 'पद्मावत' मे कही-कही अलौकिकता के आभास का यही रहस्य है। उसके पात्रो का स्वभाव और व्यवहार भी प्राय मानवोचित ही है। पद्मावती के रूप, स्वभाव और व्यवहार मे कही-कही असाधारणता जरूर आती है, लेकिन वह प्रेमिका, पत्नी और सौत के रूप मे अधिकतर साधारण स्त्री की तरह व्यवहार करती है। यही स्थिति रत्नसेन तथा नागमती की है। 'पद्मावत' का प्रेम असाधारण जरूर है, लेकिन अलौकिक नही।

यदि एक ओर 'पद्मावत' को सूफी सिद्धात का दृष्टात काव्य मान लेना गलत है तो दूसरी ओर जायसी की कविदृष्टि के सूफियाना अदाज को अस्वीकार करना भी सही नही है। जो लोग जायसी को शुद्ध सूफी सत सिद्ध करना चाहते है वे 'पद्मावत' के लौकिक और मानवीय पक्षो की उपेक्षा करके केवल आध्यात्म और अलौकिक की खोज करना चाहते हैं और जो उन्हे शुद्ध कवि साबित करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' भी जायसी की ही रचनाए हैं। इस प्रसग मे एक गलती तब होती है जब सूफीमत की परवर्ती परिणति को ध्यान मे रखकर 'पद्मावत' की व्याख्या की जाती है।

मध्यकाल के दार्शनिको, कलाकारो और कवियो की विश्वदृष्टि के निर्माण मे धर्म की लगभग वही भूमिका रही है जो आधुनिक युग मे राजनीति की है। उस युग मे जीवन-जगत की धार्मिक परिभाषा सर्वोपरि थी। जीवन की वास्तविकताओ और आकाक्षाओ का अर्थ धर्म की भाषा मे ही समझना-समझाना सुगम था। उस युग का कोई कवि धर्म की सर्वाश्लेषी भाषा का सामना करने से कैसे बच सकता था। भक्तिकाल के कवियो ने पहले से चली आती धार्मिक भाषा के बदले लोकजीवन की भाषा को विकसित किया। यही प्रयत्न जायसी के काव्य मे भी है। जायसी की विश्वदृष्टि का सूफी स्वभाव उनकी कविदृष्टि को लोकजीवन के करीब ले जाता है, क्योकि सूफीमत मूलत लोकधर्म है। आरभ से ही सूफी कवियो ने लोकप्रचलित प्रेम-कथाओ को काव्यरचना का आधार बनाया और अपने क्षेत्र की बोली मे कविता लिखी। जनसस्कृति के विकास मे सूफियो का यह योगदान अविस्मरणीय है।

जायसी की दृष्टि मे मानव-जीवन का सच्चा मार्गदर्शक प्रेम है, धार्मिक कट्टरता नही। 'पद्मावत' मे पद्मिनी को पाने की इच्छा रत्नसेन के मन मे है और अलाउद्दीन के मन मे भी। रत्नसेन सत्ता और शक्ति को पीछे छोडकर केवल प्रेम के सहारे पद्मिनी को पाने का प्रयत्न करता है और सफल होता है। अलाउद्दीन पद्मिनी के लिए चित्तौड पर चढाई करता है। उसके पास प्रेम के सिवा सब कुछ है—सत्ता, शक्ति और साथ मे धार्मिक उन्माद भी। उसके

अभियान का अत यह है

जौहर भईं सब इस्तरी, पुरुष भए सग्राम ।
बादशाह गढ चूरा, चितउर भा इस्लाम ।।

चित्तौड पर अलाउद्दीन और इस्लाम का कब्जा हुआ, लेकिन किस कीमत पर ? वहा जो कुछ सुदर, कोमल और काम्य था, उसे जलाकर ! इस जीत से बडी इन्सानियत की हार और क्या होगी ! जायसी का सकेत स्पष्ट है कि धार्मिक कट्टरता भयकर होती है, यदि वह सत्ता से जुडी हो तो और भी विनाशकारी होती है। सत्ता, शक्ति और धार्मिक उन्माद के बावजूद प्रेम के अभाव मे अलाउद्दीन को पद्मिनी नही मिली, उसकी चिता की राख मिली और उस राख से ढककर झूठी पडी पृथ्वी पर व्यर्थता की जीत हाथ लगी । जायसी की दृष्टि मे अलाउद्दीन की चाह मृगतृष्णा है जिसका यही अत होता है—'जौ लहि ऊपर छार न परै, तौ लहि यह तिस्ना नहि मरै।' वास्तव मे 'पद्मावत' धार्मिक कट्टरता पर प्रेम की विजय का काव्य है।

सूर के काव्य मे प्रेम कबीर से अधिक स्वाभाविक और जायसी से अधिक लौकिक है। सूर को कबीर की तरह वात्सल्य और माधुर्य की अभिव्यक्ति के लिए बालक तथा बहुरिया बनने की आवश्यकता नही है और जायसी की तरह प्रेम की अलौकिक आभा दिखाने की चिंता भी नही। वहाँ यशोदा और गोपियो के हृदय से तादात्म्य के लिए कविसुलभ सहृदयता का सर्जनात्मक उपयोग है। उनकी प्रेमानुभूति की अथाह गहराई और अपार विविधता का अक्षय स्रोत प्रेम का लौकिक अनुभव है, कोई शास्त्र नही, न काव्यशास्त्र, न भक्तिशास्त्र । उसे शास्त्रबद्ध करने का प्रयत्न आचार्यों ने किया है। सूर के काव्य मे प्रेम की अनुभूति के ऐसे अनेक पक्ष हैं जिनका उल्लेख किसी शास्त्र मे नही है। ऐसे कुछ प्रसगो की ओर आचार्य रामचद्र शुक्ल ने सकेत किया है ।

सूर की गोपियो का प्रेम कोई सीमा नही जानता। वह कोई बधन नही मानता, न सयोग मे और न वियोग मे। उसका लक्ष्य है तन्मयता । इस लक्ष्य मे बाधक बनने वाले शास्त्र और लोक के सभी बधन असह्य हैं। यद्यपि आचार्य शुक्ल प्रेम के इस रूप को बहुत पसद नही करते, फिर भी उन्होने इसके सच्चे स्वरूप की ओर सकेत किया है। उन्होने लिखा है कि "वह लोक और वेद दोनो की मर्यादाओ से परे हैं।"

आचार्य शुक्ल जिसे मर्यादा कहते है वह वास्तव मे रूढि है। रूढिया केवल शास्त्र की ही नही होती, लोक की भी होती है। लोक की रूढिया शास्त्र की रूढियो से कम दमनकारी नही होती। समाज मे प्रचलित रीति-रिवाज, मान-मर्यादा, कुल-कानि आदि से उपजा लोकभय प्राय लोकधर्म बनकर मानवीय भावो और सबधो के स्वतत्र विकास को, खासतौर से प्रेम की दुनिया को, छिन्न-भिन्न

कर डालता है। गोपियो का प्रेम निर्द्वंद्व एव निर्भीक है। वह शास्त्र की रूढि और लोक के भय से मुक्त है। गोपियो के प्रेम का स्वभाव यह है

गोपी स्याम रग रांची।
देह गेह सुधि बिसारि, बढी प्रीति साँची।
दुविधा उर दूर भई, गई मति वह काँची ॥
मातु-पिता लोक भीति बाकी नहिं बाँची।
सकुच जबहि आवै उर बार-बार झाँची ॥

घनानद कह गए हैं कि 'अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बांक नही।' जिस प्रेम मे अपनी थोडी-सी चालाकी भी बाधक होती है, उसमे शास्त्रमत और लोकमत के लिए जगह कहा होगी। इसीलिए सयोग मे गोपिया स्पष्ट कहती हैं—'आरज पथ चलै कहँ सरिहैं, स्यामहि सग फिरौरी।' और वियोग मे उनके प्रेम का वेग सारी रूढियो और मर्यादाओ को बहा ले जाता है

'अब यह दशा देखि निज नैननि, सब मरजाद ढही।'

सूर का प्रेम शास्त्र और लोक की रूढियो से एकदम स्वतत्र है। वह विधि-निषेध से मुक्त मानवीय मनोकामना का मूर्त रूप है। ऐसा प्रेम किसी रूढिबद्ध समाज मे सभव नही है। रूढिबद्ध समाज मे ऐसा प्रेम अधिक से अधिक एक आकाक्षा, कल्पना या सपना हो सकता है। प्रेम की स्वतत्रता के लिए रूढिमुक्त समाज जरूरी है। सूर की विशेषता यह है कि उन्होने स्वच्छद समाज मे स्वच्छद प्रेम का चित्रण किया है। उस युग मे ऐसे समाज और प्रेम का चित्रण तत्कालीन समाज की सीमाओ को लाघकर स्वतत्र प्रेम और प्रेम की मानवीय आकाक्षा के अनुकूल कल्पनालोक का सृजन है। सूर का वृदावन ऐसी ही यूटोपिया है, जिसमे आदिम समाज की स्मृति और भावी समाज की सभावना का योग है। यह रचना-दृष्टि स्वच्छदतावादी काव्यदृष्टि के समान है, इसलिए आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि "इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप मे पाते हैं। सूर के कृष्ण और गोपिया पक्षियो के समान स्वच्छद हैं। वे लोक के बधनो से जकडे हुए नही दिखाए गए हैं। जिस प्रकार स्वच्छद समाज का स्वप्न अगरेज कवि शेली देखा करते थे, उसी प्रकार का यह समाज सूर ने चित्रित किया।" सूर का प्रेम आज भी रूढिमुक्त समाज और प्रेम के लिए सघर्ष मे प्रेरणाप्रद है, क्योकि भारतीय समाज आज भी उन्ही बधनो से जकडा हुआ है जिनसे मुक्ति की आकाक्षा सूर के काव्य मे है। उन्ही बधनो के कारण प्रेम यहा आज भी जीवन का उत्सव नही, एक अपराध या मानवीय कमजोरी है। शुक्लजी के कथन से यह भी स्पष्ट है कि भक्तिकाव्य मे केवल शास्त्र और लोक का द्वद्व देखना काफी नही है, लोक के आतरिक अतर्विरोधियो की पहचान जरूरी है।

भक्तिकाल के कवियो मे मीराबाई का प्रेम सबसे अधिक सहज, उत्कट और

विद्रोही है। उनको प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए किसी बिचवई की जरूरत नही है, न कबीर की तरह रूपक की, न जायसी की तरह लोककथा की और न सूर की तरह गोपियो की। वहा सीधा और प्रत्यक्ष प्रेम-निवेदन है, निर्भय और निर्द्वंद्व आत्माभिव्यक्ति।

वैसे तो कबीर, जायसी और सूर के लिए भी प्रेम का मार्ग आसान और सुगम न था, लेकिन मीरा को अपने हृदय के विवेक की रक्षा के लिए जिस अग्निपरीक्षा से गुजरना पडा, उससे भक्तिकाल के किसी दूसरे कवि को नही। कबीर, जायसी और सूर के सामने चुनौतिया और कठिनाइया भावजगत की थी। मीरा के सामने भावजगत से अधिक भौतिक जगत की, सीधे पारिवारिक और सामाजिक जीवन की चुनौतिया तथा कठिनाइया थी। उस पुरुष-प्रधान सामती समाज मे एक स्त्री, वह भी मेडता के राठौड राजपूत कुल की बेटी और मेवाड के महाराणा परिवार की बहू, ऊपर से विधवा। यही था मीरा का अपना लोक। उसके धर्म और उसमे स्त्री की स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। लेकिन उसके विरुद्ध विद्रोह की कल्पना भी कठिन है। मीरा ने उस आतककारी लोक और उसके भयावह धर्म के विरुद्ध खुला विद्रोह किया। उस विद्रोह का साक्षी है उनका जीवन और काव्य।

मीरा का विद्रोह अधे के हाथ लगा बटेर नही है। वे अपने सघर्ष की परिस्थितियो के बारे मे पूरी तरह सजग है। विरोधी शक्तियो के खूखार स्वभाव और अपनी वास्तविक स्थिति की पहचान के बाद ही उन्होंने कहा है कि "तन की आस कबहूँ नहिं कीनो, ज्यो रण माँही सूरो।' उनका सघर्ष सचमुच असाधारण है। जीवन की बाजी लगाकर लडा जाने वाला एक युद्ध। सकल्प उनकी शक्ति का मुख्य स्रोत है। सकल्प के पीछे प्रेम मे अटूट आस्था का बल है। तभी वे विरोधियो को चुनौती देती हुई घोषणा करती है

> लोक लाज कुल कानि जगत की, दइ बहाय जस पानी।
> अपने घर का परदा कर ले, मैं अबला बौरानी॥

यह चुनौती उन लोगो को है जो लोकलाज और कुल की मर्यादा के नाम पर मीरा की स्वतत्रता को कुचलना चाहते थे और असफल होने पर खीझकर उन्हे बावरी, दीवानी, कुलनासी आदि कहते थे। "अपने घर का परदा कर ले, मैं अबला बौरानी" मे आरभ का व्यग्य बाद की विडबना से मिलकर जो प्रभाव पैदा करता है, चुनौती के स्वर को वह अधिक अर्थपूर्ण और धारदार बना देता है। यहा एक सजग स्त्री-स्वर सुनाई देता है, जिसमे आक्रोश की अनुगूज है, किसी पीडित की चीख या पुकार नही। इससे यह भी स्पष्ट है कि सकल्प और आस्था के साथ अपनी अस्मिता और स्वतत्रता के लिए सघर्षशील अबला भी पुरुष-प्रभुत्व के लिए चुनौती बन सकती है।

अपने प्रेम की रक्षा के लिए मीरा का सघर्ष चौतरफा है। उसके विरोध मे राणा की राजसत्ता है और सिसोदिया कुल की मर्यादा (कुल-कानि) भी, पुरुष-प्रभुत्व की सत्ता है और सामती समाज की रूढिया (लोक-लाज) भी। इनमे से कोई भी एक स्त्री की स्वतत्र चेतना की हत्या करने मे सक्षम है। फिर जहा चारो एकत्र हो वहा आतक का क्या कहना। मीरा ने इन सबका सामना किया है और कभी-कभी आगे बढकर उन्हे ललकारा भी है

सीसोद्यो रूठ्यो म्हाँरो काँई कँर लेसी।
म्हे तो गुण गोविंद का गास्याँ, हो माई।।
राणाजी रूठ्याँ वाँरो देस रखासी।
हरि रूठ्या कुम्हलास्याँ, हो माई।
लोक लाज की काण न मानूँ।
निरभँ निसाणा घुरास्याँ हो माई।

मीरा की सामाजिक सजगता का एक प्रमाण यह भी है कि उन्होने जहा भी सामती समाज की रूढियो को चुनौती दी है वहा समानधर्मा सखी या मा को ही सबोधित किया है, भाई या पिता को नही।

प्रेम स्वभाव से ही सत्ता विरोधी और स्वतत्र होता है। वह अपने प्रिय को छोडकर किसी और की सत्ता स्वीकार नही करता। सत्ता से प्रेम के सघर्ष की कहानी उतनी ही पुरानी है, जितनी प्रेम की कविता की परपरा। यह आवश्यक नही कि प्रेम की कविता मे विरोधी सत्ता हमेशा सामने हो। वह कही प्रत्यक्ष होती है और कही परोक्ष। प्रेम ही मीरा के सामाजिक सघर्ष का साधन हे और साध्य भी। यद्यपि कबीर भी कहते है कि प्रेम का घर खाला का घर नही है, लेकिन मीरा की प्रेमसाधना कबीर मे भी अधिक कठिन है। उनका दुर्गम प्रेमपथ का अनुभव ठीक ही कहता है :

लगन को नाँव न लीजै, री भोली !
लगन लगी को पैडो ही न्यारो, पाँव धरत तन छीजै।
जे तूँ लगन लगाई चाहै, सीस को आसन कीजै।

यह कोई काव्योक्ति नही, मीरा के जीवन की सच्चाई है।

मीरा के प्रेम मे आत्मसमर्पण और आत्मविश्वास का अनुपम मेल है। उनका आत्मसमपण आत्मविसर्जन नही है। उस प्रेम मे गोविंद के सामने आत्मसमर्पण है तो सामती शक्तियो के विरोध की दृढता भी है। गोविंद से मीरा कहती हैं — 'म्हाने चाकर राखो जी ! म्हाने चाकर राखो जी !' तो दूसरी ओर राणा से कहती हैं—'थे तो राणाजी म्हानै इसडा लागो, ज्यो बृच्छन मे कैर' या फिर 'सिसोद्यो रूठ्यो म्हाँरो काँई कँर लैसी।' वे गोविंद के सामने आत्मसमर्पण करती हैं और उससे शक्ति अर्जित करती हुई सामती शक्तियो का सामना करती

हैं। मीरा कभी-कभी राजसत्ता और उसकी शक्ति की सीमा बताने के लिए उसके सामने ईश्वर की सत्ता और शक्ति को रख देती है

राणाजी रूठ्याँ वाँरो देस रखासी।
हरि रूठ्या कुम्हलास्याँ, हो माई।।
या
राजा रूठै नगरी राखे, हरि रूठ्या कहँ जाणा।

इस तरह वे सामती सत्ता की तुच्छता सामने लाकर उसके आतक, भय तथा प्रलोभन से मुक्ति की प्रेरणा देती है और अपने प्रेम की श्रेष्ठता सिद्ध करती है।

मीरा का विद्रोह एक विकल्पविहीन व्यवस्था मे अपनी स्वतत्रता के लिए विकल्प की खोज का सघर्ष है। उनको विकल्प की खोज के सकल्प की शक्ति भक्ति से मिली है। यह भक्ति आदोलन का क्रातिकारी महत्त्व है। मीरा की कविता मे सामती समाज और सस्कृति की जकडन से बेचैन स्त्री-स्वर की मुखर अभिव्यक्ति है। उनकी स्वतत्रता की आकाक्षा जितनी आध्यात्मिक है, उतनी ही सामाजिक भी है। मीरा का जीवनसघर्ष, उनके प्रेम का विद्रोही स्वभाव और उनकी कविता मे स्त्री-स्वर की सामाजिक सजगता भक्ति आदोलन की एक बडी उपलब्धि है, जिसकी ओर हिंदी आलोचना मे कम ध्यान दिया गया है। नाभादास ने मीरा के सघर्ष के महत्त्व को पहचानते हुए भक्तमाल मे सच ही लिखा है

सदरिस गोपिन प्रम प्रकट, कलियुगहि दिखायो।
निरअकुश अति निडर, रसिक जस रसना गायो।।
× × ×
भक्ति निसान बजाय के काहूते नाहिन लजी।
लोक लाज कुल श्रृखला, तजि मीरा गिरधर भजी।।

मीरा के काव्य मे रूढिवादी लोकमत का विरोध अत्यत उग्र है, लेकिन उसमे शास्त्रमत की कोई चिंता नही है। न उसका कही विरोध है और न कही सहारा। उसके आकर्षण, भय और भ्रम से पूरी तरह मुक्त है मीरा की कविता।

प्रेम का स्वरूप और महत्त्व

भक्तिकाव्य के प्रेम का महत्त्व सब स्वीकार करते है, लेकिन भक्त कवियो की प्रेमानुभूति के स्वरूप और महत्त्व के बारे मे काफी मतभेद है। नामवर सिंह की यह बात सही है कि "आचार्य रामचद्र शुक्ल की दृष्टि मे एक तुलसीदास को छोडकर प्राय सभी भक्त कवियो का प्रेम ऐकातिक है।" आचार्य शुक्ल के अनुसार भक्तिकाव्य मे जहा माधुर्य भाव है वहा प्रेम प्राय ऐकातिक है। वह पारिवारिक और सामाजिक मर्यादाओ का अतिक्रमण करता है, इसलिए 'लोकबाह्य' है। इस दृष्टि से केवल तुलसीदास का प्रेम लोकबद्ध है, बाकी जायसी

तथा सूरदास का प्रेम अशत ऐकातिक है और मीरा का पूर्णत । शुक्लजी की इस राय का अभिप्राय यह है कि प्रेम पारिवारिक मर्यादाओ से बधा हुआ एक सामाजिक कर्तव्य है, जैसा कि वह तुलसीदास के काव्य मे मिलता है, शास्त्र और लोक की रूढियो को चुनौती देने वाली स्वतन्त्रता की आकाक्षा का प्रेरक स्वाधीन-भाव नही, जैसा कि वह सूर और मीरा के काव्य मे है । कबीर, जायसी, सूर और मीरा के काव्य मे प्रेम उत्तरोत्तर शास्त्र के भ्रम और लोक के भय से उन्मुक्त होता दिखाई देता है ।

असल मे भक्तिकाव्य या किसी भी काव्य के प्रेम को सम-विषम, स्वकीया-परकीया, लोकबद्ध और ऐकातिक आदि रीतिगत साचो मे बाटकर समझने की कोशिश ही गलत है । प्रेम की अनुभूति का लक्ष्य है तल्लीनता, इसलिए काव्य मे प्रेमानुभूति की गहराई, सच्चाई और तन्मयता महत्त्वपूर्ण है न कि उसका सम या विषम रूप। फिर भगवान से भक्त के प्रेम मे विषमता पर आश्चर्य और आपत्ति क्यो ?

भक्तिकाव्य के प्रेम के स्वरूप पर विचार करते समय एक और बात ध्यान देने लायक है । विभिन्न कवियो की काव्यानुभूति का स्वरूप उनकी अभिव्यक्ति के रूप से बहुत दूर तक प्रभावित हुआ है । जिस कवि ने कथा का सहारा लेकर प्रबधकाव्य के भीतर प्रेम की अभिव्यक्ति की है उसके यहा प्रेम के दोनो पक्षो के अनुभवो की अभिव्यक्ति की सभावना बनी है । परतु जहा कथासूत्र विरल है, अथवा पद या प्रगीत मे प्रेम व्यक्त हुआ है वहा अभिव्यक्ति के रूप की आत्म-परकता के अनुरूप ही अनुभूति भी अधिक आत्मपरक है । आख्यान मे अनेक अनुभवो और स्वरो के समावेश की सभावना होती है, जबकि प्रगीत मे एकाकी अनुभव और स्वर मुखर होता है । तुलसी और जायसी के कथात्मक काव्य मे उभयपक्षी प्रेम अधिक उभरा है । सूर की कविता मे कथा बहुत झीनी है, इसलिए वहा गोपियो का आत्मनिवेदन ही प्रमुख है । कबीर और विशेषत मीरा की प्रेमानुभूति प्रगीत मे ढली हुई विशुद्ध आत्माभिव्यक्ति है, जहा दूसरे पक्ष के अनुभव की खोज व्यर्थ है ।

भक्तिकाव्य के बाहर भी अधिकाशत प्रेम की वही कविता महत्त्वपूर्ण है जो सम-विषम की रूढि से मुक्त है । आधुनिक प्रेम-कविता को छोड भी दें तो कालिदास के 'मेघदूत' से घनानद की कविता तक फैली हुई प्रेमकाव्य की उदात्त परपरा मे सम-विषम की कोई चिता नही है । अगर लोक और शास्त्र की रूढियो से मुक्त होने के कारण सूर और मीरा का प्रेम ऐकातिक है तो कालिदास के 'मेघदूत' और घनानद का प्रेम भी ऐकातिक ही होगा । यदि प्रेम की ऐसी स्वच्छदता ही ऐकातिक है तब तो मानना होगा कि ऐकातिक प्रेम का सहज स्वभाव है और अच्छी प्रेम-कविता की स्वाभाविक विशेषता भी ।

भक्ति आदोलन जनसस्कृति के अपूर्व उत्कर्ष का अखिल भारतीय आदोलन है। ऐसे आदोलन मे अनेक स्वरो का समावेश कोई आश्चर्य की बात नही है। जो आदोलन समाज के विभिन्न वर्गों, उपवर्गों और समुदायो के जीवन की वास्तविकताओ तथा आकाक्षाओ से जुडा हो उसमे अनेक सवादी और विसवादी स्वरो का सह-अस्तित्व स्वाभाविक ही है। यह स्थिति हिंदी ही नही, दूसरी भारतीय भाषाओ के भक्तिकाव्य मे भी दिखाई देती है।

हिंदी के भक्तिकाव्य मे अनेक स्वर है। सगुण भक्तो का स्वर निर्गुण सतो से भिन्न है। सगुण भक्तो मे सूर का स्वर तुलसी से पृथक् है। मीरा की कविता का सजग और विशिष्ट स्त्री-स्वर कबीर, जायसी, सूर और तुलसी से बहुत अलग है। यही नही, तुलसी के काव्य मे एक ओर 'विनय-पत्रिका' मे आत्यतिक आत्म-निवेदन और 'कवितावली' मे कठिन जीवन-सघर्ष का स्वर है तो दूसरी ओर 'रामचरितमानस' मे आत्मविश्वास से भरा उपदेश का स्वर है। स्वरो की इस अनेकता मे कही-कही परस्पर विरोध भी है। लेकिन उस विरोध के बावजूद भक्ति-भावना की मूलगामी लोकधर्मिता के स्तर पर सपूर्ण भक्ति-काव्य मे एकता अधिक प्रबल है। वही एकता भक्ति आदोलन के विशिष्ट व्यक्तित्व का निर्माण करती है।

हिंदी आलोचना मे भक्ति आदोलन की व्याख्या की एक विडबना यह है कि कुछ आलोचक उस आदोलन के तिल-भर अतर्विरोध को ताड बनाकर पेश करते है तो कुछ अन्य केवल सतही समानताओ की आड मे विभिन्न स्वरो के बीच के विरोध को छिपाने की कोशिश करते है। दोनो स्थितियो मे भक्ति आदोलन के समग्र स्वरूप की ठीक ठीक पहचान खतरे मे पड जाती है।

हिंदी आलोचना मे सबसे पहले आचार्य रामचद्र शुक्ल ने निर्गुण सतो के विरुद्ध सगुण भक्तो को खडा किया। उन्होने निर्गुण सतो को लोक-विरोधी और सगुण भक्तो को लोक-सग्रही घोषित किया। बाद मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को निर्गुण सतो के सामाजिक विचार सगुणो से अधिक प्रगतिशील लगे। मार्क्स-वादी आलोचको ने निर्गुण-सगुण विवाद को और अधिक उग्र बनाया। मार्क्सवादी आलोचना के एक छोर पर रामविलास शर्मा है, जिनकी दृष्टि मे निर्गुण-सगुण के बीच कही कोई द्वद्व नही है। वे भक्ति आदोलन और उसके काव्य मे किसी विसवादी स्वर का अस्तित्व स्वीकार नही करते। दूसरे छोर पर मुक्तिबोध हैं, जिनके अनुसार "निर्गुणमत के विरुद्ध सगुणमत का सघर्ष निम्न वर्गों के विरुद्ध उच्चवशीय सस्कारशील अभिरुचि वालो का सघर्ष था।" मुक्तिबोध की इस मान्यता को अतिम निष्कर्ष तक पहुचाया है नामवर सिंह ने। उन्होने निर्गुण से सगुण के मतभेद मे लोक से शास्त्र का द्वद्व देखा है। आचार्य रामचद्र शुक्ल निर्गुणमत और काव्य को लोक-विरोधी मानते थे तो नामवर सिंह सगुणमत और काव्य को लोक-विमुख तथा लोक-विरोधी कहते हैं।

इस निर्गुण बनाम सगुण के विवाद मे जाति और वश वाला मुक्तिबोध का तर्क विचित्र है और उससे नामवर सिंह की सहमति आश्चर्यजनक। नामवर सिंह ने हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रसग मे लिखा है कि "किसी लेखक के दृष्टिकोण को उसे पैदा करने वाले जाति, वग या समाज के आधार पर, निर्धारित करने का प्रयास 'फूहड समाजशास्त्र' है।" अगर यह मान्यता सही है तो केवल हजारी-प्रसाद द्विवेदी के प्रसग मे ही नही, कबीर, सूर, मीरा और तुलसी के प्रसग मे भी सही होगी। ऐसी स्थिति मे निर्गुण और सगुण कवियो के दृष्टिकोण को उनके वश और जाति के आधार पर निर्धारित करने का प्रयास भी 'फूहड समाजशास्त्र' ही है। इस समाजशास्त्र मे जाति और वर्ग पर्यायवाची बन गए है। वैसे यह समाजशास्त्र तथ्य से अधिक, अनुमान पर आश्रित है। यह कौन नही जानता कि कबीर, रैदास, सेन, घना आदि निर्गुण सतो के गुरु रामानद सगुण भक्त थे। साथ ही यह भी तथ्य है कि सगुण धारा मे अनेक मुसलमान और निम्न जातियो से आए भक्त शामिल थे।

इस प्रसग मे महत्त्वपूण सवाल यह है कि क्या सगुण कवियो ने उच्च जाति और उच्च वश के प्रमुख का समर्थन किया है? यद्यपि सूरदास के पारिवारिक परिवेश के बारे मे कोई पुष्ट प्रमाण नही मिलता, लेकिन हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि वे सपन्न समाज मे पले थे। अगर यह अनुमान सही है तो भी स्वच्छद प्रेम के उन्मुक्त गायक सूर के काव्य मे कही भी जाति और वश के प्रभुत्व का समथन तो क्या, स्वीकार भी नही है। सूर का प्रेम समाज और शास्त्र की सभी रूढियो से स्वतत्र है। मीराबाई जरूर उच्च कुल की है। लेकिन उनके जीवन और काव्य मे कुलीनता के विरुद्ध विद्रोह की खुली घोषणा है। वे एक ओर राजकुल के आकर्षण और भय से मुक्त है तो दूसरी ओर रैदास को अपना गुरु मानती है। उनके बारे मे नाभादास ने ठीक ही लिखा है, 'लोक लाज कुल शृखला तजि मीरा गिरधर भजी।' तुलसीदास उच्च जाति के 'मगनकुल' मे पैदा हुए थे। उनका बचपन इस तरह बीता था 'बारे ते ललात-बिललात द्वार-द्वार दीन जानत हौ चारिफल चारि ही चनक को।' उन्होने 'रामचरितमानस' मे वर्णाश्रम-व्यवस्था का आदर्श समाज के सामने रखा है, लेकिन 'कवितावली' मे उस व्यवस्था के यथार्थ के अनुभव की पीडा भी व्यक्त हुई है—'मेरे जाति-पाँति न चहौ काहू की जाति-पाँति।' ऐसी स्थिति मे सगुण भक्तो को उच्चवशी और उच्चजातीय वर्गो के प्रभुत्व का पोषक कहना सूर की प्रेम-भावना, मीरा की विद्रोही चेतना और तुलसी के आत्मसघर्ष का अपमान करना है।

सगुण काव्य-धारा की सीमा बताने के लिए मुक्तिबोध ने यह सवाल किया है "क्या यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य नही है कि रामभक्ति शाखा के अतर्गत एक भी प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण कवि निम्नजातीय शूद्र वर्गों से नही आया?" यह

तथ्य है। लेकिन इससे क्या साबित होता है। तथ्य तो यह भी है कि आधुनिक काल मे प्रगतिशील आदोलन के अतर्गत भी कोई महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली कवि निम्नजातीय शूद्र वर्गों से नही आया। तब क्या इससे यह साबित होता है कि प्रगतिवाद के बडे कवि उच्चवशी उच्चजातीय वर्गों के प्रभुत्व के प्रमाण है। महत्त्वपूर्ण तथ्य और भी है। प्रेमचद ने 'ठाकुर का कुआ' और 'सद्गति' जैसी कहानिया लिखी है और नागार्जुन ने 'हरिजन गाथा' जैसी कविता। इन रचनाओ के लेखक शूद्र समुदाय से नही आए है, इसलिए क्या उनका कोई महत्त्व नही है? हिंदी साहित्य के आधुनिक काल मे भी निम्नजातियो के बीच से कोई महत्त्वपूर्ण लेखक क्यो नही आया—यह एक महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्रीय सवाल है। इसका उत्तर खोजने के लिए भारतीय समाज की सरचना और उसकी सास्कृतिक परपराओ के स्वभाव की गहरी छानबीन जरूरी है, केवल दूसरे लेखको को दोषी कहकर छुट्टी पा लेने की प्रवृत्ति से बात नही बनेगी। यह प्रवृत्ति भक्ति आदोलन की जटिल समग्रता को समझने मे भी सहायक न होगी।

निर्गुण और सगुण की दार्शनिक दृष्टियो के बीच कही-कही द्वद्व है, लेकिन वह हर जगह लोक से शास्त्र का द्वद्व नही है। सूरदास के भ्रमरगीत मे योग के साथ-साथ निर्गुण का जो खडन है उसका आधार कोई शास्त्र नही, विशुद्ध लोक-अनुभव है। वास्तव मे लोक-मानस निर्गुण और सगुण के बीच विरोध की तुलना मे एकता और अविच्छिन्नता को अधिक महत्त्व देता है। कबीर के पद अनेक परवर्ती भक्त कवियो के सग्रहो मे सहज भाव से शामिल और स्वीकृत हैं। सिक्खो के 'आदिग्रथ' मे तो कबीर के पद हैं ही, सूरसागर और मीरा की पदावली मे भी कबीर के पदो से एकदम मिलते जुलते अनेक पद पाए जाते है। वे पद कबीर के हो या न हो, लेकिन भाव और रचना-पद्धति की दृष्टि से वे कबीर के पदो के समान है। यह समानता साबित करती है कि जन-मानस मे निर्गुण-सगुण के बीच अलगाव से अधिक प्रबल है एकता।

भक्ति आदोलन की एकता और अविच्छिन्नता को समझने के लिए इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि भक्त कवि पूर्ववर्ती भक्तो की परपरा और समकालीन भक्तो से अपने सबध के बारे मे कितने सजग है। निर्गुण-सगुण का भेद इस सबध-बोध मे कही बाधक नही है। अगर कबीर के काव्य मे जयदेव, नामदेव और गोरखनाथ का आदर के साथ स्मरण है तो जायसी के 'अखरावट' मे कबीर की प्रेम-साधना के महत्त्व की पहचान भी है। मीरा की कविता मे भक्ति आदोलन की एकता का बोध दूसरो से अधिक व्यापक है। वहा नामदेव, कबीर, रैदास, धन्ना और करमाबाई के साथ-साथ नरसी मेहता के महत्त्व की पहचान है। मीराबाई सगुण भक्त हैं, लेकिन उनके परपरा-बोध मे अधिकतर निर्गुण भक्त शामिल है।

भक्ति आंदोलन की दोनो धाराओ के बीच एकता की पहचान का पहला

व्यवस्थित प्रयास नाभादास के 'भक्तमाल' मे है। आचार्य रामचद्र शुक्ल के अनुसार नाभादास तुलसीदास के समकालीन थे। उन्होने सन् 1600 ई० के आसपास भक्तमाल की रचना की, जिसमे 316 छप्पयो मे दो सौ भक्त कवियो की भक्ति-भावना और काव्य-रचना की मुख्य विशेषताओ की अभिव्यक्ति है। भक्तमाल मध्यकाल का अत्यत लोकप्रिय ग्रथ था। उसका बगला और मराठी मे अनुवाद हुआ था। बाद के दिनो मे उसका अनुकरण करते हुए असख्य भक्तमाल लिखे गए हैं।

नाभादास निम्नतम शूद्र समुदाय से आए हुए सगुण रामभक्त थे। उनके 'भक्तमाल' मे निर्गुण-सगुण, ब्राह्मण-शूद्र, स्त्री-पुरुष—सभी तरह के भक्तो के लिए सम्मानजनक जगह है। वहा केवल श्रद्धावश भक्तो का गुणगान या उनकी महिमा का बखान नही है, जैसा कि प्राय समझा जाता है। भक्तमाल मे सतुलित विवेक के साथ प्रत्येक भक्त कवि के व्यक्तित्व, विचार, भक्ति-भाव और कवित्व की बुनियादी विशेषताओ की अचूक पहचान है। इस सच्चाई को जानने के लिए कबीर, सूर, मीरा और तुलसी पर लिखे छदो को पढ़ लेना पर्याप्त होगा। भक्तमाल भक्ति आदोलन की एकता का प्रमाण है और उसके इतिहासबोध का प्रस्थान बिंदु भी।

भक्ति आदोलन की विफलता

भक्ति आदोलन के समग्र रूप पर विचार करने वाले किसी भी व्यक्ति के सामने यह प्रश्न जरूर खडा होगा कि वह आदोलन विफल क्यो हुआ। मुक्तिबोध ने यह प्रश्न उठाया है और उसका उत्तर खोजने की कोशिश भी की है। उनका प्रश्न है "क्या कारण है कि निर्गुण भक्तिमार्गीय जातिवाद आदोलन सफल नही हो सका?" मुक्तिबोध के इस प्रश्न मे सपूर्ण भक्ति आदोलन की शिथिलता और समाप्ति की चिंता नही है। सूफी और सगुण धाराए उनकी चिंता से बाहर है, केवल निर्गुण की असफलता का सवाल सामने है। मुक्तिबोध निर्गुण की असफलता और अत का कारण सगुणधारा को मानते हैं। उन्होने लिखा है, "जो भक्ति आदोलन जन-साधारण से शुरू हुआ और जिसमे सामाजिक कट्टरपन के विरुद्ध जन-साधारण की सास्कृतिक आकाक्षाए बोलती थी, उसका मनुष्य-सत्य बोलता था, उसी भक्ति आदोलन को उच्चवर्गीयो ने आगे चलकर अपनी तरह बना लिया, और उससे समझौता करके, फिर उस पर अपना प्रभाव कायम करके और अनतर जनता के अपने तत्त्वो को उनमे से निकालकर उन्होने उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।" मुक्तिबोध के अनुसार, सगुण भक्तिधारा के माध्यम से उच्चवशी उच्चजातीय वर्गों का सास्कृतिक प्रभुत्व स्थापित हुआ और "साहित्य के क्षेत्र मे उन वर्गों का प्रधानभाव शृगार, विलास का प्रभावशाली

विकास हुआ, इसलिए भक्तिकाव्य की प्रधानता जाती रही है।"

नामवर सिह भी मुक्तिबोध के इस मत से सहमत है कि भक्ति आदोलन मे सगुणधारा के प्रभाव का विस्तार 'उच्चवशी उच्चजातीय वर्गों के प्रभुत्व' का प्रसार है और वही भक्ति आदोलन की शिथिलता तथा समाप्ति के लिए दोषी है। लेकिन वे सगुण कवियो के शृगार को सामती प्रभाव का प्रमाण नही मानते। उनकी दृष्टि मे वह शृगार मानवीय प्रवृत्तियो के सामती दमन के विरुद्ध विद्रोह है। जो शृगार मुक्तिबोध को सामती विलास का द्योतक लगता है, वही नामवर सिह के लिए सामती दमन के विरुद्ध मानवीय विद्रोह का व्यजक है। जाहिर है दोष उस शृगार मे नही, मुक्तिबोध की दृष्टि मे है।

नामवर सिह के अनुसार सगुण काव्य की मुख्य कमजोरी शास्त्र-सापेक्षता है, जो एक ओर निर्गुणधारा का विरोध करती है और दूसरी ओर रीतिकाव्य के उदय का कारण बनती है। नामवर सिह के विवेचन से यह स्पष्ट नही होता कि सगुणधारा क्यो और कैसे शास्त्र-सापेक्ष है, इसलिए यह सवाल उठता है कि आखिर सगुण काव्य मे शास्त्र-सापेक्ष क्या है—सूर का वात्सल्य और शृगार ? मीरा का प्रेम और विद्रोह ? या तुलसी का आत्मनिवेदन और आत्मसघर्ष ? क्या यह सब शास्त्र-सापेक्ष और लोक-विमुख है ? इन सबका रीतिकाव्य से क्या लेना देना है ?

वास्तव मे भक्ति सवेदना और भक्ति आदोलन की व्यापक लोकधर्मिता, उसकी समतावादी सामाजिक चेतना, उसका रूढिवाद और कुलीनता के विरुद्ध विद्रोह, शास्त्र के भ्रम और लोक के भय से मुक्ति का उसका आह्वान, उसकी प्रेमानुभूति का सहज तथा स्वच्छद स्वभाव और लोकसस्कृति के विभिन्न रूपो—विशेषत लोकभाषाओ—के उत्कर्ष का उसका अभियान जितना मूलगामी है उतना ही आश्चर्यजनक है उसका अत। वैसे आधुनिक भारतीय भाषाओ के निर्माण और आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास मे भक्ति आदोलन की भूमिका को देखते हुए यह कहना सही नही होगा कि वह पूरी तरह विफल हो गया, लेकिन यह भी सच है कि उसका सामाजिक उद्देश्य पूरा न हो सका। भक्ति आदोलन के माध्यम से जन-साधारण की जो सामाजिक और सास्कृतिक आकाक्षाए प्रकट हुई थी वे अधूरी ही रह गईं।

इस विफलता का कारण केवल निर्गुण से सगुण के द्वद्व में खोजना ठीक नही है, क्योकि अगर हम यह मान भी ले कि सगुणधारा ने निर्गुणधारा को समाप्त कर दिया तो हमारे सामने एक और सवाल आ खडा होगा कि सगुणधारा को किसने समाप्त किया ? असल मे निर्गुण, सूफी और सगुण अर्थात् पूरा भक्ति आदोलन जिस सामती समाज-व्यवस्था के विरुद्ध खडा हुआ था, वह अधिक शक्तिशाली साबित हुई। उसने भक्ति आदोलन की सभी धाराओ को धीरे-धीरे अपने अनुकूल बना

लिया। इससे साबित होता है कि सिर्फ सदाचारवाद से—चाहे वह कितना भी क्रातिकारी क्यो न हो—सामाजिक व्यवस्था नही बदलती। डी० पी० मुखर्जी ने भक्ति आदोलन की सामाजिक असफलता के कारणो की ओर सही सकेत किया है। उनके अनुसार भक्ति आदोलन मे समाज के स्वरूप की पहचान है, लेकिन सामाजिक हित की कोई धारणा नही है। फलत उसमे आत्मा के अनुरोध और सामाजिक जिदगी की ठोस जरूरतो के बीच दरार है, आध्यात्मिकता की भौतिक अतवस्तु और लोकधर्म के विभिन्न रूपो के बीच अतर्विरोध है। भक्ति आदोलन की यही आतरिक कमजोरी उसकी सामाजिक विफलता का मुख्य कारण है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि केवल साहित्य के सहारे समाज को बदलने की आकाक्षा का अत प्राय असफलता मे होता है।

भक्ति आदोलन की सभी धाराओ, विशेषत निर्गुणधारा, की परवर्ती परिणति से सिद्ध होता है कि सामाजिक सरचनाए और सास्कृतिक परपराए प्राय साहित्यिक प्रवृत्तियो और परपराओ से अधिक शक्तिशाली होती हैं। जिस वैदिक-पौराणिक परपरा और उससे पोषित सामाजिक व्यवस्था के विरोध मे निर्गुणधारा आगे बढी थी, वह परपरा अधिक स्थायी साबित हुई। बाद के दिनो मे निर्गुणधारा भी उसी सर्वग्रासी परपरा की धारा मे विलीन हो गई। इस प्रक्रिया की सच्चाई जानने के लिए कबीर के व्यक्तित्व और विचारो के सस्कृतीकरण के इतिहास की समझ जरूरी है। पिछले पाच सौ वर्षों से कबीर के व्यक्तित्व और विचारो को वैदिक-पौराणिक परपरा के विभिन्न साचो मे ढालने के अनेक प्रयास लगातार होते आ रहे है। ऐसे प्रयासो के पीछे निर्गुणधारा और कबीर की विचारधारा का कोई विरोधी नही, बल्कि कबीर के भक्तगण है। कबीर के विचारो को शास्त्र-सापेक्ष बनाने का काम कबीरपथियो ने किया है।

कबीर ने जीवन-भर जिन धार्मिक और सामाजिक रूढियो का विरोध किया, उन्ही मे कबीर को कैद करने की कोशिश कबीरपथियो ने की है। कबीर ने अपने जीवन मे न मठ बनाया न सप्रदाय चलाया, लेकिन बाद मे उनके नाम पर जो मठ और सप्रदाय बने है, उनमे मठवाद और सप्रदायवाद की सारी रूढिया मौजूद है। कबीर ने धार्मिक आडबर और बाह्याचार का खडन किया था, कबीरपथी 'जप माला छापा तिलक' के सहारे लोक-परलोक दोनो साधते है। कबीरपथियो ने तरह-तरह के मिथको और चमत्कारो को कबीर से जोडकर उन्हे अवतार बनाया है, उनकी मूर्ति स्थापित की है और शास्त्रीय विधि से मूर्ति-पूजा की प्रथा भी चलाई है। यहा तक कि आधुनिक कबीरपथ पर वर्ण-व्यवस्था की भी छाया पड रही है।

कबीर ने कहा था 'सस्कीरत है कूप-जल भाखा बहता नीर।' कबीरपथी लोकभाषा की गगा को सस्कृत के कूप-जल मे डुबाकर पवित्र बना रहे हैं, वे कबीर

की बानी का सस्कृत मे अनुवाद कर रहे हैं। 'बीजक' का सस्कृत मे अनुवाद हो चुका है। नाभादास ने कहा था 'कबीर कानि राखी नही, वर्णाश्रम षट दरसनी।' आधुनिक कबीरपथी सस्कृत मे कबीर की विचारधारा की व्याख्या कर रहे हैं ताकि वह षट्दर्शन की परपरा मे मान्य और स्वीकार्य हो सके। 'दशमात्रा', 'कबीर शतकम्' और 'ब्रह्मनिरूपण' जैसी पुस्तको मे यही प्रयत्न दिखाई देता है। कबीर के विचारो के सस्कृतीकरण का यह अभियान मुक्तिधर्मी लोक-प्रतिभा को रूढिवादी शास्त्रीयता का जामा पहनाने का अभियान है।

इस अभियान का एक अद्भुत उदाहरण है 'कबीर मसूर' नामक पुस्तक, जिसके लेखक है कबीरपथी साधु परमानद। मूलत उर्दू मे लिखी यह पुस्तक पहली बार सन् 1857 ई० मे छपी थी। उसका हिंदी अनुवाद 1903 ई० मे प्रकाशित हुआ। पुराणो की शैली मे लिखा हुआ लगभग पद्रह सौ पृष्ठो का यह पोथा हिंदू देवी-देवताओ के चित्रो से सुसज्जित है। इसमे चारो युगो मे कबीर के अनेक अवतारो का वर्णन है, केवल कलयुग मे मूसा, दाऊद, सुलेमान, ईसा, मुहम्मद आदि रूपो मे उनके चौदह अवतारो की चर्चा है। इस पुस्तक के अनुसार कबीर 'परमब्रह्म' है। पुस्तक मे उनकी अनेक लीलाओ का भी वर्णन है। कबीर ने राम-रहीम की एकता पर जोर दिया था तो 'कबीर मसूर' मे उन्हे हिंदू, इस्लाम और ईसाई धर्मों के बीच एकता का सूत्रधार बना दिया गया है। यह पुस्तक कबीर के व्यक्तित्व के ऐतिहासिक महत्त्व और उनके विचारो की क्रातिकारी भूमिका को मिटाकर उन्हे मिथकीय, शास्त्र-सापेक्ष और परपराबद्ध बनाती है। 'कबीर मसूर' के कबीर की केवल पूजा हो सकती है, वे सामाजिक और सास्कृतिक रूढिवाद के विरुद्ध किसी सघर्ष के प्रेरणास्रोत नही बन सकते।

कबीरपथ मे कबीर के विचारो की दुर्गति के इतिहास से साबित होता है कि कोई क्रातिकारी विचारधारा विरोधियो की आलोचनाओ से नही मरती, वह इतिहास-प्रक्रिया से बेखबर अनुयायियो की अधश्रद्धा, कट्टरवादिता और महत्त्वा-काक्षा से मरती है।

कृष्णकथा की परंपरा और सूरसागर

श्रीकृष्ण के लौकिक और अलौकिक, मानवीय और दिव्य—दो रूप हैं। लौकिक रूप में श्रीकृष्ण युगमानस के सार्वभौम सकल्प के प्रतीक हैं, युग के सूत्रात्मा हैं। भारतीय सस्कृति के विकास के इतिहास मे कोई भी सस्कृति-निर्माता या युग-नायक ऐसे बहुमुखी व्यक्तित्व से सपन्न नही है। कृष्ण का मानवीय रूप इतना विकसित है कि उसका ईश्वरत्व से अभेद दिखाई देता है। कृष्ण का मानव-व्यक्तित्व अत्यत वैविध्यपूर्ण, समृद्ध और आकर्षक है, वे अपने युग के सपूर्ण लोक-मानस के आकर्षण के केंद्र बिंदु सिद्ध होते हैं। महापुरुष तीन प्रकार के होते हैं (1) चिंतक, (2) भावनाप्रधान और (3) कर्मठ। मनुष्य मे अर्तानिहित ज्ञान-शक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति के विकास से ही चिंतक, भावनाप्रधान और कर्मठ व्यक्तित्वो का निर्माण होता है। श्रीकृष्ण मे ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति का चरमोत्कर्ष दिखाई पडता है, इसलिए वे चिंतक, अनुरागी और कर्मठ महापुरुष हैं। श्रीकृष्ण एक युगप्रवर्तक के रूप मे पूज्य हैं। संपूर्ण कृष्णचरित मे भारतीय चिंतन-परपरा के बुद्धिवाद और आनदवाद का पूर्ण समन्वित रूप प्रकट हुआ है।

श्रीकृष्ण के अलौकिक स्वरूप की अभिव्यक्ति उनके अवतारी रूप मे हुई है। कृष्ण का दिव्य रूप वह है जहा वे सच्चिदानद हैं। उनकी विभिन्न लीलाओ के बीच से उनका लीला रूप विकसित हुआ है। अवतारी रूप मे उनके जन्म और कर्म दिव्य हैं। वे लीला पुरुषोत्तम, रसरूप सच्चिदानद हैं। वे ब्रह्म हैं, सर्वोच्च सत्ता हैं। उनके निर्गुण और सगुण दो रूप हैं। सच्चिदानद ब्रह्म के रूप मे वे इस जगत् के मूल कारण हैं। यह जगत् या सृष्टि उनकी लीला का परिणाम है। सगुण रूप मे श्रीकृष्ण अवतारी हैं, साधुहितकारी, भक्तवत्सल और असाधुअहेरी। लीलाविग्रह मे उनके दो रूप हैं—पहला ऐश्वर्यमय और दूसरा प्रेममय। श्रीकृष्ण के प्रेममय रूप से ही उनकी माधुर्यमयी लीला सपन्न होती है।

प्रेममूलक वैष्णव धर्म या भागवत धर्म किसी एक कवि की मिथकीय फँटेसी

या कल्पना का परिणाम नही है, अपितु वासुदेव कृष्ण की धारणा के इतिहास का सत्य है जो काव्यात्मक और लोकप्रचलित निजधरी कथाओ के विकास से आच्छादित हो गया है। श्रीकृष्ण के स्वरूप और चरित्र के विकास मे इतिहास, पुराण-कल्प, पुरावृत, अवदान, आख्यान, उपाख्यान, चरित, प्रबधकल्पना, गाथा आदि के साथ-साथ दार्शनिक आचार्यों के चिंतन तथा भक्त कवियो की भावना का ऐसा सयोग हो गया है कि उसमे तथ्य और कल्पना को पूर्णत पृथक् कर पाना कठिन है। श्रीकृष्ण के चरित्र मे नाना वैदिक-अवैदिक, आर्य-अनार्य और शास्त्रीय तथा लौकिक तत्त्वो का समन्वय हुआ है। कृष्ण का जीवनचरित, व्यक्तित्व और लीलावपु दीर्घकालीन भारतीय विचारधारा और भावधारा के विकास और समन्वय का परिणाम है। भारतीय चिंतन परपरा का उत्कर्षित रूप श्रीकृष्ण मे प्रकट है।

प्रत्येक प्राचीन सभ्यता और सस्कृति का पतन, विनाश और अत जीवन के गतिशील सिद्धातो और आदर्शों मे अनास्था के फलस्वरूप होता है। जब समाज सिद्धात की आतरिक शक्ति से विमुख होकर केवल उसके बाह्य रूप या शरीर से मोहवश बध जाता है तो जीवन और जीवन के नियामक सिद्धातो मे विरोध उत्पन्न हो जाता है। धर्म आस्तिक और आस्थावान व्यक्ति के लिए जीवन सचालन के कतिपय आदर्शों, सिद्धातो और मूल्यो का समुच्चयु है। वह व्यक्ति और समाज दोनो के पारस्परिक सहयोग और समन्वय का सद्भाव सूत्र है। युग परिवर्तन के साथ ही व्यक्ति और समाज का मानसिक धरातल भी बदल जाता है और पुराने विचार तथा आचार अनुपयोगी हो जाते हैं। युगजीवन के सदर्भों मे प्राचीन जीवनमूल्यो, मान्यताओ और आदर्शों के असमर्थ, अनुपयोगी और अनावश्यक होने पर नवीन जीवनमूल्यो और आदर्शों की स्थापना होती है। लोक-सग्रह की भावना और लोकचेतना के प्रति सचेत कृष्ण जैसे लोकनेता प्राचीनता की लकीर न पीटकर, प्राचीनता की शाश्वतता मे अध आस्था न रखकर, मनुष्य और नियम के बीच मनुष्य मे अधिक आस्थावान होने के कारण मानव-जीवन के सचालक नियमो और आदर्शों की युगानुरूप परिवर्तनशीलता मे विश्वास करते हैं। मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नही है—'न हिमानुषाच्छ्रेष्ठतर हि किंचित्,' उसका धर्म, दर्शन, नियम, सिद्धात कुछ भी नही। जीवन नियम को अर्पित नही हो सकता। जहा जीवन नियम को अर्पित हो जाता है वहा जीवन की जीवतता सूख जाती है। जहा व्यक्ति के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के मार्ग मे पूर्व निर्मित जीवन सिद्धात बाधक बन जाते हैं, वहा उन नियमो की निस्सारता का बोध होता है तथा उनके परिवर्तन की आवश्यकता पडती है। जीवन आत्मानुशासन से सचालित होना चाहिए, आत्मविवेक से अनुशासित होना चाहिए, आरोपित नियमो के शासन से नहीं। जीवन के नियम, मूल्य और आदर्श जीवन सापेक्ष होते हैं

और जीवन सामाजिक स्थितिसापेक्ष होता है । अत कालचक्र के परिवर्तन के कारण सामाजिक स्थिति के परिवर्तित हो जाने से युगजीवन के साथ युगधर्म भी बदलते रहते है । प्राचीनता के प्रति विवेकसपन्न दृष्टि अपेक्षित है, अध-श्रद्धा नही ।

श्रीकृष्ण के जीवन का ऐतिहासिक स्वरूप विवादास्पद है । कुछ विद्वान उनकी स्थिति का काल ईसवी सन से तीन हजार वर्ष पूर्व मानते है । चितामणि विनायक वैद का विचार है कि महाभारत, हरिवश आदि के रचनाकाल, मेगास्थनीज के लेख तथा प्रचलित परपराओ के आधार पर श्रीकृष्ण का जन्मकाल ई पू 3185वें वर्ष तथा मृत्यु 3072वें वर्ष मे मानना चाहिए । इस हिसाब मे उनकी अवस्था युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर 71 वर्ष की और महाभारत की लडाई के समय 84 वर्ष की तथा मृत्यु के समय 113 वर्ष की ठहरती है ।[1] एक दूसरे विद्वान तिलकधर शर्मा ने हिमयुग के विश्वव्यापी प्रलय के काल निर्णय, ज्योतिष के मार्ग शीर्षांत वसत सपात के काल तथा सप्तर्षि के भ्रमणचक्र और महाभारत के ऐतिहासिक समय के आधार पर श्रीकृष्ण का ऐतिहासिक समय ई पू तीन हजार वष माना है ।[2] लोकमान्य तिलक ने श्रीकृष्ण का अवतारकाल ईसा से लगभग 1400 वर्ष पूर्व माना है ।[3] राधाकमल मुखर्जी के अनुसार श्रीकृष्ण का ऐतिहासिक समय ई पू 1000 वर्ष के करीब है ।[4] भारतीय दर्शन, धम और काव्य मे कृष्ण का ऐतिहासिक व्यक्तित्व उतना महत्त्वपूर्ण नही है जितना उनका मिथकीय स्वरूप । सच तो यह है कि उनके मिथकीय स्वरूप के सामने उनका ऐतिहासिक व्यक्तित्व पराजित हो गया है । दर्शन, धर्म और काव्य मे श्रीकृष्ण के मिथकीय स्वरूप के लौकिक और अलौकिक, मानवीय और अतिमानवीय रूपो को ही चितन, भावना और अनुभूति का विषय बनाया गया है ।

वैदिक साहित्य मे कृष्ण

कृष्ण का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद (म 8) मे सूक्त 85 के ऋषि या रचयिता के रूप मे आया है और इसके तीसरे तथा चौथे मत्रो मे ही ऋषि अपने को कृष्ण कहते हुए जान पडते है । 'अनुक्रमणिका' के लेखक उन्हे आगिरस या अगिरस के उत्तराधिकारी कहते हैं ।[5] अगर ऐसा है तो कृष्ण का समय ऋग्वेद का समय होगा जो किसी भी प्रकार ई पू 3000 के बाद का नही है । ऋग्वेद मे इद्र के शत्रु के रूप मे कृष्ण का उल्लेख है । यह द्रुतगामी कृष्ण अपनी दस हजार असुर-सेना के साथ अशुमती नदी के तट पर विस्तृत किंतु गूढ प्रदेश मे विचरण करता था । इद्र ने बुद्धि के द्वारा उसे प्राप्त किया और मनुष्यो के हितार्थ उससे युद्ध करने के लिए अभिलाषदाता मरुतो का आह्वान किया तथा वृहस्पति की सहायता से उसे पराजित कर उसकी सेना का वध कर डाला । एक अन्य सूक्त मे दक्षिण हाथ

मे वज्र धारण करने वाले इंद्र की स्तुति मे कहा गया है कि उन्होने ऋजिश्वा राजा के साथ कृष्णासुर की गर्भवती स्त्रियो का वध किया।[6] डॉ ब्रजेश्वर वर्मा ने अनुमान किया है कि कही यह कृष्णासुर और आगिरस कृष्ण एक ही तो नही है और आगिरस कृष्ण के पौत्र विष्णापु का वध कही इंद्र के साथ युद्ध मे ही तो नही हुआ था ?[7]

यद्यपि वैदिक परपरा के अनुसार इंद्र कृष्ण को पराजित करते है किंतु पौराणिक वैष्णव परपरा के अनुसार कृष्ण ने ही इंद्र को अनेक बार पराजित किया है। ऋग्वेद तथा परवर्ती पौराणिक परपरा मे इंद्र-कृष्ण सघर्ष के कारण ही वाल्टर रूबेन जैसे विद्वानो ने कृष्ण को आर्यविरोधी और अनार्य भी माना है।[8] सभव है ई पू 1100 के करीब वैदिक धर्म की पूजाविधि, याज्ञिक हिंसा और कठोर धार्मिक रूढिवाद के विरुद्ध नवीन सामाजिक परिवेश के अनुकूल वैचारिक क्राति का जो प्रयास कृष्ण ने किया, उसके परिणामस्वरूप अहिंसक और मानवतावादी भागवत धर्म का विकास हुआ। भागवत धर्म भी बौद्ध और जैन धर्मो की भाति बलिप्रधान ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया का फल है।[9] भागवत धर्म और उसके प्रवर्तक कृष्ण को लोकमानस की स्वीकृति मिलने पर भी परपरापूजक वर्ग का विरोध कायम रहा और इस विरोध के फलस्वरूप ही इंद्र कृष्ण-सघर्ष की कथाए रची गई। प्रारभ मे वैदिक धम की प्रबलता के युग मे इंद्र से कृष्ण की पराजय का आयोजन हुआ। किंतु बाद मे पौराणिक काल के सर्वाधिक महत्त्वपूण देवता कृष्ण से इंद्र की अनेक पराजयो की कथा लिखी गई। इंद्र-कृष्ण-सघर्ष का तात्पर्य है वैदिक रूढिवाद और स्वाभाविक आध्यात्मिक विवेकवाद का द्वंद्व।

'कौशीतकी ब्राह्मण' मे जो बुद्धदेव के पूर्व की रचना है,[10] कृष्ण आगिरस का उल्लेख है। छादोग्य उपनिषद (जिसका रचनाकाल 600 ई पू है) के अनुसार देवकीपुत्र कृष्ण घोर आगिरस के शिष्य थे। छादोग्य उपनिषद मे घोर आगिरस द्वारा अपने शिष्य कृष्ण को दिए गए उपदेश तथा श्रीमद्भागवतगीता मे वसुदेव कृष्ण के द्वारा अर्जुन को दिए गए उपदेश मे पर्याप्त वैचारिक साम्य है। छादोग्योपनिषद मे देवकीपुत्र कृष्ण द्वारा एक ही प्रकार के सिद्धातो का ग्रहण और व्याख्यान हुआ है। रायचौधरी का निष्कर्ष है कि कृष्ण ने अपने गुरु घोर आगिरस से इन सिद्धातो को सीखा और उसे अपने शिष्य भागवतो (अर्जुनादि) को सिखाया, जो भगवतगीता के केंद्रीय विचार है।[11] ऋग्वेद और छादोग्योपनिषद मे कृष्ण की उपस्थिति से यह प्रश्न उठता है कि क्या वैदिक सूक्त के रचयिता कृष्ण आगिरस और छादोग्य के घोर आगिरस के शिष्य देवकीपुत्र कृष्ण एक ही व्यक्ति थे ? भडारकर का मत है[12] कि यदि कृष्ण (ऋग्वेद) और घोर (छादोग्य) दोनो आगिरस थे तो इससे यह परिणाम निकलता है कि कृष्ण के ऋषि होने की परपरा ऋग्वेद के मत्रो की रचना के समय से लेकर छादोग्योपनिषद के रचनाकाल तक चली आई और

उस समय कार्ष्णायन नाम का कोई गोत्र वर्तमान था, जिसके मूल पुरुष कृष्ण थे। वासुदेव के आराध्य देव बन जाने पर जब कृष्ण और वासुदेव दोनो मिलकर एक वासुदेवकृष्ण हो गए तो उन्हे कालातर मे कृष्ण कुल के वश-वृक्ष मे भी स्थान मिल गया। वासुदेव का व्यक्तिवाचक सज्ञा होना और कृष्ण का एक गोत्र नाम होना, बौद्धो के 'घटजातक' और 'महाडमग्ग जातक' के विवरणो से भी प्रमाणित होता है। कृष्ण-परपरा की चिंतन-प्रक्रिया के विकास के फलस्वरूप बाद मे वासुदेव के व्यक्तित्व और आध्यात्मिक दृष्टिकोण का सघात देवकीपुत्र कृष्ण के सपूर्ण ज्ञान मे हो गया, जिसमे कृष्ण के ऋषित्व, उपदेशक और वासुदेव के मानवीय और देवत्व रूप तथा गुण आदि का समुच्चय उपस्थित हुआ।

बौद्ध और जैन साहित्य मे श्रीकृष्ण

घटजातक (तीसरी शती ई पू) मे उपसागर और देवगब्भा के दो बडे लडको का नाम वासुदेव और बलदेव है।[13] इसके गद्य भाग मे अन्य नामो का सकेत नही है किंतु उससे सलग्न पद्य मे केशव और कण्ह का उल्लेख है। प्रथम पद्य की टीका मे कहा गया है कि कण्ह गोत्र नाम है और उसका सबध कण्हायन गोत्र से है। महा उमग्ग जातक की टीका मे एक स्थल पर वासुदेव कण्ह की विशेष प्रिया रानी जाबवती का सकेत है। कृष्ण की प्रिया जाबवती के वैवाहिक सबध का उल्लेख श्रीमद्भागवत आदि पुराणो मे हुआ है। ब्रजभाषा के कृष्ण साहित्य मे कृष्ण को अनेक स्थलो पर कान्ह और कन्हैया भी कहा गया है। सभव है यह परवर्ती विस्तार पूर्ववर्ती सकेत-सूत्रो के आधार पर ही हुआ हो।

जैन परपरा मे कृष्ण अरिष्टनेमि या नेमिनाथ (22वें तीर्थंकर जो 23वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ के निकट पूर्ववर्ती थे) के समकालीन बतलाए गए है। चूकि पार्श्वनाथ की स्थिति 817 ई पू मे मानी जाती है इसलिए निश्चय ही श्रीकृष्ण 9वी शताब्दी ई पू के पूर्वार्द्ध मे लोकप्रसिद्ध रहे होगे।

भागवत धर्म और वासुदेव कृष्ण

वैदिक परपरा के नाम पर प्रचलित रूढिवाद, याज्ञिक हिंसा और विधि-विधान से आबद्ध शास्त्रीय धर्म के स्थान पर सहज मानवीय धर्म के स्वाभाविक विकास का परिणाम भागवत धर्म का उदय है। भागवत धर्म के प्रारभिक आचार्यों ने यद्यपि वैदिक विधि, यज्ञ या बलिप्रथा की खुलेआम निंदा नही की किंतु एक ऐसे धर्म-सिद्धात को विकसित करने का प्रयास किया, जिसमे अहिंसा पर बल दिया गया था। यह भागवत धर्म पाचरात्र, एकातिक, नारायण, वासुदेव, सात्वत धर्म आदि अनेक नामो से अभिहित किया गया है। वैष्णव धर्म इस भागवत धर्म का ही विकसित रूप है जो अनेक आध्यात्मिक चितनधाराओ और उपासना-पद्ध-

तियो के सयोग से निर्मित है। इस समन्वयवादी धर्म की स्थापना मे मुख्यत तीन धार्मिक सिद्धातो का योगदान है।[14] (1) व्यूह सिद्धात, जिसके द्वारा वासुदेव-पूजा का सकषण पूजा से सयोग और भागवत धर्म का उदय हुआ, (2) अवतार-वाद, जिसके द्वारा भागवत धर्म और विष्णुनारायण-पूजा के सयोग से वैष्णव धर्म का विकास हुआ, (3) पुरुष-प्रकृति सिद्धात, जिससे वैष्णव धर्म मे श्रीतत्त्ववाद का समावेश हुआ । वासुदेव-पूजा का अस्तित्व प्राचीन है। भागवत निश्चय ही वासुदेव के भक्त थे और वासुदेवको के रूप मे वासुदेव-पूजा का प्रारभ पाणिनि के पहले ई पू 5वी शताब्दी मे हो गया था।[15] तैत्तिरीय आरण्यक के दशम प्रपाठक मे जो विष्णु गायत्री दी गई है उसमे नारायण, वासुदेव तथा विष्णु को एकत्र कर दिया गया है—'नारायण विद्महे, वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णु प्रचोदयात्।' यहा वासुदेव विष्णु का एक नाम है। रायचौधरी के अनुसार तैत्तिरीय आरण्यक का अतिम अश परवर्ती रचना है तथा विष्णु का वासुदेव नाम किसी सहिता, ब्राह्मण ग्रथ या प्राचीनतम उपनिषदो मे नही आता है।[16] किंतु तैत्तिरीय आरण्यक का समय रायचौधरी के ही अनुसार ई पू तीसरी शताब्दी से बाद का नही हो सकता, क्योकि आपस्तब के पहले की यह रचना है और आपस्तब का समय डॉ बूलर के अनुसार भाषा वैज्ञानिक आधार पर किसी प्रकार ई पू तीसरी शताब्दी के बाद का नही है। इससे यह सिद्ध होता है कि ई पू तीसरी शताब्दी मे विष्णु और वासुदेव का ऐक्य स्थापित हो चुका था। गीता मे वासुदेव वृष्णिवशोद्भूत कहे गए है—'वृष्णीना वासुदेवो स्मि।' वृष्णिवश का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी और कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे है। तैत्तिरीय सहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण और जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण मे भी वृष्णि का उल्लेख है।[17] इस प्रकार वृष्णिवश और उसमे उत्पन्न होने वाले वासुदेव कृष्ण की प्राचीनता प्रमाणित है । सात्वत वृष्णि जाति का ही दूसरा नाम है जिसके वासुदेव सकर्षण, अनिरुद्ध आदि सदस्य थे और उन सात्वतो का अपना धर्म था, जिसमे वासुदेव सर्वोच्च सत्ता के रूप मे पूजित थे।[18]

वासुदेव पूजा और भागवत धर्म का ऐतिहासिक आधार बौद्ध ग्रथ निद्देश और घटजातक मे उपलब्ध है। 400 ई पू के निद्देश मे वासुदेव और बलदेव की पूजा और अर्चना का स्पष्ट कथन हे। बौद्ध घटजातक मे उपसागर और देवगभा के दो बडे लडको का नाम वासुदेव और बलदेव है। घटजातक की देवगभा और छादोग्योपनिषद की देवकी सभवत एक ही हैं। इसलिए बौद्ध परपरा के अनुसार देवकीपुत्र वासुदेव कृष्ण की पूजा की प्राचीनता सिद्ध होती है। निद्देश के अनुसार वासुदेव और वलदेव दोनो की पूजा, और अर्चना के उल्लेख से भागवतो या पाच-रात्रो के व्यूह सिद्धात की प्राचीनता का भी सकेत मिलता है। इसके साथ ही व्यूह सिद्धात की विस्तृत व्याख्या महाभारत के शातिपर्व के नारायणीय अश मे देखने

को मिलती है।

ई पू चौथी शताब्दी मे चद्रगुप्त मौर्य के काल मे भारत आने वाले ग्रीक राजदूत और भ्रमणकारी मेगस्थनीज तथा एरियन के लेखो से वासुदेव कृष्ण की पूजा का प्रमाण मिलता है। मेगस्थनीज ने लिखा है कि 'हेराक्लीज की शौर-सेनोयी राष्ट्र वाले विशेष पूजा करते थे।' उस लेख के अनुसार शौरसेनोयी राष्ट्र मे मेथोरा और क्लेइयोसोओरा दो बडे नगर थे जिनके बीच मे जोवारो नामक बडी नदी थी। भडारकर ने हेराक्लीज को वासुदेव कृष्ण, शौरसेनोयी को शूरसेन वश या सात्वत, मेथोरा को मथुरा और क्लेइयोसोओरा को कृष्णपुर तथा जोवारे को यमुना नदी माना है।[19] कनिघम का भी मत है कि केशोपुरा ही वह स्थान है जिसका नाम एरायन ने किलसोवोरा या केसोबोरा और प्लिनी ने किलसोबोरा लिखा है।[20] मथुरा और आसपास की खुदाई से मिले पुराण नामक प्राचीन भारतीय सिक्के, खडित बौद्ध तोरण और अनेक अन्य वस्तुओ से कृष्णपुरा, केसवपुरा या किलसोबोरा का ई पू चौथी शताब्दी मे अस्तित्व प्रमाणित है।[21] मथुरा के सग्रहालय मे कुषाण काल की एक वासुदेव कृष्ण की चतुर्भुजी मूर्ति है जो कृष्ण की प्राचीनतम मूर्ति है। पतजलि के महाभाष्य मे भी मथुरा का उल्लेख मिलता है।

मथुरा मे वासुदेव कृष्ण की पूजा का प्रचार ई पू चौथी शताब्दी के बहुत पहले ही सभावित है। ई पू दूसरी शताब्दी के वैसनगर (ग्वालियर) के शिलालेख मे ग्रीक राजा एटियाल्किडस के राजदूत हिलियोडोरा द्वारा वासुदेव के गरुड-ध्वज की स्थापना का उल्लेख है। इसमे हिलियोडोरा अपने को भागवत कहता है। इस शिलालेख से भागवत धर्म और कृष्ण वासुदेव की महत्ता और प्राचीनता का प्रमाण मिलता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि ई पू दूसरी शताब्दी तक वासुदेव कृष्ण का देवत्व स्थापित हो चुका था। वासुदेव के लिए इस शिलालेख मे प्रयुक्त 'देव-देव' विशेषण से देवकी पुत्र कृष्ण के अध्यापन-शिक्षा मे घोर आगिरस द्वारा उद्धृत ऋग्वेद मे सूर्य के लिए प्रयुक्त विशेषण 'देव देवत्रा' की तुलना की जा सकती है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इस शिलालेख के कुछ पहले ही वासुदेव कृष्ण सर्वोच्च देवता के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुके थे, भागवत धर्म लोक धर्म बन चुका था और उसकी सहज मानवतावादी प्रकृति के कारण शक, यवन एव आभीरो ने उसे अपने धर्म के रूप मे स्वीकार कर लिया था तथा वे अपने को भागवत या वासुदेवक कहने लगे थे, अन्यथा एक विदेशी किसी पराए दुर्बल धर्म या देवता से इतना शीघ्र प्रभावित नही हो सकता। इस गरुडध्वज से यह भी सिद्ध होता है कि वासुदेव के भक्त ही भागवत हैं और वासुदेव की पूजा ही भागवत धर्म है। एक तीसरा निष्कर्ष यह भी निकलता है कि ई पू दूसरी शताब्दी तक भागवत धर्म या वासुदेव कृष्ण की पूजा का प्रचार-प्रसार दूर-दूर तक हो चुका था।

ई पू दूसरी शताब्दी के राजपूताना के घोसुडी के शिलालेख मे सकर्षण

और वासुदेवपूजा का उल्लेख मिलता है। ई पू पहली शताब्दी मे नानाघाट शिलालेख मे सकर्षण और वासुदेव का द्वद्व समास के रूप मे प्रयोग है। ई पू दूसरी शताब्दी क पतजलि के महाभाष्य मे कृष्णवासुदेव की कथापरपरा के अनेक सूत्र उपलब्ध हे। पतजलि ने पाणिनि की अष्टाध्यायी मे आए हुए वासुदेव शब्द के अर्थचितन के सदर्भ मे माना है कि पाणिनि के लिए वासुदेव एक क्षत्रिय व्यक्ति ही नही, बल्कि एक पूज्य देवता भी हैं। भडारकर का मत है कि महाभाष्य मे आए वासुदेव अवश्य ही वृष्णि कुल क वासुदेव है।[22] महाभाष्य मे कृष्ण द्वारा कसवध की कथा का रगमच पर अभिनय होने का भी उल्लेख है। उसम 'चिर हते कस' कहने से ऐसा लगता है कि कृष्ण द्वारा कस के मारे जाने की कथा पतजलि के बहुत पहले स प्रचलित थी। महाभाष्य मे ही दो स्थलो पर अलग-अलग कृष्ण और वासुदेव के द्वारा कसवध का स्पष्ट कथन है। इन दोनो स्थलो की तुलना से स्पष्ट है कि पतजलि के बहुत पहले से ही कृष्ण और वासुदेव एक ही व्यक्ति के रूप मे लोकप्रसिद्ध और लोकस्वीकृत थे।[23] महाभाष्य मे ही कृष्ण के मित्र और सहायक के रूप मे बलराम भी आए हैं, जिसका सकेत घोसुडी के शिलालेख मे है। महाभाष्य मे ही कृष्ण के लिए केशव सज्ञा का प्रयोग है जिससे कृष्ण से नारायण विष्णु के तादात्म्य की सूचना मिलती है क्योकि बोधायन धर्मसूत्र मे केशव नारायणविष्णु की उपाधि थी।[24] महाभाष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ई पू दूसरी शताब्दी के पहले ही कृष्णकथा पर्याप्त विकसित हो गई थी, जिसमे कृष्ण को देवत्व प्राप्त था, वासुदेव और नारायण-विष्णु से कृष्ण का तादात्म्य स्थापित था, कृष्ण-बलराम का सयुक्त क्रिया-शील रूप लोकप्रचलित था और कृष्ण द्वारा कसवध की कथा भी जनसामान्य मे प्रचलित थी।

महाभारत के पहले का साहित्य 'मानव' कृष्ण के विषय मे मुखर है। बौद्ध और जैन परपराओ से भी वासुदेव का मानवश्रेष्ठ रूप प्रतिपादित है। कृष्ण अवश्य ही बुद्धदेव के पूर्ववर्ती एक ऐतिहासिक व्यक्ति जान पडते है। हिंदू, जैन और बौद्ध परपराए इस तथ्य से सहमत हैं कि वासुदेव कृष्ण मथुरा राजवश (यादव, वृष्णि या सात्वत) के वशज थे। उनके पिता का नाम उत्तरायन धर्म-सूत्र और महाभारत के अनुसार वसुदेव, पुराणो (मत्स्य और वायु) के अनुसार वसुदेव, आनक दुदभी और घटजातक के अनुसार उपसागर है। उनकी माता का नाम देवकी ह, क्योकि छादोग्य उपनिषद, महाभारत, उत्तरायन धमसूत्र, स्क द-गुप्त के भीतरी स्तभ मे यह प्रमाणित है। बलदेव या सकर्षण नाम के उनके एक सखा और भाई का उल्लेख महाभारत, जातक, उत्तरायन धमसूत्र और पतजलि के महाभाष्य मे है। कृष्ण और कस के सघर्ष की कथा जातक, महाभारत और महाभाष्य मे है। इस प्रकार कृष्ण निश्चय ही एक ऐतिहासिक महापुरुष सिद्ध

होते है।

महाभारत के युगप्रवर्तक श्रीकृष्ण

अत्यत प्राचीनकाल से महाभारत भारतीय साहित्य-परपरा का विशाल कोश और नवीन साहित्य-सर्जन का अक्षय स्रोत रहा है। महाभारत मे प्राणवान चरित्रो की बहुलता और कथाओ की विविधता का जो अद्वितीय सगम है, उससे कथा और चरित्र ग्रहण कर परवर्ती साहित्य-स्रष्टाओ ने अनेक मनोरम काव्य और नाटको की रचना की है। गीता महाभारत का एक अश है जो पूर्ववर्ती भागवत धर्म और परवर्ती वैष्णव धर्म का आधार ग्रथ तो है ही, वह भारतीय दर्शन का काव्यात्मक विश्वकोश भी है। महाभारत मे परिशिष्ट के रूप मे पौराणिक कृष्णकथा के बीजत्व को छिपाए हुए हरिवश है। महाभारत मे भारतीय सभ्यता की प्रधानत बुद्धिवादी मन स्थिति का काव्यात्मक निदर्शन है।

भारतीय वाड्मय का स्रोत ग्रथ होने के बावजूद महाभारत के काल और रूप आकार की अनिश्चितता बौद्धिक ऊहापोह का विषय रही है। कुछ विद्वान व्यास का आविर्भाव काल ई पू 3800 मानते है, किंतु हस्तिनापुर के उत्खनन से प्राप्त सामग्री के आधार पर के एम मुशी ने व्यास का समय 950 ई पू माना है।[25] कुछ विद्वानो के अनुसार पाणिनि और आश्वलायन के पूर्व महाभारत का अस्तित्व था।[26] अनेक विद्वान महाभारत मे 'यौन' शब्द को देखकर महाभारत की प्राचीनता के विषय मे शका करते हैं, किंतु यवन शब्द का प्रयोग पाणिनि के काल से उपलब्ध है। पाणिनि ने यवनानि की व्याख्या करते हुए उसे यवनो (यूनानियो) की लिखावट माना है। मेगस्थनीज के लेख से यह स्पष्ट है कि ई पू चौथी शताब्दी के भी पहले भारत और यूनान का सबध था। अशोक के शिलालेख और बेसनगर के स्तभ-लेख मे योनराज और योन दूत का उल्लेख है।[27] इसलिए यवन या यौन शब्द की उपस्थिति के कारण महाभारत की प्राचीनता मे शका करना उचित नही है। महाभारत के ही एक अश भगवद्गीता का समय ई पू 400 से 300 के बीच माना जाता है।[28]

महाभारत एक विकासशील महाकाव्य है और ऐसे महाकाव्य बराबर परिवर्तित और परिवर्धित होते रहते हैं। ऐसे महाकाव्यो के रूप और आकार मे परिवर्तन अवश्यभावी है। सभवत मूल महाभारत लघु आकार मे 'भारत' हो, किंतु अपने विकसित दीर्घाकार मे 'महाभारत' बन गया हो। महाभारत मे क्रमश कथाए जुडती गई है। प्राय सभी विद्वान इस बात से सहमत हैं कि महाभारत का वर्तमान रूप ई पू पाचवी शताब्दी मे स्थिर हो गया था और वह धर्मशास्त्र के समान लोकश्रद्धा का विषय बन चुका था। इसके बाद उसके रूप आकार मे परिवर्तन की कोई सभावना नही रही।

महाभारत मे कृष्णकथा के अनेक तत्त्व और सूत्र सुरक्षित हैं। इसमे कृष्ण का मानवीय रूप ही अधिक प्रकट है, किंतु उनके देवत्व की भी आभा विद्यमान है। महाभारत मे पूर्ववर्ती आध्यात्मिक-धार्मिक तत्त्व-चितन का समाहार है, जिसमे विष्णु और कृष्ण, नारायण और विष्णु, नारायण और वासुदेव कृष्ण तथा वासुदेव और कृष्ण का ऐक्य प्रतिपादित है। इसके फलस्वरूप परवर्ती काल मे कृष्ण के लीलावपु के विकसित रूप मे विष्णु, नारायण और वासुदेव की विभिन्न उपाधियो, विशेषणो और दार्शनिक तत्त्वो का समुच्चय हो गया है। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान मे भागवत धर्म या पाचरात्र मत की विस्तृत व्याख्या है। नारायणीय उपाख्यान मे अनेक कथाओ और अतर्कथाओ के माध्यम से पाचरात्र मत, व्यूह सिद्धात, वैष्णव धर्म की अहिंसाभावना तथा श्रीकृष्ण, शिव, विष्णु और नारायण आदि के एकात्म्य स्थापना के द्वारा उदार धार्मिक भावना के विकास का प्रशस्त पथ उद्घाटित हुआ है। नारायण ने पाचरात्र मत या वासुदेव धर्म का जो उपदेश दिया है उसमे व्यूह सिद्धात भी प्रकट है।

उपदेश का साराश है 'जो नित्य अजन्मा और शाश्वत है, जिसे त्रिगुणो का स्पर्श नही, जो आत्मा प्राणीमात्र मे साक्षी के रूप मे रहता है, जो चौबीस तत्त्वो से परे पचीसवा तत्त्व है, जो निस्पृह होकर ज्ञान से ही जाना जा सकता है, उस सनातन परमेश्वर को वासुदेव कहते है। वह सर्वव्यापक है। प्रलयकाल मे वासुदेव के सिवा कुछ नही रहता है। पच महाभूतो का शरीर बनता है और उसमे अदृश्य वासुदेव सूत्र रूप मे तुरत प्रवेश करता है। यह देहवर्ती जीव महासमर्थ है और शेष तथा सकर्षण उसके नाम हैं। इस सकर्षण से मन उत्पन्न होकर सनतकुमारत्व अर्थात जीवन मुक्तता प्राप्त करता है। उस मन को प्रद्युम्न कहते है। इस मन से कर्ता, कारण और कार्य की उत्पत्ति होती है और चराचर जगत का निर्माण होता है, इसी को अनिरुद्ध कहते है और यह ईशान भी कहलाता है। सब कर्मो मे व्याप्त होने वाला अहकार यही है। जो निर्गुणात्मक क्षेत्रज्ञ भगवान वासुदेव जीव-रूप मे अवतार लेता है, वह सकर्षण है। सकर्षण से जो मन-रूप मे अवतार होता है, वह अनिरुद्ध है और वही अहकार और ईश्वर है।'[29] यहा वासुदेव कृष्ण के रूप मे वासुदेव को अवतार माना गया है और प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और सकर्षण या बलराम को क्रमश मन, बुद्धि और जीव मानकर चतुर्व्यूह सिद्धात की स्थापना हुई है। इसे सात्वतो का धर्म भी कहा गया है। भडारकर का मत है कि गीता मे व्यूह सिद्धात की व्याख्या नही है इसलिए गीता के रचनाकाल तक व्यूह सिद्धात की स्थापना नही हो पाई थी।[30] वसुउपरिचर की कथा से वैदिक हिंसात्मक यज्ञ के स्थान पर अहिंसा की भावना का विकास द्योतित है।

नारायणीय उपाख्यान मे नारायण और वासुदेव का ऐक्य प्रतिपादित है। नारायण की धारणा और महत्ता का बीजारोपण तैत्तिरीय आरण्यक मे हुआ है

और उसमे ही नारायण वासुदेव और विष्णु का ऐक्य निर्देशित है। तैत्तिरीय आरण्यक निश्चय ही ई पू तीसरी शती के पहले की रचना है और इसमे नारायण विष्णु और वासुदेव का साम्य-सस्थापन एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। महाभारत के नारायणीय मे और अन्यत्र भी नारायण की व्याख्या नर-अयन, अर्थात् मनुष्यो का निवास स्थल या मनुष्यो का लक्ष्य स्थल है। न या नर का अर्थ वैदिक साहित्य मे मानव देवो से भी है, इसलिए नारायण देवो के भी लक्ष्य है। एक परपरा के अनुसार नारायण का सबध प्रलय-काल के पश्चात् उनके जल निवास से भी स्थापित किया जाता है। नारायण की धारणा परवर्ती ब्राह्मण ग्रथो और आरण्यको मे विकसित हुई है। शतपथ ब्राह्मण मे नारायण को सर्वत्र व्याप्त माना गया है और उन्हे सर्वोच्च सत्ता के गुणो से सपन्न बताया गया है।[31] नारायण का श्वेत द्वीप विष्णु के वैकुठ, शिव के कैलाश और गोपाल कृष्ण के गोलोक के समान है। भडारकर के अनुसार नारायण परवर्ती काल मे सर्वोच्च सत्ता के रूप मे प्रतिष्ठित हुए और वे वासुदेव के पूर्ववर्ती थे लेकिन, जब महाकाव्य काल मे वासुदेव पूजा का प्रारभ हुआ तो वासुदेव का नारायण से ऐक्य स्थापित हुआ। तैत्तिरीय आरण्यक के पूर्व वासुदेव के मानवरूप के प्रमाण है किंतु नर-नारायण की चर्चा ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के रचयिता दो ऋषियो के रूप मे हुई है। सभावना इस बात की अधिक है कि वासुदेव और नारायण दोनो भिन्न-भिन्न देवता हो और महाभारत-काल मे वासुदेव की पूजा की प्रधानता के कारण नारायण की विशेषताए वासुदेव के साथ जुड गई हो। नारायण के रूप मे नर की स्थिति की परपरा प्राचीन है। इस नर नारायण की धारणा मे आत्मा-परमात्मा या जीव और ब्रह्म का सामीप्य और सबध प्रकट है। श्वेताश्वतर उपनिषद मे एक ही वृक्ष पर बैठे दो पक्षियो के रूप मे जीव और ईश्वर का सबध, सामीप्य, सादृश्य और भेदाभेद निरूपित है

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते।
> तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ 4 । 6 ॥
> समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो नीशया शोचति मुह्यमान ।
> जुष्ट यदा पश्यत्यन्यमीशमस्यमहिमानमिति वीतशोक ॥4 । 7 ॥

महाभारत मे अनेक स्थलो पर अर्जुन और कृष्ण को नर-नारायण कहा गया है। अर्जुन और कृष्ण दोनो के महाभारत युद्ध मे साथ-साथ होने के बाद भी अर्जुन युद्ध मे सलग्न है और कृष्ण तटस्थ, अर्जुन मोहग्रस्त भी होते है किंतु कृष्ण के विराट स्वरूप के दर्शनोपरात वे शोकरहित हो जाते हैं।

नारायणीय उपाख्यान मे नारायण का कृष्ण के साथ ऐक्य-स्थापन अनेक रूपो में हुआ है। नारायण अपने चार व्यक्त रूपो मे नर, नारायण, हरि और कृष्ण के रूप में विद्यमान हैं। श्रीकृष्ण स्वय नारायण, रुद्र, वासुदेव, विष्णु, दामोदर,

केशव, गोविंद, और कृष्ण के ऐक्य का प्रतिपादन करते है, रुद्र नारायणस्वरूप ही है। 'अखिल विश्व की आत्मा मैं हू और मेरी आत्मा रुद्र है। मैं पहले रुद्र की पूजा करता हू, आप शरीर को ही नर कहते है, सब प्राणियो का शरीर मेरा आयन अर्थात निवास स्थान है इसलिए मुझे नारायण कहते है। सारे विश्व मे मैं व्याप्त हू और सारा विश्व मुझमे स्थित है, इसी से मुझे वासुदेव कहते हे। मैंने सारा विश्व व्याप्त लिया है अतएव मुझे विष्णु कहते है। पृथ्वी और स्वर्ग भी मैं हू, और अतरिक्ष भी मैं हू, इसी से मुझे दामोदर कहते है। चद्र, सूर्य, अग्नि की किरणे मेरे बाल है, इसलिए मुझे केशव कहते है। गो अर्थात पृथ्वी को मैं ऊपर ले गया, इसीसे मुझे गोविंद कहते है। यज्ञ का हविर्भाव मैं हरण करता हू, इसी से मुझे हरि कहते है, सत्वगुणी लोगो मे मेरी गणना होती है इसी से मुझे सात्वत कहते हे। लोहे का काला फल होकर मै जमीन जोतता हू और मेरा रग काला है, इसी से मुझे कृष्ण कहते है।'[32] कृष्णोक्त इस अश मे यद्यपि दामादर, गोविंद आदि की व्याख्या गोपाल कृष्ण की पौराणिक कथाओ मे प्रयुक्त नामो से भिन्न अर्थ की है, किंतु इससे इतना स्पष्ट है कि महाभारत काल मे कृष्ण का ईश्वरत्व स्थापित हो गया था और उनमे ईश्वर द्योतक विभिन्न उपाधियो और गुणो का समाहार हो गया था।

महाभारत मे कृष्ण और विष्णु के ऐक्य का प्रयास है। विष्णु वैदिक देवता है। यद्यपि वैदिक काल मे वे सर्वोच्च देवता नही थे किंतु ब्राह्मण काल मे उनका महत्त्व बढा हुआ प्रतीत होता है। ऐतरेय ब्राह्मण मे विष्णु को सर्वोच्च देव माना गया है। शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक मे भी विष्णु की कथाए हैं। मैत्रेय उपनिषद और कठोपनिषद मे विष्णु की महत्ता स्थापित है तथा विष्णु के स्थान को परम पद कहा गया है। महाभारत के अश्वमेध पर्व के अनुगीता मे कृष्ण के विराट रूप को वैष्णव रूप कहा गया है। गीता और अनुगीता मे विष्णु और कृष्ण वासुदेव का सामान्य लक्षणो के आधार पर ऐक्य स्थापित है। गीता और अनुगीता के बीच के काल मे अर्थात ई पू दूसरी शती के करीब वासुदेव कृष्ण और विष्णु का तादात्म्य स्थापित हो गया था। महाभारत के शातिपर्व मे युधिष्ठर की कृष्ण-स्तुति मे विष्णु और कृष्ण का ऐक्य व्यजित है।

महाभारत के कृष्ण ज्ञानी और कर्मठ रूप मे पाडवो के सखा, पथ-प्रदर्शक और सहायक सलाहकार के रूप मे उपस्थित है। आदिपर्व मे कृष्ण का पाडवो से परिचय हुआ है, उसी मे सुभद्रा-हरण का प्रसग है और खाडववन दाह का भी प्रसग है। सभापर्व मे राजसूय यज्ञ मे कृष्ण युधिष्ठिर के सलाहकार है। उसी पर्व मे शिशुपाल-कृष्ण-सवाद और कृष्ण द्वारा शिशुपाल के वध की घटना है। सभा पर्व मे ही शिशुपाल ने कृष्ण के बाल्यकालीन जीवन की चर्चा करते हुए उनको गोप कहा है तथा बचपन मे शकुनी और वृषभासुर के सहारक के रूप मे भी

कृष्ण की चर्चा की है। इस सवाद मे ही शकटभजन या शकटासुर वध की चर्चा है। इस कृष्ण-शिशुपाल-सवाद मे कृष्ण के बालजीवन की अनेक लीलाओ के सकेत सूत्र मिल जाते है। द्रौपदी ने अपनी सहायता के लिए कृष्ण को पुकारते हुए हरि, गोविंद, द्वारिकावासी, गोपीजनप्रिय आदि कहा है, जिससे गोपीकृष्णलीला और कृष्ण के द्वारिकावास का सकेत मिलता है। सभा पर्व मे ही कृष्ण द्वारा कस के वध की कथा का भी सकेत है। महाभारत मे प्राप्त कृष्ण की बाललीला सबधी चर्चाओ से यह स्पष्ट है कि महाभारत और भागवत के कृष्ण के व्यक्तित्व, चरित्र और लीला मे पर्याप्त समानता है और वे दोनो एक ही है, दो नही, जैसा कि कुछ विद्वानो का विचार है। सभापर्व के बाद कृष्ण वनपर्व, विराटपर्व, उद्योगपर्व मे पाडवो के सहायक के रूप मे विद्यमान है। भीष्मपर्व मे गीता का उपदश है। भीष्मपर्व से मौसलपर्व तक श्रीकृष्ण महाभारत युद्ध मे पाडवो के सहायक और सरक्षक थे। मौसलपव मे ही बहेलिए के तीर से कृष्ण के आहत होकर लीला-सवरण की घटना है।

महाभारत काल के अत मे और पुराण काल के प्रारभ मे श्रीकृष्ण के लीला-वपु के विकास मे निश्चय ही वैदिक साहित्य के विष्णु का दवत्व, ब्राह्मण ग्रथो और आरण्यको के नारायण का विश्वात्म और दार्शनिक रूप, छादोग्योपनिषद के श्रीकृष्ण का ज्ञानी रूप और महाभारत के पूर्ववर्ती ऐतिहासिक देवता वासुदेव के जीवन-चरित्र के अनेक तत्त्वो का सयोग वासुदेव कृष्ण के व्यक्तित्व मे हुआ है।

गोपाल कृष्ण की लीला का वैदिक आधार

यद्यपि गोपाल कृष्ण की ब्रजलीला का कोई प्रामाणिक उल्लेख प्राचीन साहित्य मे उपलब्ध नही है किंतु उसके सकेत सूत्र यत्र तत्र मिल जाते है। वैदिक साहित्य मे भी गोपाल कृष्ण की ब्रजलीला मे अतर्निहित धारणा और भावना का मूल स्थित है। इस अनुमान के पीछे यह आग्रह नही है कि प्रत्येक कथा का मूल वेद मे ही निहित है, बल्कि इसका आधार यह है कि हिंदू धार्मिक चितन पद्धति मे एक देवता का दूसरे देवता के साथ तादात्म्य स्थापित करने, परवर्ती को पूर्ववर्ती का अवतार मानकर बहुदेववाद के स्थान पर एकदेववाद की स्थापना करने और पूव-वर्ती देवताओ के गुणो तथा वैशिष्टय का परवर्ती देवता मे समाहार और समन्वय करके एक सर्वशक्तिमान सर्वोच्च देवता की धारणा विकसित करने की परपरा बहुत प्राचीन है।

वेद मानव-सभ्यता के विकास की ऐसी मन स्थिति की देन हैं जहा लोकजीवन से धार्मिक मान्यताओ और शास्त्रीय दार्शनिक चिंतन का पूर्ण पृथकत्व निरूपित नही हो पाया था। यहा देवता मे मानव एव मानव मे देवत्व का आरोप और अन्वेषण है। वेदो मे लोकजीवन का परिवेश है, प्रकृति है, उसकी विभिन्न लोक-

रक्षक तथा सहारक शक्तिया है और जनजीवन के सहयोगी और सहगामी देवता हैं। यह मानना उचित नही जान पडता कि वहा व्यक्ति नही है। वेदो मे प्राय व्यक्ति अपने कर्तृत्व के आधार पर देवत्वसपन्न हो गया है। यहा स्वय इद्र एक ऐतिहासिक व्यक्ति से एक आर्य वीर बने और फिर देवता हो गए।[33] निरुक्त के अनुसार वेदमत्रो की ऐतिहासिक, यौगिक, याज्ञिक और आध्यात्मिक चार प्रकार की व्याख्याए की जाती है।[34] इससे यह स्पष्ट है कि वेद की ऐतिहासिक व्याख्या प्राचीनकाल से होती रही है, और उसमे ऐतिहासिक तत्त्व विद्यमान है।

वैदिक वाड्मय मे गोपाल कृष्ण की ब्रजलीला के अनेक बीजतत्त्व मिल जाते है। गोपाल कृष्ण की कथा के मूल स्रोत वैदिक विष्णु की कथा मे है। ऋग्वेद मे विष्णु को 'गोपा' कहा गया है। विष्णु के स्थान पर बहुश्रृगा, तीव्र गति वाली गायो का निवास बताया गया है। गोपा विष्णु के साथ गायो के सबध का प्रभाव विष्णु के ही अवतार माने जाने वाले पौराणिक गोपाल कृष्ण के लीला-रूप के निर्माण पर अवश्य पडा होगा। महाभारत काल मे विष्णु का कृष्ण के साथ तादात्म्य हो गया था। अत वैदिक विष्णु की उपाधिया कृष्ण के साथ सयुक्त हो गई होगी। कालिदास के मेघदूत के 'गोप वेषस्य विष्णो' (पूर्वमेघ, 15) कथन से ऐसा लगता है कि कालिदास के समय मे विष्णु का गोपाल रूप जनसामान्य मे प्रचलित था। ऋग्वेद मे ही युवा विष्णु की चर्चा है 'युवा अकुमार' अर्थात जो अब बालक नही है। इस युवा अकुमार विष्णु से गोपाल कृष्ण का वृदावन-लीला मे अनेक स्थलो पर गोपियो की मनोकामना पूर्ण करने के लिए बालक से युवक बन जाने की कथा का सकेत मिलता है। ऋग्वेद मे विष्णु के हाथो शबर की पराजय की कथा है और गोपाल कृष्ण द्वारा भी शबर-वध की कथा पुराणो मे है। विष्णु के लिए प्रयुक्त बोधायन धर्म-सूत्र के गोविंद और दामोदर के ऋग्वेद, शिपिविष्ट और शतपथ ब्राह्मण के वामन आदि का प्रयोग महाभारत के कृष्ण की उपाधि या नामो के रूप मे हुआ है।

बोधायन धर्मसूत्र मे विष्णु को गोविंद और दामोदर कहा गया है। गोविंद का महाभारत मे अर्थ पृथ्वी के अन्वेषण और सरक्षण से है और दामोदर का अर्थ है 'सर्वत्र व्यापक'। भडारकर के अनुसार गोविंद 'गोविद' का परिवर्ती रूप है। 'गोविद' ऋग्वेद मे इद्र की उपाधि है और उसका अर्थ है—गाय का रक्षक। विष्णु की उपाधि के रूप मे प्रयुक्त गोविंद और दामोदर का प्रयोग गोपाल कृष्ण के लिए हुआ, लेकिन नवीन सदर्भ मे दोनो शब्दो के अर्थ बदल गए। सदर्भ परिवर्तन के कारण शब्दो के प्राचीन अर्थ मे परिवर्तन और नवीन अर्थ का विकास शब्दार्थ के विकास का सहज नियम है। पतजलि के महाभाष्य मे कृष्ण के केशव और बोधायन धर्मसूत्र मे विष्णु के लिए केशव का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि

ई पू दूसरी शताब्दी मे विष्णु का कृष्ण से तादात्म्य स्थापित हो गया था। इस-लिए कृष्ण के साथ विष्णु की प्राचीन उपाधिया जुड गईं। भडारकर का मत है कि वैदिक साहित्य मे इद्र के लिए प्रयुक्त केशीसूदन और गोविंद का प्रयोग पौराणिक काल मे कृष्ण के लिए होने लगा होगा।[35]

ऋग्वेद के अनेक मत्रो मे कृष्ण की ब्रजलीला से सबधित सभी नाम आ गए है। उसमे राधा, गौ, ब्रज, गोपी, कालीनाग, वृषभानु, रोहिणी, कृष्ण और अर्जुन आदि नाम आए है। यह ठीक है कि इन सभी शब्दो का ऋग्वेद मे वही अर्थ नही है, जो कृष्ण की ब्रजलीला मे है।[36] ऋग्वेद मे ये शब्द नामो के रूप मे प्रयुक्त नही हुए है। यहा राधा धन, अन्न और नक्षत्र का नाम है, गौ किरणे है और ब्रज है किरणो का स्थान। वेद मे देवताओ के नाम भी विशेषण या वर्णन ही ज्ञात होते है, किसी स्वतत्र व्यक्ति के नाम नही। कुछ विद्वानो का मत है कि वैदिक देव जीवित व्यक्ति नही थे, अपितु उनके नाम गुणवाचक सज्ञाए हैं। कृष्ण ने गीता मे अपने को आदित्यो मे विष्णु कहा है। वेदो मे विष्णु शब्द का प्रयोग सूर्य के अर्थ मे हुआ है। कृष्ण को विष्णु का अवतार मानने के कारण बार्थ आदि विद्वानो ने कृष्ण को सौर देवता माना है।[37] कृष्ण की सपूर्ण लीला की ज्योतिषपरक व्याख्या कुछ विद्वानो ने की है और उसमे राधा को नक्षत्र, कृष्ण को गोप और गोपी को तारा माना है। रूप गोस्वामी ने भी अपने नाटको मे राधा का तारक रूप स्वीकार किया है। यह सभव है कि वैदिक विष्णु की सौर प्रकृति का कृष्णलीला पर भी प्रभाव पडा हो। मुशीराम शर्मा का मत है कि ऋग्वेद के राधा, कृष्ण आदि शब्द ऐतिहासिक व्यक्तियो के नाम नही है, वेद के शब्द पहले है और ऐतिहासिक व्यक्ति बाद मे।[38] मनु के भी अनुसार ऐतिहासिक व्यक्तियो एव पदार्थों के नाम वेद के शब्दो को देखकर रखे गए है।

वेदो मे ब्रजलीला की खोज करते हुए नीरजाकात चौधरी ने नीलकठ सूरि की प्रसिद्ध हितहरिवश टीका मे उल्लिखित सभाव्य वेदमत्रो मे कृष्ण की ब्रजलीला की बात की है।[39] नीलकठ सूरि ने शकटभजन, पूतनावध और यमलार्जुन-उद्धार आदि कथाओ के मूल का अन्वेषण ऋग्वेद मे किया है।

ई पू तीन हजार वर्ष की मोहनजोदडो से प्राप्त एक मिट्टी-गुटिका मे अकित दृश्य को यमलार्जुन घटना का अनुमान करते हुए मैके ने लिखा है—'मै समझता हू कि इस दृश्य की तुलना भागवत के उस दृश्य से की जा सकती है जिसमे कुबेर के दो पुत्र नलकूवर और मणिग्रीव नारद के शाप से अर्जुन के दो वृक्षो के रूप मे बदल गए थे और जिन्हे कृष्ण ने यमलार्जुनोद्धार लीला के द्वारा शाप-मुक्त किया था। कृष्णलीला की यह कथा अनुमानत किसी अति प्राचीन कथा का अवशेष है।'[40] अगर मैके का यह अनुमान सही है, और यह तब तक सही है जब तक इस मिट्टी गुटिका की कोई दूसरी इतिहाससम्मत प्रामाणिक व्याख्या नही

होती, तो गोपाल कृष्ण की ब्रजलीला की एक कथा की प्राचीनता मोहनजोदडो से प्राप्त इस मिट्टी-गुटिका से सिद्ध होती है।

अनेक ऐतिहासिक प्रमाणो से वासुदेव कृष्ण और गोपाल कृष्ण का ऐक्य सिद्ध है। इन प्रामाणिक उल्लेखो का समय ई पू 600 से लेकर ई पू दूसरी शताब्दी तक है। इसलिए अनेक कृष्णो की कल्पना केवल कल्पना ही है। भडारकर का यह मत भी ठीक नही है कि गोपाल कृष्ण के जीवन-चरित्र पर क्राइस्ट के जीवन का प्रभाव है। श्री रायचौधरी ने अनेक कृष्णो की कल्पना और बाल कृष्ण के जीवन पर क्राइस्ट के प्रभाव सबधी आरोपो की निस्सारता इतिहासपुष्ट प्रमाणो के आधार पर सिद्ध की है। ई पू प्रथम शताब्दी के पहले से ही कृष्ण की बाल-लीलाओ का लोकजीवन मे प्रचार और समादर अवश्य था। घटजातक मे नद-गोपा का उल्लेख है। इसके अनुसार देवकीपुत्र कृष्ण का नद-यशोदा के यहा पालन-पोषण सिद्ध है। जातको का रचनाकाल ई पू तीसरी शताब्दी है। कृष्ण ने बचपन मे जो अलौकिक कर्म किए उनका उल्लेख ई पू प्रथम शताब्दी के कवि अश्वघोष के 'बुद्धचरित' मे मिलता है

आचार्यक योगविधौ द्विजानमप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम।
ख्यातानि कर्माणि च यानि शौरे शूरादयस्तेष्ववला वभूवु ॥ 1। 45॥

ई पू प्रथम शताब्दी के नाटककार भास ने बालचरित नाटक मे पूतना, सकट, कालियादमन, माखनचोरी आदि वृदावन से सबधित लीलाए दी हैं। महाकवि कालिदास ने मेघदूत और रघुवश मे श्रीकृष्ण का उल्लेख किया है बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णो (पूर्वमेघ, 15) तथा सकौस्तुभ हेप्यतीव कृष्णम् (रघुवशम्, 649)। कालिदास द्वारा उल्लिखित मोर-मुकुट सुसज्जित गोपवेश मे विष्णु और कौस्तुभ मणिधारी कृष्ण को गोपाल कृष्ण से भिन्न नही माना जा सकता है। ई पू प्रथम शताब्दी की प्राकृत रचना 'गाथा सप्तसती' मे राधा-कृष्ण लीला का सकेत है। 'गाथा सप्तसती' मे राधा का नाम आने के कारण ही अनेक विद्वान इसे परवर्ती रचना मानते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईसा की प्रथम शताब्दी के बहुत पहले ही गोपाल कृष्ण की ब्रजलीला लोकप्रसिद्ध थी।

भडारकर ने गोपाल कृष्ण की बाललीला और गोपीलीला का मूल आभीरो के बाल देवता और बालदेवी मे ढूढा है। भडारकर भारत मे आभीरो का आगमन ई सन् की प्रथम शताब्दी मानते हैं और गोपाल कृष्ण को ई सन् प्रथम शताब्दी के बाद मानते हैं।[41] रायचौधरी ने लिखा है कि 'अयर' (आभीर) तमिलनाडु मे ई सन की कई शताब्दी पूर्व आ चुके थे।[42] इसलिए आभीरो का भारत मे निवास प्राचीन है। आभीर जाति का अस्तित्व भारत मे ई सन के बहुत पहले से था और सभवत उनके किसी बाल देवता की कुछ कथाए कृष्ण के साथ सयुक्त हो गईं। एक विद्वान वाल्टर रूबेन ने कृष्ण की जीवनकथा पर ईरानी कीरो के जीवन का

प्रभाव माना है ।[43] लेकिन वाल्टर रूबेन के ही अनुसार पुराण और उसमे कृष्ण की कथा का अस्तित्व अत्यत प्राचीन है, इसलिए कृष्ण के जीवन पर कीरो के जीवन के प्रभाव को नही स्वीकार किया जा सकता ।

कुशाणकाल से ही कृष्ण और उनकी विभिन्न लीलाओ का अकन शिलालेखो और स्तभो मे हुआ है तथा कृष्णलीला का मूर्तिकला मे भी रूपायन हुआ है। अनेक भारतीय सम्राटो और सामतो ने भागवत धर्म के प्रचार-प्रसार और स्थायित्व के लिए शिलालेख और स्तभलेखो का सहारा लिया तथा अनेक कलाकारो ने कभी आत्मप्रेरणा से और कभी किसी राजा की प्रेरणा से मूर्तिकला और वास्तुकला मे कृष्णलीला का अकन किया । कुछ दिन पहले पटना के निकट कुषाणकाल की कृष्ण-बलराम आदि की अनेक मूर्तिया मिली हैं। राजस्थान मे प्राचीनकाल से शिलालेखो और मूर्तिकला मे कृष्णलीला की अभिव्यक्ति हुई है। मारवाड की प्राचीन राजधानी मडोर मे प्राप्त पाषाणस्तभो पर कृष्णलीला का निदर्शन है। प्रत्येक स्तभ को अनेक भागो मे विभक्त कर कृष्ण की विविध ब्रजलीलाए अकित हुई हैं। उसमे कृष्ण द्वारा मा यशोदा का दुग्धपान अत्यत सहज मुद्रा मे अकित है। शकटभजन, माखनचोरी, केशीवध, वृषभासुरवध, बलराम द्वारा प्रलबासुर-वध, कालियादमन आदि लीलाए उत्कीर्ण हैं। रायचौधरी के अनुसार मडोर की इन मूर्तियो का समय ई सन के बाद का नही है ।[44] गुप्तकालीन शिला-लेखो और स्तभलेखो आदि मे कृष्णलीलाए अकित है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ई सन के प्रारभ के पहले से ही गोपाल कृष्ण की लोकानुरजिनी मधुर लीलाओ का लोकजीवन मे अत्यत सम्मान और प्रचलन था। बारहवी शताब्दी के प्रारभ मे निर्मित कबोडिया के विशाल अकोरवाट मदिरो मे शिलापटो पर अकित गोपाल कृष्ण के यमलार्जुन-उद्धार, गोवर्धनधारण, दावानलपान तथा गोवर्धनपूजा आदि के दृश्य इस तथ्य के प्रमाण हैं कि बारहवी शताब्दी मे गोपाल कृष्ण की पूज्य लीलाओ का प्रचार-प्रसार कबोडिया तक हो गया था।

पुराण और कृष्णकथा

पुराणो मे प्राचीन और मध्यकालीन हिंदू धर्म और भारत की धार्मिक, दार्शनिक, सास्कृतिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक और सामाजिक जीवन की विभिन्न स्थितियो का विशद चित्रण है। मानव सभ्यता के सामाजिक जीवन मे प्रवेश काल की सपूर्ण सामाजिक स्थिति और व्यक्ति की मन स्थिति मिथकीय चेतना से प्रभावित होती है। उस काल मे मनुष्य प्रकृति के ससार मे जीता है। ऐसा लगता है कि दैवी शक्तियो के सकेत से ही प्रकृति, समाज और व्यक्तियो का जीवनक्रम तथा घटनाए निर्धारित होती हैं। मानव के विकास की ऐसी अवस्था

मे प्रकृति की अनुभूति प्रतीक बन जाती है। यथार्थ जीवन भी प्रतीकित हो जाता है, जिससे समाज मे मिथकीय चेतना विकसित होती है और शक्ति के प्रतीक देवो का प्रादुर्भाव होता है। पुराणो मे मनुष्य का मानसलोक भी उद्भासित हुआ है और उसके सामाजिक-प्राकृतिक परिवेश की भी अभिव्यक्ति हुई है। पुराणो मे विश्व की उत्पत्ति, सृष्टि के विकास और मानव-सभ्यता के विकासक्रम की चर्चाए हैं।

पुराण यो तो प्राचीनता के द्योतक हैं, लेकिन उनकी प्राचीनता सदिग्ध है। अथर्ववेद मे 'पुराण' शब्द है परतु उसका रूप निश्चित नही है। शतपथ ब्राह्मण मे पुराण कथा की एक भगिमा है। वृहदारण्यक से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस काल मे पुराण, वेदो, उपनिषदो और सूत्रग्रथो के समान ही महत्त्वपूर्ण थे। छादोग्योपनिषद मे पुराण पचम वेद के रूप मे माना गया है। भारतीय वाङ्मय के इतिहास से परिचित प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि किसी भी शास्त्र या विद्या की महत्ता की पराकाष्ठा उसको वेदस्वरूप स्वीकार करने मे है। अत छादाग्योपनिषद के समय तक, अर्थात ई पू 600 के करीब पुराण की महत्ता प्रतिष्ठित हो चुकी थी। प्राचीन काल से ही समाज की धार्मिक मान्यताओ के परिवर्तन के साथ ही पुराणो के रूप और आकार मे भी परिवर्तन होता रहा है। पुराणो के रूप, आकार और विषय मे तब तक परिवर्तन-परिवर्धन हुआ जब तक वे पवित्र धर्मग्रथ के रूप मे स्वीकृत न हो गए। वस्तुत पुराण विकसनशील साहित्यरूप है। सपूर्ण पुराणो का रचनाकाल एक ही नही है। कई पुराणो के विभिन्न भाग भिन्न-भिन्न कालो मे रचे गए ज्ञात होते हैं। कुछ पुराणो के प्राचीन रूप महाभारत काल और मेगस्थनीज के समय मे निर्मित हो गए थे। पुराणो का अस्तित्व ई सन के प्रारभिक काल मे माना जाता है। पद्मपुराण, भविष्यपुराण, और ब्रह्मपुराण का समय 475 ई से पहले माना जाता है। पुराणो का अस्तित्व डॉ हरवशलाल शर्मा ने ई पू पाचवी शताब्दी माना है।[45]

प्रो रायचौधरी का विचार है कि कृष्णकथा के गायक पुराणो का समय चतुर्थ शताब्दी के पहले का नही हो सकता, लेकिन वे पाचवी शताब्दी के परवर्ती भी नही माने जा सकते, क्योकि महाभारत के अत मे अठारह पुराणो का उल्लेख है और महाभारत का वर्तमान रूप छठी शताब्दी तक पूर्ण हो चुका था।[46] यह सभव है कि गुप्तकाल तक सभी वैष्णव पुराणो का वर्तमान रूप पूर्ण हो चुका होगा, क्योकि अनेक ऐतिहासिक प्रमाणो से यह सिद्ध होता है कि गुप्तकाल के भागवत धर्म के स्वरूप और पुराणो के वैष्णव धर्म के रूप मे पर्याप्त सैद्धातिक और व्यावहारिक साम्य है। रायचौधरी ने गुप्तकाल के वैष्णव धर्म की प्रकृति और विशेषताओ को ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर निरूपित किया है। राय-

चौधरी ने माना है कि गुप्तकाल मे निश्चित रूप से कृष्ण का विष्णुनारायण के साथ तादात्म्य स्थापित हो चुका था और कृष्ण विष्णु के पूर्ण अवतार मान लिए गए थे। इस काल मे अवतारवाद की धारणा का चरम विकास हो चुका था और सभी अवतारो की चर्चा हुई थी। व्यूह सिद्धात का क्रमश लोप हो रहा था। लक्ष्मी की पूजा प्रचलित हुई थी, लक्ष्मीनारायण की आराधना लोकप्रचलित थी, जिससे राधाकृष्ण की लीला भावना के विकास मे योगदान मिला।

क्या पुराणो का धार्मिक चिंतन वैदिक आध्यात्मिक चिंतन-परपरा का विकास है? अवतारवाद पौराणिक धर्मचिंतन का विशिष्ट तत्त्व है। भागवत-पुराण के अनुसार भगवान के अवतार तीन प्रकार के है (1) पुरुषावतार, (2) गुणावतार, और (3) लीलावतार। भागवत भगवान कृष्ण को अवतार नही, अवतारी मानता है। प्राय पुराणो मे विष्णु के दशावतारो का विवेचन हुआ है। इन दश अवतारो मे मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिह, और वामन पुरावृत्यात्मक (मिथिलाजिकल) अवतार है, 'परशुराम, राम, कृष्ण और बुद्ध' ऐतिहासिक अवतार है और कल्कि का अवतरण भविष्य के गर्भ मे है। दशावतार के सिद्धात मे मानव-सभ्यता के विकास की धारणा है। अवतार युग के सकल्प के प्रतीक है। वे युग की लोकचेतना की सयुक्त विधायिनी शक्ति के मूर्त रूप हैं।

पुराणो के पूर्ववर्ती साहित्य मे कृष्णकथा के जो बिखरे सूत्र यत्र-तत्र उपलब्ध होते है उन सबके सहयोग से पुराणकालीन कृष्णकथा का निर्माण हुआ है। मध्यकालीन भक्ति-साहित्य जिस रूपानद विग्रही राधाविलासरसिक कृष्ण की मधुर रससिक्त लीला से आप्लावित है, उसका एक आधार पौराणिक साहित्य भी है। ज्ञानी और कर्मठ कृष्णवासुदेव का ऐश्वर्यमय विग्रह प्राचीन है, किंतु यशोदा दुलारे, शिखपिच्छ किरीटिन, पीताबरावृत्त, मुरलीधर, वृदावनवासी कृष्ण पुराणो की ही देन है, जो भक्तो के भावो के एकमात्र आलबन हैं।

हरिवश पुराण महाभारत का परिशिष्ट होने के कारण प्राचीनतम माना जाता है। उसमे कृष्णकथा का विस्तृत वर्णन है। इसमे कृष्ण वासुदेव के एकत्व की स्थापना का प्रयास है। इस पुराण मे इद्र और कृष्ण के द्वद्व मे कृष्ण की श्रेष्ठता दिखाई गई है। हरिवश मे कृष्ण गौवो के राजा और इद्र के इद्र होने के कारण गोविंद कहे गए हैं। कृष्ण का निवास गोलोक सर्वोपरि और श्रेष्ठ बनाया गया है। हरिवश मे कृष्ण को विष्णु का अवतार भी कहा गया है। इस पुराण मे कृष्ण त्रिदेवो मे श्रेष्ठ हैं और उनकी शक्ति की महत्ता अक्षुण्ण है। हरिवश मे द्वारिकावासी कृष्ण और बलराम आदि यादवो की पिंडारयात्रा के समय जल-क्रीडा का अत्यत विलासमय वर्णन है और बलराम के सुरा-सुदरी प्रेम की विशद व्यजना है। कृष्ण-बलराम आदि यादवो की जलक्रीडा और जलविहार का ऐंद्रिक

वर्णन है। कृष्ण की कामक्रीडा और विलासलीला पर वाममार्गियो की चक्रपूजा के प्रभाव का अनुमान करते हुए डॉ व्रजेश्वर वर्मा ने लिखा है कि कदाचित ऐंद्रियभोगप्रवृत्त शाक्तो और तात्रिको को वैष्णवता की ओर आकृष्ट करने के उपाय के रूप मे कृष्ण की विलासलीला का यह वर्णन है जिसमे कालातर मे अलौकिकता और रहस्यात्मकता का समावेश हो गया।[47] हरिवश मे द्वारिकावासी कृष्ण की भाति ब्रजवासी कृष्ण कामकलापटु नही दिखाई देते। इसमे पूतनावध, शकटभग, यमलार्जुनोद्धार, नागलीला तथा गोवर्धनधारण आदि घटनाओ का वर्णन है। हरिवश मे यादवो की कामक्रीडा के अतिरिक्त उषा-अनिरुद्ध के सयोग का भी चित्रण है। क्या हरिवश मे रतिक्रीडा का जो पार्थिव और ऐंद्रिक वर्णन है, उसका प्रभाव मध्यकालीन हिंदी कृष्णभक्त कवियो के सयोग-वर्णन पर पडा है? हरिवश मे नारी को कामिनी के रूप मे ही प्रस्तुत किया गया है और उसमे भोगवासना तथा देहवाद की प्रधानता दिखाई देती है। किंतु स्त्री को भानु की प्रभा, अग्नि की शिखा, होता की वेदी मानकर तथा 'बलात भोगी हुई स्त्री दूषित नही होती' कहकर उसका सम्मान भी किया गया है। हरिवशपुराण के सयोग-वर्णन मे भक्तिकाल के उदात्त मनस्तत्त्व और सूक्ष्म आत्मतत्त्व का अभाव है। ऐसी स्थिति मे हिंदी के कृष्ण भक्तिकाव्य को हरिवश-पुराण का अनुकरण मानना उचित नही लगता।

विष्णुपुराण निश्चय ही एक पुराना पुराण है और इसका रचनाकाल पाचवी शताब्दी के करीब माना जाता है। विष्णुपुराण और ब्रह्मपुराण मे कृष्ण की कथा कुछ विस्तार से कही गई है। उनमे कृष्ण के जन्म तथा अवतार-वर्णन मे कृष्णावतार के कारण और उद्देश्य का विवेचन है। इनमे कृष्ण की बाल्यकाल की अनेक अद्भुत लीलाओ की चर्चा है। उनमे पूतनावध तथा अन्य राक्षसो के वध की कथाए है। इस पुराण मे श्रीकृष्ण की बाल और किशोर लीलाए वर्णित है। विष्णुपुराण और ब्रह्मपुराण के कुछ श्लोक मिलते-जुलते है। विष्णुपुराण मे शरद की रासलीला का आकर्षक वर्णन है। शिवपुराण मे कृष्ण शिव के भक्त के रूप मे चित्रित है। अग्निपुराण के बारहवे अध्याय मे कृष्णावतार की कथा सक्षेप मे कही गई है। नारदीयपुराण मे श्रीकृष्ण-माहात्म्य है। मार्कंडेयपुराण मे कृष्ण-लीला है। वामनपुराण, कूर्मपुराण आदि मे कृष्णचरित है, किंतु उसका विस्तार नही हुआ है। गरुडपुराण मे भी कृष्ण की अनेक लीलाए वर्णित है। ब्रह्माडपुराण और देवी भागवत मे श्रीकृष्ण की कथा की सक्षिप्त सूचना है। पद्मपुराण प्राचीन पुराणो मे से एक है। उसमे श्रीकृष्ण के दार्शनिक स्वरूप और लीलारूप का निदशन है, जिसमे श्रीकृष्ण को ब्रह्म से परे और राधा के साथ गोलोकलील विलासी कहा गया है। पद्मपुराण मे कृष्णकथा के आध्यात्मिक पक्ष की व्याख्या है और कृष्ण की विभिन्न लीलाओ का मनोरम उद्घाटन भी। गोपीवल्लभ कृष्ण

की लीला के विभिन्न तत्त्वो की दार्शनिक, आध्यात्मिक व्याख्या इस पुराण की विशेषता है। पद्मपुराण राधाकृष्ण की लीलाओ के कारण भक्तो के आकर्षण का केद्र रहा है। पद्मपुराण मे वृदावन, गोकुल, मथुरा आदि की आध्यात्मिक व्याख्या है और उनके माहात्म्य विवेचन के द्वारा कृष्ण के पूर्ण भगवानत्व या अवतारी रूप की स्थापना का प्रयास हुआ है। इसमे श्रीकृष्ण के सौदर्य का अत्यत भव्य और काव्यात्मक चित्रण है, जिसका मध्यकालीन कृष्णभक्ति साहित्य पर प्रभाव पडा है। बलराम का मद्यपान मे आसक्त रूप हरिवशपुराण की भाति इसमे भी है। इसमे शिव और कृष्ण की भक्ति का समन्वित रूप है, जो मध्यकालीन उदार भक्तिभावना के समान ही है। इसमे लीलासमुत्सुक श्रुतिरूपा गोपियो के साथ श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओ का वर्णन है जिसका प्रभाव सूर और अन्य लीला गायक कवियो पर पडा है।

सूर की अनेक गोपी-कृष्ण लीलाओ मे गोपियो को श्रुति कहा गया है। पद्मपुराण मे राधा-कृष्ण का प्रकृति-पुरुष के रूप मे दार्शनिक विवेचन है। इसमे राधा का बिबात्मक नखशिख रूप वर्णन है तथा गोपी भाव की उपासना का भी सकेत है। पद्मपुराण मे पच देवोपासना (विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणेश) का सकेत है। इसमे वैष्णव धर्म और कृष्णलीला की दार्शनिक और लीला रूप की विकसित अवस्था उपलब्ध है। राधा-कृष्णलीला मे साख्य के पुरुष-प्रकृति-सिद्धात का दार्शनिक आधार है और उस पर तात्रिको की लीला का भी प्रभाव है। राधा-कृष्ण के लीलावाद के विकास मे सहायक विभिन्न दार्शनिक आध्यात्मिक सप्रदायो के अनेक तत्त्वो का समाहार और सामजस्य पद्मपुराण मे हुआ है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण मे राधा-कृष्णलीला की विशद चर्चा हुई है। अनेक विद्वान इस पुराण को अत्यत अर्वाचीन मानते हैं तथा इसको बगाल की रचना भी सिद्ध करते है। इस पुराण मे राधा के रूप, चरित्र और लीला की दार्शनिक मीमासा तथा रसात्मक व्यजना हुई है, जिससे गौडीय वैष्णवों की भक्तिभावना और राधावाद के सिद्धात की स्थापना हुई है। ब्रह्मवैवर्तपुराण मे राधाकृष्ण की लीला मे साख्य की पुरुषप्रकृति, तत्रमत की शिवशक्ति और वैष्णव धर्म के लक्ष्मीनारायण का समन्वय हुआ है। इस पुराण मे कृष्णावतार के साथ-साथ राधा के अवतरण के कारणो की व्याख्या हुई है। अनेक स्थलो पर राधा-कृष्ण के अद्वैत भाव की विवेचना भी है। इस पुराण मे राधा और कृष्ण दोनो के नामो की दार्शनिक व्याख्या है। ब्रह्मवैवर्त की रचना के समय कृष्ण के स्वरूप मे ब्रह्मत्व और शिवत्व का विलय हो रहा था तथा उनका वैदिक देवता विष्णु और आरण्यक तथा ब्राह्मण ग्रथो के नारायण से तादात्म्य स्थापित हो रहा था। ब्रह्मवैवर्त पुराण मे राधा-कृष्ण के विवाह का आयोजन है। अत यह निश्चय ही बगाल मे राधा के परकीया रूप की स्थापना के पूर्व की रचना है। इसमे कृष्ण की बाललीलाए भी हैं।

मेघाच्छन्न झझावातपूर्ण वन से कृष्ण को घर पहुचाने के लिए राधा के मार्गदर्शन का उल्लेख ब्रह्मवैवर्त पुराण मे है। यह प्रसग गीतगोविंद तथा सूर-सागर मे भी है। इस पुराण मे कृष्ण की बाललीलाओ मे इनकी अलौकिक लीलाए भी हैं। रासलीला का अत्यत रसात्मक वर्णन इस पुराण मे है तथा कृष्ण का मथुरा गमन और उद्धव का व्रजागमन भी है। उद्धव-गोपी सवाद मे राधा की विरह गाथा है। विरहिणी राधा का अत्यत मार्मिक हृदयस्पर्शी शब्दचित्र इसमे उपलब्ध है। इस ब्रह्मवैवर्त पुराण मे राधावल्लभ कृष्ण की कथा आद्योपात अत्यत विस्तार मे गाई गई है।

श्रीमद्भागवत् पुराण कृष्णकथा का स्रोत और सपूर्ण मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति साहित्य का प्रधान उपजीव्य है। भागवत पुराण मध्यकालीन भक्ति साहित्य का एक प्रेरणा स्रोत रहा है। कृष्णभक्ति सप्रदाय के आचार्यों ने भागवत पुराण को प्रस्थानत्रयी—उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और गीता—के समकक्ष मानकर उसकी टीकाए और व्याख्याए की हैं। वल्लभ सप्रदाय मे भागवतपुराण प्रमाणचतुष्ठ्य के रूप मे स्वीकृत और समादृत है। भागवतपुराण का रचनाकाल विवाद का विषय है, किंतु डॉ हरवशलाल शर्मा का मत है कि इसका रचनाकाल छठी शताब्दी से नवी शताब्दी के बीच मे माना जा सकता है।[48] अधिकाश विद्वानो का मत है कि भागवतपुराण दक्षिण भारत की रचना है। भागवतपुराण मे राधा का अभाव है। सभवत राधा उत्तर भारत के मानस की सृष्टि है। भागवत मे इनका अभाव इस तथ्य की ओर सकेत करता है कि यद्यपि ई सन के प्रारभिक काल से ही उत्तर भारत मे सस्कृत और प्राकृत साहित्य तथा पद्मपुराण और वायुपुराण आदि मे राधा का उल्लेख है, किंतु आठवी-नवी शताब्दी तक दक्षिण भारत राधा के स्वरूप से अपरिचित था।

भागवत के विमर्श से यह निष्कर्ष निकलता है कि भागवतकार के मानस से महाभारत और उसकी कृष्णकथा विस्मृत नही है। इसलिए भागवतकार ने महाभारत की कृष्णकथा का सार-सग्रह भागवत के प्रारभ मे किया है, किंतु उसका लीलारसिक मन कृष्ण की रसवत वात्सल्य और कैशोर लीलाओ की मार्मिक व्यजना मे ही लीन हुआ है। भागवत के वृहद दशम स्कध के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो खडो मे कृष्ण की सपूर्ण लीला का अत्यत मनोयोगपूर्वक वर्णन है। रचनाकार की सहृदयता और प्रतिभा का उन्मुक्त विलास दशम स्कध के पूर्वार्ध मे ही प्रकट है। भागवत मे श्रीकृष्ण भगवान स्वय हैं तथा अवतार नही अवतारी है। इसमे श्रीकृष्ण की विविध लीलाओ की विशद व्यजना है, जिसमे उनका प्रेममय और ऐश्वर्यमय स्वरूप प्रकट हुआ है। कृष्ण की अनेक लीलाए मानवीय है, किंतु अधिकाश लीलाए अलोक सामान्य और रहस्यात्मक है। भागवत का प्रतिपाद्य श्रीकृष्ण का पूर्ण ईश्वरत्व ही है। इसका मूल स्वर भक्तिपरक है, यह भक्ति-ज्ञान

समन्वित है। भागवत के उद्धव केवल कोरे बौद्धिक और योगमूलक ज्ञानी नही है, बल्कि ज्ञानी भक्त है।

भागवत मे श्रीकृष्ण का जन्म नही, अवतरण होता है। वे अपने चतुर्भुजी ऐश्वर्यमय रूप मे अवतरित होते है और पुन बालक बन जाते है। इनका बचपन अलौकिक कर्मों और दिव्य लीलाओ से परिपूर्ण है। श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओ मे उनके मानव-विग्रह और ब्रह्मस्वरूप की व्यजना हुई है। भागवत की बाललीला मे पूतनावध, शकटभजन और अनेक अन्य असुरो के सहार की कथाए है। गोचारण, माखनचोरी, माटीभक्षण और यमलार्जुनोद्धार मे श्रीकृष्ण का अलौकिक रहस्यात्मक दिव्य स्वरूप प्रकट हुआ है। कृष्ण की बाललीला और अलौकिक कर्मों मे बलराम उनके सहयोगी है। श्रीकृष्ण की सपूर्ण लीलाओ मे उनके दो रूप है—(क) प्रेममय मानवीय रूप और (ख) ऐश्वर्यमय दिव्य रूप। बचपन से ही श्रीकृष्ण का दिव्य रूप उनके अवतरण से प्रकट होता है। उनका बचपन अलौकिक कर्मों और रहस्यात्मक लीलाओ से परिपूर्ण है। भागवतकार ने श्रीकृष्ण के बाल-रूप तथा बाललीलाओ मे प्राय उनका मानवीय रूप उपस्थित किया है किंतु वहा भी भागवतकार उनके ईश्वरत्व को नही भूलता है। गोप-गोपियो के बीच श्रीकृष्ण का जीवन लौकिकता और अलौकिकता का अद्भुत समन्वय है। गोचारण, दुग्धदोहन, माखनचोरी, गोपीमोहन, माटीभक्षण आदि मे श्रीकृष्ण का मानव रूप उद्घाटित है, लेकिन इस बीच मे ही उनके दिव्य स्वरूप की आभा भी विद्यमान है। कृष्ण और बलराम मानवीय और दैवी कर्मों मे परस्पर सहयोगी है। कालीयनाग दमन और दावानलपान करने वाले कृष्ण मोरमुकुटधारी और वशीधर भी हैं। श्रीकृष्ण वशी बजाकर गोपियो को आकर्षित करते हैं, नाद रूप को बाधता हैं। भागवत मे श्रीकृष्ण की बाल, पौगड, और किशोर लीलाओ का विशद चित्रण है। इसमे कृष्ण की चीरहरण लीला की आध्यात्मिक व्याख्या है।

भागवत मे अनेक प्रसगो के सहारे श्रीकृष्ण को देवाधिदेव सिद्ध करने का प्रयास है। ब्रह्मा द्वारा वत्स गोपहरण मे श्रीकृष्ण ब्रह्मा से श्रेष्ठ सिद्ध होते है। कृष्ण और इद्र के द्वद्व मे कृष्ण की श्रष्ठता प्रतिपादित है। श्रीकृष्ण द्वारा इद्र यज्ञ निवारण और गोवर्धनधारण में इनका ज्ञानी, कमठ, मानवीय रूप तथा अलौकिक शक्तिसपन्न दैवी रूप प्रकट हुआ है। इद्र की पूजा बद करने के कारणो की व्याख्या मे कृष्ण का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि जिसके द्वारा मनुष्य की जीविका सुगमता से चलती है, वही उसका इष्टदेव होता है। कृष्ण ने गोवर्धन-पूजा मे गोपपूजा की महत्ता स्थापित की है जो भारत की तदयुगीन कृषिप्रधान समाज-व्यवस्था के लिए विशेष उपयुक्त प्रतीत होती है।

रासलीला भागवत की श्रीकृष्णलीला का महत्त्वपूर्ण अग है। इसमे काव्यधर्म और धार्मिक काव्य का सतुलित समन्वय है। कुछ विद्वान रासपचाध्यायी को

प्रक्षिप्त मानते हैं किंतु अधिकाश विद्वान उसे भागवत का अनिवार्य अग मानते है। रासलीला मे सयोग शृगार के सपूर्ण अवयवो की व्यवस्था है। वहा प्रकृति उद्दीपक है, गोपियो का चित्त रति-भाव का उन्मुक्त क्रीडास्थल है, उनकी चेष्टाए और मुद्राए रसात्मक है और कृष्ण की रासोल्लसित क्रीडाए प्रत्यक्षत लौकिक होकर भी भागवतकार की व्याख्या के कारण आध्यात्मिक बन गई है। गोपिया अपने सपूर्ण अस्तित्व का कृष्णार्पण कर देती है और पूर्ण अपने अश को सहर्ष स्वीकार करता है। भागवत की रासलीला मे ही एक विशेष गोपी का उल्लेख है जिसको राधा माना जाता है। महारास गोपियो का कृष्ण से महामिलन है, पूर्ण मिलन है।

ब्रज की कमनीय रसमयी लीलाओ की चरम परिणति के पश्चात श्रीकृष्ण मथुरा गमन करते है, जहा उनका ऐश्वर्यमय रूप प्रकट हुआ है। ब्रज से मथुरा को उनका प्रयाण इच्छा से कर्म की ओर, सौदर्य से शक्ति की ओर, माधुर्य से ओज की ओर और भोग से साधना की ओर गतिशील होने का दिव्य आयोजन है। श्रीकृष्ण ने मथुरा मे कस का वध किया, अपने माता-पिता देवकी वसुदेव को कारामुक्त किया और उग्रसेन को राजा बनाया। मथुरा मे बाह्य सघर्षों के कम होने पर कृष्ण के अतर मे ब्रज की मधुर लीला की स्मृति जाग्रत होती हे और कृष्ण अपने सखा उद्धव को ब्रज भेजते है। इसके बाद भागवत मे गोपी-उद्धव सवाद मे भ्रमरगीत का आयोजन है, जिसका मध्यकालीन कृष्ण-भक्तिसाहित्य पर विशेष प्रभाव पडा है।

भागवत के दशम स्कध के उत्तरार्ध मे मथुरावासी कृष्ण के अत्यत सघर्षशील जीवन की झाकी मिलती हे। कसवध के उपरांत कृष्ण को अनेक बार जरासध से घोर युद्ध करना पडा और उन्होने बुद्धि-कौशल से कालयवन का विनाश कराया। मथुरावासी कृष्ण यहा द्वारिकावासी बन गए। द्वारिका मे उन्होने रुक्मिणी जाबवती, सत्यभामा आदि आठ रानियो से परिणय किया। इस बीच मे उषा-अनिरुद्ध प्रेमविवाह के प्रसग मे कृष्ण-बाणासुर और कृष्ण-शिव का युद्ध भी है जिसमे कृष्ण की शिव से श्रेष्ठता सिद्ध हुई है। इसके अनतर अनेक दुष्टो के दमन के बाद कृष्ण पाडवो के सखा और सहायक के रूप मे प्रकट हुए हैं। भागवत मे सुदामा-कृष्ण मैत्री का भी प्रसग है जिसका मध्यकालीन साहित्य मे विशेष उपयोग हुआ। इस प्रकार श्रीमद्भागवत मे कृष्णकथा पूर्ण विकसित रूप मे मिलती है।

राधावल्लभ श्रीकृष्ण

भक्ति आदोलन के विकास मे तीन मुख्य सहायक तत्त्व हैं उस काल के सामाजिक जीवन के नए परिवर्तन, आचार्यों का दार्शनिक चिंतन और भक्त कवियो की सृजनशीलता। जीवन के भौतिक और सामाजिक आधार के परिवर्तन, नए

सामाजिक सबधो के विकास और नए वर्ग सतुलन के कारण विचारधारा के स्तर पर नए परिवर्तन सभव हुए, सामतवाद विरोधी चिंतन और भावना के लिए नई जमीन तैयार हुई। भक्ति-दर्शन इसी नई ऐतिहासिक सामाजिक जमीन पर विकसित हुआ। दर्शन के आचार्यों ने अपने चिंतन से उसको सैद्धातिक रूप दिया। भक्त कवियो ने जनजीवन के नए यथार्थ और सामतविरोधी भावना की अभिव्यक्ति की। भक्तिकाव्य मे शास्त्रमत और लोकमत, दार्शनिक चिंतन और सहज भावना तथा जीवन की वास्तविकता और आध्यात्मिक चेतना की व्यजना है। कृष्ण-भक्तिकाव्य में वैराग्य, निष्क्रियतावाद, मायावाद आदि के बदले जीवन की विभिन्न दशाओ, स्थितियो, भावनाओ को विशेष महत्त्व दिया गया है। राधाकृष्ण की भक्ति मे जीवन का प्रेम भक्ति के रूप मे व्यक्त हुआ है।

मध्यकाल के भक्ति आदोलन और उसके काव्य मे राधा-कृष्ण के स्वरूप के विकास को देखने के पहले उसकी परपरा को देख लेना जरूरी है।

श्रीकृष्ण के राधावल्लभ स्वरूप का शास्त्रीय विवेचन नारद पाचरात्र मे उपलब्ध है। इसमे गोकुल मे कृष्ण की बाललीलाओ की व्यजना है और इसके एक अश ज्ञानामृतसार मे गोपीकृष्ण-लीला का वर्णन है। इसमे राधा सर्वेश्वरी हैं, गोपियो मे श्रेष्ठ हैं, कृष्णप्रिया हैं और मूल पुरुष के द्विधाविभक्त रूप का एक अश हैं। भडारकर ने नारद पाचरात्र के ज्ञानामृतसार को जोधपुर के निकट मडोर की गोपीकृष्ण-लीलाओ की मूर्तियो से साम्य के कारण चतुर्थ शताब्दी के बाद की रचना माना है।[49] लेकिन उसके राधावाद को देखकर ही भडारकर ने उसे वल्लभाचार्य का निकट पूर्ववर्ती अर्थात 16वी शताब्दी के प्रारभिक काल की रचना भी कहा है।[50] भडारकर ने इसमे व्यूह सिद्धात का अभाव और वल्लभ सप्रदाय के भक्ति-सिद्धात से साम्य देखकर ही इसे 16वी शताब्दी का ग्रथ होने का अनुमान किया है। वास्तव मे गुप्तकाल अर्थात चौथी-पाचवी शताब्दी मे ही व्यूह सिद्धात का लोप हो गया था। परम भागवत गुप्त सम्राटो के किसी शिलालेख मे व्यूहवाद की झलक नही है। गुप्तकाल के शिलालेखो मे व्यूह सिद्धात का पूर्णत अभाव है।[51] इसलिए नारद पाचरात्र मे व्यूह सिद्धात का अभाव उसको 16वी शताब्दी की रचना नही सिद्ध करता। जहा तक वल्लभाचार्य के भक्ति-सिद्धात के साम्य का सबध है तो केवल इस कारण से ही इसका काल निर्णय नही हो सकता, क्योकि वल्लभ सप्रदाय के भक्ति-सिद्धात का मूल स्रोत श्रीमदभागवत है, नारद पाचरात्र नही। वल्लभ सप्रदाय पर केवल निकट पूर्ववर्ती भक्ति ग्रथो का ही प्रभाव सभाव्य नही है, अत्यत प्राचीनकाल के भक्ति ग्रथो का भी प्रभाव सभव है। गाथासप्तशती और पचतत्र मे राधा तथा भास के नाटको मे बाललीला की उपस्थिति के उपरात चौथी-पाचवी शताब्दी मे नारद पाचरात्र की रचना आश्चर्यजनक नही है। वृहद्सहिता में राधाकृष्ण लीला की विवेचना हुई है।

सातवी-आठवी शताब्दी के अनतर राधावल्लभ श्रीकृष्ण काव्य और अन्य कलाओ की विषयवस्तु के रूप मे स्वीकृत हुए। आठवी शताब्दी की प्राकृत रचना 'गउडवहो' मे राधावल्लभ श्रीकृष्ण का उल्लेख मिलता है। दसवी शताब्दी के पुष्पदत के महापुराण मे श्रीकृष्ण की बाल और किशोर लीलाओ की सरस व्यजना है। प्राकृत पेगलम् मे राधाकृष्ण की लीला विषयक अनेक पद उपलब्ध हैं। बारहवी शताब्दी के हेमचद्र द्वारा सगृहीत अपभ्रश दोहो मे कृष्णलीला वर्णित है। सस्कृत मे आठवी शताब्दी के पूव के कवि भट्नारायण के वेणीसहार मे राधाकृष्ण का उल्लेख है। बारहवी शताब्दी तक अनेक काव्य और काव्यशास्त्रो के ग्रथो मे यत्र-तत्र राधाकृष्ण की चर्चा है। गुजरात के विल्वमगल, लीला शुक स्वामी ने 'कृष्णकर्णामृत' और 'बालगोपाल स्तुति' नामक रचनाओ मे कृष्णलीला का वर्णन किया है। बारहवी शताब्दी मे जयदेव ने 'गीतगोविंद' द्वारा राधाकृष्ण लीला और कृष्ण के राधावल्लम स्वरूप को साहित्य और लोकमानस मे पूर्णत प्रतिष्ठित कर दिया। चौदहवी और पद्रहवी शताब्दी के पश्चात कृष्ण-लीला का पूरा प्रकाश लोकभाषाओ मे दिखाई पडता है। इस बीच सपूर्ण भारतवर्ष का लोकमानस राधाकृष्ण की मधुर रससिक्त लीलाओ से रसमय हो गया था। लोकभाषा के कवियो ने कृष्ण की वशी की स्वरलहरी के साथ अपनी आत्मा के सगीत का तादात्म्य कर कृष्णलीला की शब्द और स्वर मे जो साधना की, उससे सगीत और काव्य दोनो कलाओ का चरम उत्कर्ष हुआ। कलाओ मे आध्यात्मिकता और लोक सहज मानवीयता के समन्वय से आत्मोल्लास का जो ललित महोत्सव मध्यकाल मे उपलब्ध है, वह अन्यत्र दुलभ है। भक्ति आदोलन के काल मे अखिल भारतीय स्तर पर सभी आधुनिक भारतीय भाषाओ मे सर्वाधिक काव्यरचना कृष्णभक्ति को लेकर हुई। जीवन की स्थितियो, दशाओ और भावनाओ के अनुरूप होने के कारण ही कृष्णभक्ति कविता का मुख्य विषय बन गई।

महाकवि विद्यापति मध्यकाल के पहले ऐसे कवि हैं जिनकी पदावली मे जन-भाषा मे जनसस्कृति की अभिव्यक्ति हुई है। विद्यापति अपभ्रश काव्यपरपरा के अतिम महत्त्वपूर्ण कवि हैं और लोकभाषाओ के पहले महान कवि। 'कीर्तिलता' मे उनका पहला रूप है और मैथिली मे रचित पदावली मे उनका दूसरा रूप दिखाई देता है। लोकभाषा मे कृष्णकाव्य परपरा के निर्माता के रूप मे विद्यापति हमारे सामने आते हैं। विद्यापति ने अपनी पदावली मे राधाकृष्ण की सयोगलीला का वर्णन किया है। विद्यापति के पदो मे प्रेम और सौंदर्य की अनुभूति की जैसी निश्छलता और अभिव्यक्ति की स्फटिक स्वच्छता है, वह अन्यत्र कम ही प्राप्य है। बगाल के कवि चडीदास ने कीर्तन पदावली मे राधाकृष्ण की लीलाओ की मर्मस्पर्शी अभिव्यजना की है और चैतन्य महाप्रभु उन कीर्तन पदो को तन्मय और

भावविभोर होकर गाते थे। इस बीच मे कृष्णभक्ति के स्रोत ग्रथ श्रीमद्भागवत के भी लोकभाषाओ मे अनुवाद हुए। असमिया के कवि शकरदेव (15वी शताब्दी), उडिया के जगन्नाथ, तेलुगु के पोतनात्य, गुजराती के भालण आदि ने भागवत का जो काव्यात्मक अनुवाद किया, वे अनुवाद केवल अनुवाद ही नही हैं, उनमे अनुवादको की सर्जनात्मक कवि-प्रतिभा भी मुखरित हुई है। गुजरात प्रदेश भी कृष्णभक्ति का केद्र रहा है। विल्वमगल (1250 ई से 1350 ई) ने बाल-गोपाल-स्तुति और कृष्णकर्णामृत की रचना करके गुजरात मे कृष्णभक्ति काव्य की रचना का पथ प्रशस्त किया। गुजरात मे कवियो ने गुजराती और ब्रजभाषा दोनो मे कृष्णकाव्य की रचना की। भक्तवर नरसी मेहता ने सपूर्ण कृष्णलीला को अपने काव्य का विषय बनाया, किंतु बाललीला और 'सूरत सग्राम' मे राधाकृष्ण की सयोगलीला का विशेष वर्णन किया है। उन्होने ब्रजभाषा मे भी पदो की रचना की है। दूसरे कवि केशव कायस्थ ने कृष्णक्रीडा-काव्य, भालण ने श्रीमद्-भागवत दशम स्कध मे गुजराती और ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। इसके अनतर सपूर्ण कृष्णलीला विषयक प्रभूत साहित्य गुजराती मे लिखा गया। उडिया के रसकल्लोल काव्य मे राधाकृष्ण की मधुरलीला का चित्रण है। पुरी के जगन्नाथजी राधाकृष्ण के सयुक्त रूप माने जाते हैं। उत्कल साहित्य पर चैतन्य महाप्रभु का गहरा प्रभाव पडा है, इसलिए वहा पर्याप्त कृष्णभक्ति साहित्य की रचना हुई। कन्नड के भक्त कवि पुरदरदास ने वात्सल्य और माधुर्य दोनो भावो को अपने काव्य का विषय बनाया, किंतु उनके पदो मे बाललीला की ही प्रधानता है। ब्रजभाषा मे जैन कवि साधार अग्रवाल का 'प्रद्युम्न चरित' प्राचीन रचना है। सूर के पूर्ववर्ती विष्णुदास ने भी कृष्णलीला विषयक पदो की रचना की है।

उत्तर भारत मे निंबार्काचार्य, चैतन्य महाप्रभु और वल्लभाचार्य—इन तीन आचार्यों ने राधाकृष्ण की भक्ति को दार्शनिक भित्ति प्रदान की और भक्ति आदोलन को शक्ति तथा गति दी। निंबार्काचार्य ने दसश्लोकी मे अपने सिद्धातो का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार कृष्ण सर्वोच्च ब्रह्म हैं, जो अरविंद नयन है, व्यूह अवयवी हैं, कल्याण राशि गुणयुक्त और दोषविमुक्त हैं, वृषभानुजा राधिका सौदर्य ज्योतिपुज हैं, कृष्ण के वामाग मे विराजमान हैं, अपनी छविद्युति से आलोक विकीर्ण करती हैं और हजारो सखियो से सेवित हैं तथा सदा मनो-वाछित वस्तु प्रदात्री हैं। कृष्ण के पादारविंद की अर्चना-सेवा मुक्ति का एकमात्र उपाय है तथा कृष्ण की आराधना ब्रह्मा, शिव आदि भी करते हैं। इस प्रकार निंबार्क ने दर्शन के सहारे राधाकृष्ण को अनुभूति के अतिरिक्त ज्ञान और ध्यान का विषय बनाया। श्रीभट्ट इस सप्रदाय मे ब्रजभाषा के प्राचीनतम कवि हैं और 'युगल शतक' उनकी रचना है। चैतन्य महाप्रभु (सन 1485 से 1533) भावुकता और आत्मिक उल्लास के मूर्त रूप थे। चैतन्य महाप्रभु द्वारा विरचित

कोई ग्रथ नही है, उनके कुल आठ श्लोक ही मिलते है। उनके विचारो का पल्लवन कविवर कृष्णदास ने चैतन्य चरितामृत तथा रूप, जीव और सनातन गोस्वामियो ने अपने-अपने ग्रथो मे किया है। उनके विचारो का साराश भडारकर के अनुसार यह है कि कृष्ण देवाधिदेव है, मूर्तिमान सौदर्य है, प्रेमप्रेरक है।[52] उनकी तीन शक्तिया है—परमब्रह्मशक्ति, मायाशक्ति और विलासशक्ति। विलासशक्ति दो प्रकार की होती है, एक प्रभाव विलास जिसके माध्यम से गोपी विलास के समय कृष्ण एक से अनेक होकर प्रत्येक गोपी के साथ क्रीडा करते है और दूसरी वैभव विलास जिसके द्वारा वे चतुर्व्यूह का रूप धारण करते हैं। चैतन्य मत के व्यूह सिद्धात का आधार प्रेम और लीला है। कृष्ण की लीला गोलोक मे नित्य है। कृष्ण की मूल शक्ति प्रेम है जो आनद का कारण है। यही प्रेम भक्त के चित्त मे स्थिर होकर महाभाव बन जाता है। महाभाव ही राधा है। राधा कृष्ण के सर्वोच्च प्रेम का आलबन हैं, प्रेम की आदर्श प्रतिमा है। गोपीकृष्ण-लीला प्रेम का प्रतिफलन है और यही भक्तो का साध्य है।

वल्लभाचार्य ने ब्रज प्रदेश मे कृष्णभक्ति को सुसगठित और व्यवस्थित रूप मे स्थापित किया। उनका दार्शनिक सिद्धात शुद्धाद्वैत और उनका भक्ति सिद्धात पुष्टिमाग कहलाता है। वल्लभ दिग्विजय के अनुसार उनका जन्म वैशाख कृष्ण एकादशी रविवार सवत 1535 वि , तिरोधान ज्येष्ठ 10 सवत 1587 वि निश्चित है। उनके मुख्य ग्रथ है—(1) पूर्व मीमासा भाष्य, (2) उत्तर मीमासा या ब्रह्मसूत्र का अणु भाष्य, (3) भागवत की सूक्ष्म टीका और सुबोधिनी टीका, (4) तत्त्वदीप निबध तथा 16 छोटे-छोटे प्रकरण ग्रथ। वल्लभाचार्य के अनुसार कृष्ण सर्वोच्च ब्रह्म हैं। वे सच्चिदानद और पुरुषोत्तम है। भक्ति के लिए भगवान का अनुग्रह आवश्यक है। महापुष्टि ईश्वर प्राप्ति मे बाधक तत्वो का परिहार करती है। ईश्वर अनुग्रह से ही प्रेमाभक्ति की प्राप्ति होती है। प्रेमाभक्ति की प्राप्ति की तीन अवस्थाए हैं—प्रेम, आसक्ति और व्यसन। राधा कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं, रामेश्वरी और रासेश्वरी है। राधा कृष्ण की लीला मे प्रवेश ही भक्त का लक्ष्य है, जो भगवान के अनुग्रह से सभव है।

निंबार्क, वल्लभ और चैतन्य ने राधा वल्लभ कृष्ण के स्वरूप की दार्शनिक मीमासा की और रूपगोस्वामी ने 'उज्ज्वल नीलमणि' तथा 'भक्तिरसामृत सिंधु' द्वारा भक्ति के रसरूप का विवेचन किया। भक्ति की रसवत्ता के विवेचन द्वारा रूपगोस्वामी ने काव्य रस और भक्ति रस के सबध को स्पष्ट किया। इस रस-विवेचन मे श्रीकृष्ण श्रेष्ठ नायक और राधा श्रेष्ठ नायिका हैं। भगवत विषयक रति ही स्थायी भाव है और भगवत विषयक रति से शाति, प्रीति, सख्य या प्रेयस, वात्सल्य या अनुकपा और काता या मधुरा, पाच प्रकार के भाव निष्पन्न होते हैं। आनदमय मधुर रस या उज्ज्वल रस ही श्रेष्ठ रस है, वही भक्तिरस है। इन

आचार्यों के साहित्यशास्त्रीय चिंतन का परवर्ती ब्रजभाषा कृष्णकाव्य पर गहरा प्रभाव पडा।

सूरसागर की कथावस्तु का वैशिष्ट्य

काव्य मे मौलिकता कोई आदर्श या मूल्य नही है। वह माध्यम ही है। मौलिकता विषयवस्तु के स्वरूप के विकास मे निहित है। कई बार कवि काव्यवस्तु के विकास का सूत्र परपरा से प्राप्त करता है और परपरा से ही उसे विषयवस्तु के अनावश्यक तथा निरर्थक तत्त्वो के त्याग का सकेत भी मिलता है। कवि के अनुभव का विषय होकर ही कोई विषयवस्तु काव्यवस्तु बनती है, लेकिन कवि उसे अपनी रचना के उद्देश्य और अभिव्यक्ति के अनुरूप पुनर्निर्मित करता है। कवि परपरा से प्राप्त विषयवस्तु को आत्मानुभूति, चिंतन और मनन द्वारा काव्यवस्तु बनाता है। अतीत की अपूर्ण विषयवस्तु को अपनी प्रतिभा से पूर्णरूप प्रदान करने मे कवि की मौलिकता प्रकट होती है। कोई भी कवि परपरा से विषयवस्तु प्राप्त करता है, लेकिन वह उसे काव्यवस्तु स्वय बनाता है। विपयवस्तु काव्य-वस्तु का स्वरूप कवि की रचना के सदर्भ मे प्राप्त करती है। काव्यवस्तु कवि की भावना और चिंतनदृष्टि से निर्मित होती है। काव्यवस्तु मे विषयवस्तु का मूल रूप कायम रहता है, लेकिन कवि की वैयक्तिक चेतना और सामाजिक चेतना के सपर्क से उसका नवीन रूप बनता है।

एजरा पाउण्ड ने श्रेष्ठ सर्जको के विषय मे लिखा है कि ऐसे कवि आत्मसर्जन के अतिरिक्त पूर्ववर्ती सर्जना के अधिकाश को आत्मसात और समन्वित करके नई रचना करने मे सक्षम होते है। वे आत्मचेतना से काव्यसर्जन प्रारभ करते हैं तथा परपरा से उपलब्ध विषयवस्तु का सग्रह और सामजस्य स्थापित करते है। वे उपलब्ध विषयवस्तु को अपना बनाकर अभिव्यक्ति की प्रसिद्ध पद्धतियो का उपयोग करते है और अपने विशिष्ट रचनात्मक गुण से सपूर्ण कलाकृति को आच्छादित कर देते हैं और समग्र कलाकृति को एक आवयविक समरूप विकास की गति प्रदान करते है। इस प्रकार समर्थ कवि एक ही साथ परम्परीण और मौलिक स्रष्टा दोनो होते है। जो रचनाकार किसी परपराप्राप्त लोकप्रचलित कथा या विषयवस्तु को अपनाते हैं वे रचना के स्तर पर कुछ सुविधाओ के साथ-साथ कुछ असुविधाओ को भी झेलते हैं। ऐसी विषयवस्तु मे साधारणीकरण की सभावना अधिक होती है, लेकिन रचनाकार की मौलिकता के खो जाने का खतरा भी होता है। जो कवि परपराप्राप्त और लोकप्रचलित विषयवस्तु को अपनी नई सृष्टि-दृष्टि से नया रूप दे पाता है वही लोकप्रियता और मौलिकता की रक्षा कर पाता है।

सूरदास ऐसे ही कवि हैं। उन्होने एक लोकप्रचलित कथा को अपनाकर काव्य

रचना की है, जिसमे साधारणीकरण की क्षमता है और सूर की मौलिकता भी है। सूरसागर के पद साहित्य के दो भाग है—(क) विनय के पद और (ख) लीला के पद। विनय के पदो मे भक्त का दैन्य और आत्मनिवेदन ही प्रधान है। विनय के पद अपनी अभिव्यक्ति के सौदर्य और विषयवस्तु दोनो दृष्टियो से सामान्य भक्त या सत भावना की पद-परपरा की नवीन कडी है। इनमे सिद्धो और नाथो की ज्ञानसाधना और निर्गुण भक्तो की भक्तिभावना की परपरा का विकास परिलक्षित होता है। विनय के पदो मे परमार्थ चिंतन और भक्ति की अनुभूति के विभिन्न सोपानो की व्यजना है। इसमे ईश्वरोन्मुख चित्त की विभिन्न अवस्थाओ और गतिविधियो की अभिव्यक्ति हुई है। सूरदास ने विनय के पदो मे वेद, उपनिषद, पुराण, गीता और साख्यदर्शन आदि का उल्लेख किया है। सूरसाहित्य मे नानापुराणनिगमागम के मत और सम्मत का शास्त्रीय स्वरूप तो उपलब्ध नही है, किंतु प्राचीन साहित्य मे विवेचित और व्याख्यायित ज्ञान और साधना का जो स्वरूप भारतीय जीवन का अग और सस्कार बन चुका है, उसकी अभिव्यक्ति इसमे हुई है। विनय के पदो मे कवि ने विभिन्न रूपको के माध्यम से तत्कालीन सामाजिक चेतना और सामाजिक दशा का भी वर्णन किया है। विनय के पदो मे सूरदास ने चौपड राजा, गाय, साहिबी, लिखनहार, कत्थक नृत्य, विषयासक्ति, परिवार, खेती आदि के रूपको द्वारा सतचित्त की विभिन्न अवस्थाओ, तद्युगीन जीवन की प्रवृत्तियो, सामती व्यवस्था की सामाजिक तथा राजनैतिक दशा और समाज की मन स्थिति की विशद व्यजना की है। कवि ने एक पद मे अपनी मानसिक अवस्था और प्रकृति के बहाने पूरे युग की मानसिक और सामाजिक दशा का चित्रण किया है

भक्ति बिना जौ कृपा न करते, तौ हौ आस न करतौ।

सुजन-वेष-रचना प्रति जनमनि, आयौ पर-धन हरतौ।
धर्म-धुजा अतर कछु नाही, लोक दिखावत फिरतौ।
परतिय-रति-अभिलाष निसा-दिन, मन पिटारी लै भरतौ।
दुर्गति, अति अभिमान, ज्ञान, विन, सम साधन तै टरतौ।
उदर-अर्थ चारी हिंसा करि, मित्र-बधु सौ लरतौ।
रसना-स्वाद-सिथिल, लपट ह्वै अघटित भोजन करतौ।
यह व्यौहार लिखाइ, रात-दिन, पुनि जीतौ पुनि मरतौ।
रवि-सुत-दूत वारि नही सकते, कपट धनौ उर वरतौ।
साधु सील, सद्रूप पुरुष को, अपजस बहु उच्चरतौ।
औघड-असत-कुचीलनि सौ मिलि, माया-जल मैं तरतौ।

कबहुक राज-मान-मद-पूरन, कालहु तै नही डरतौ।
मिथ्या बाद आप-जस सुनि सुनि, मूछहि पकरि अकरतौ।
इहि बिधि उच्च-अनुच तन धरि धरि, देस बिदेस विचरतौ।
तह सुख मानि, बिसारि नाथ-पद, अपने रग बिहरतौ।
अजहू सूर पतित-पद तजतौ, जौ औरहु निस्तरतौ। (203)

इस पद मे समाज मे प्रचलित भोगवासना, बाह्याडबर और दूसरी सामाजिक बुराइयो के अतिरिक्त वाममार्गियो की साधना-पद्धति की निंदा की गई है। सूर-सागर के द्वादश स्कधात्मक रूप मे प्रथम स्कध मे विनय के पदो के बीच-बीच मे भागवत प्रसग का समावेश है। इन कथात्मक और इतिवृत्तात्मक शिथिल पदो का विनय के अनुभूतिप्रवण पदो से आवयविक सबध ज्ञात नही होता। ये पद सूरसाहित्य के अनिवार्य अग नही बन पाए हैं। सभव है विनय के पदो मे इन कथात्मक पदो का समावेश सूरसागर को स्कधात्मक रूप देने के लिए बाद मे किया गया हो। प्रथम स्कध के प्रारभ मे विनय के दो सौ तेईस पद हैं और दूसरे स्कध मे भागवत प्रसग के बीच मे लगभग साठ पद यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। द्वितीय स्कध मे विनय के पच्चीस पद हैं, चतुर्थ स्कध मे एक पद और षष्ठ स्कध मे भी एक पद है। सपूर्ण विनय के पदो मे परस्पर अनुभूति का ऐक्य और अभिव्यक्ति की एकरूपता से यह प्रतीत होता है कि विनय के पद एक विशेष काल मे कवि की विशेष मन स्थिति की देन है। अत इन्हे सूरदास के सपूर्ण जीवन मे कालातर से रचित नही माना जा सकता। ये पद भगवान की ओर उन्मुख भक्त के चित्त को प्रारभिक अवस्था के व्यजक है। अत इनकी रचना सूर के मानस-लोक मे श्रीकृष्ण की प्रेममयी लीलाओ के प्रतिबिबित और उद्भासित होने के पहले हुई होगी।

सूरसागर की कथावस्तु के स्वरूप के निर्माण मे महाभारत, हरिवशपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, पद्मपुराण, जयदेव के गीतगोविंद और विद्यापति के पदो का योग महत्त्वपूर्ण है, किंतु उस पर सर्वाधिक स्पष्ट प्रभाव श्रीमद्भागवत पुराण का ही परिलक्षित होता है। श्रीमद्भागवत मे कृष्ण के चरित्र और विभिन्न लीलाओ का जैसा सागोपाग वर्णन है वैसा अन्य पुराणो मे नही है। भागवत मे चित्रित कृष्ण का लीलात्मक स्वरूप लीलारस रसिक सूरदास की भक्तिभावना के अनुकूल होने के कारण सहज ही सूर की अनुभूति का विषय बन गया है। स्कधात्मक सूरसागर सूरदास के लीलापदो का भागवत लीला के क्रम से सपादन का प्रतिफल है। इसलिए उसे भागवतानुसार देखकर ही कुछ आलोचको ने भागवत का अनुवाद कहा है। सूरसागर के सग्रहात्मक रूप पर भागवत की कृष्णकथा का प्रत्यक्ष प्रभाव होने पर भी अनुसरण का कोई विशेष प्रयास नही है। सूरसागर का सग्रहात्मक रूप ही वास्तविक और प्रामाणिक है। सूरदास ने सपूर्ण उपलब्ध

कृष्णकथा का सग्रह और सामजस्य कर उसे आत्मानुभूति एव आत्मचिंतन का विषय बनाकर सूरसागर की काव्यवस्तु के रूप मे प्रस्तुत किया है। सूरदास जिस सप्रदाय मे दीक्षित थे, उस वल्लभ सप्रदाय मे भागवत प्रमाणचतुष्ट्य के रूप मे स्वीकृत है और उसका आराध्य ग्रथ है। इसलिए उसका प्रभाव सूरदास के काव्य पर पडना अनिवार्य था। सूरदास के समय मे भागवत के अवधी और ब्रजभाषा मे अनुवाद उपलब्ध थे। सूर के समकालीन कवि लालचद्र ने हरिचरित्र नाम से भागवत के दशम स्कध का दोहा चौपाइयो मे अनुवाद किया है। अत भागवत का सूरसागर की कथावस्तु पर प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव पडना स्वाभाविक है। भागवत और सूरसागर मे स्वरूप और रचना उद्देश्य की भिन्नता है, दोनो मे कथा का साम्य होते हुए भी अनेक अतर है

1 भागवत और सूरसागर मे विषयवस्तु की दृष्टि से वह अतर है जो एक पुराण और विशुद्ध साहित्य मे होता है। पुराण एक साहित्य रूप है, किंतु उसमे धार्मिक चिंतन और दार्शनिक व्याख्याओ की प्रधानता होती है, काव्य के महज गुणो का समन्वय नही होता। काव्य मे ईश्वर भी अपने मानव विग्रह मे लोक-सामान्य आचरण के कारण सहृदय की रसानुभूति का विषय बनता है, किंतु पुराण मे ईश्वर का दिव्य स्वरूप और उसकी अलौकिक लीला रहस्यमयी और विस्मय-कारी होती है। भागवत मे पुराण के लक्षण—सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मनवतर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय आदि हैं जबकि सूरसागर मे इन लक्षणो का अभाव है और उसमे काव्य के भावपक्ष और कलापक्ष का उत्कर्षित रूप विद्यमान है। भागवत मे जहा काव्य तत्त्व है वह मुख्य नही है और सूरसागर मे जहा पुराण तत्त्व है वह कृष्णकथा की परपरा का अग है, उसमे सूर की प्रतिभा का कोई विशेष उत्कर्ष नही है। सूरसागर के विशुद्ध साहित्यिक स्वरूप के कारण उसमे उपदेश की प्रवृत्ति का अभाव है। चीरहरणलीला तथा सयोगलीला के विभिन्न इद्रियग्राह्य बिंबात्मक वर्णनो को काव्यरचना का आवश्यक अग मानने के कारण ही उनकी दार्शनिक व्याख्या नही दी गई है। सूरदास के सूरसागर मे गोपी-कृष्णलीला की अभिव्यक्ति मे काव्यकला का उत्कर्ष ही साध्य है, उपदेश की प्रवृत्ति नही।

2 सूरदास की दृष्टि काव्यवस्तु, भावानुभूति और अभिव्यक्ति-निपुणता पर है, किंतु भागवत मे कथा की प्रधानता है। सूरदास काव्यवस्तु के सौदयपक्ष का उद्घाटन करते प्रतीत होते है, किंतु भागवत मे कथा की दार्शनिक व्याख्या प्रधान है।

3 सूरदास ने शब्दार्थ के सपृक्त सयोजन से काव्य मे शब्द-शक्तियो के विकसित रूप का उपयोग कर काव्यवस्तु को विशेष अर्थवत्ता से मडित किया है। लेकिन भागवत विधि निषेध एव अर्थवाद तक सीमित है। सूरदास की दृष्टि

कथा की सार्थकता पर है, उसमे अर्थ गाभीर्य है, किंतु भागवत का साध्य सदेश देना है।

4 सूरसागर मे कृष्णकथा के आस्वादन से रसबोध और सौदर्यबोध का विकास होता है, जबकि भागवत विमर्श से तत्त्वबोध और तत्त्वदर्शन का। सूरसागर का रसवाद भागवत के तत्त्ववाद से भिन्न है। सूरसागर मे जीवन और जगत का सत्य ही काव्य का सत्य, सूर की आत्मा का सत्य बन गया है और यही सगुण-लीला या नरलीला का उद्देश्य भी है। भागवत मे आध्यात्मिक सत्य ही सत्य है, शेष असत्य।

5 सूरदास ने भागवत की भाति कृष्णकथा के गोकुल, मथुरा और द्वारिका तीनो स्थलो को ग्रहण किया है, किंतु उनका मन गोकुललीला मे ही विशेष रमा है। सूरसागर मे भागवत की भाति कृष्ण की ऐश्वर्यमयी लीलाओ का भी चित्रण है, किंतु सूरदास का रसिक मन कृष्ण की रसमयी गोकुललीला मे ही विशेष प्रवृत्त हुआ है। गोकुल की बाल और किशोर लीलाओ की सघन अनुभूति और सफल अभिव्यक्ति ही सूरसागर का साध्य है। सूरदास सदा गोकुल मे ही रहना चाहते थे, जीवन मे भी और काव्य मे भी। सूरसागर मे सूर की आत्मा कृष्ण के सदा निकट होने पर भी बार-बार मथुरा और द्वारिका से भी कभी उद्धव के रूप मे और कभी किसी पथिक के रूप मे ब्रज लौट आती है और कृष्णविहीन ब्रज की दयनीय दशा पर द्रवित हो जाती। सूर की आत्मा का यह द्रवित रूप सूरसागर के सर्वोत्तम काव्याश भ्रमरगीत के रूप मे प्रस्तुत है। मथुरा और द्वारिका मे कृष्ण का ऐश्वर्यमय रूप है और गोकुल मे प्रेममय रूप। भागवत को कृष्ण का ऐश्वर्यमय रूप विशेष प्रिय है और सूर को प्रेममय रूप। यद्यपि भागवत मे भी श्रीकृष्ण का प्रेममय रूप उद्घाटित है और सूरसागर मे ऐश्वर्यमय रूप की भी व्यजना है, किंतु सूरसागर मे श्रीकृष्ण का प्रेममय रूप ही विशेष महत्त्वपूर्ण है। सूरदास का मन ही गोकुल है, वृदावन है जहा सपूर्ण लीलाए पूर्ण हुई हैं।

6 सूरसागर मे चरित्र और घटना नही, भाव और लीला की प्रधानता है, यह पद-परपरा के विशेष अनुरूप हैं। इसलिए सूरसागर मे भागवत के उन प्रसगो को छोड दिया गया है जिनमे घटना बाहुल्य है। सूरसागर मे घटनात्मक और कथात्मक स्थलो को केवल कथा निर्वाह और प्रबध-प्रवाह के लिए लिया गया है। लेकिन भागवत मे श्रीकृष्ण की अलौकिकता और दिव्य स्वरूप के उद्घाटन के लिए घटनात्मक प्रसगो का विस्तार से वर्णन हुआ है।

सूरसागर मे परपरा और लोकजीवन से कृष्णकथा को ग्रहण कर सूरदास ने अपनी कारयित्री प्रतिभा के सहारे उसका नया रूप निर्मित किया है। सूरसागर की काव्यवस्तु का अपना वैशिष्ट्य है और उसमे कवि-प्रतिभा की सृजनशीलता दिखाई देती है। सूरसागर की काव्यवस्तु मे सूर की मौलिकता और सर्जनात्मक

कल्पना की अभिव्यक्ति तीन रूपो मे हुई है नवीन प्रसगोद्भावना, मौलिक सृजनशक्ति, नवीन सृष्टि दृष्टि।

आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'सूर की बडी भारी विशेषता है नवीन प्रसगो की उद्भावना।' आचार्य रामचद्र शुक्ल का यह कथन सूर-साहित्य के अध्येताओ को पूर्णत सच प्रतीत होता है। सूरदास ने साहित्य की परपरा, लोकजीवन और श्रीमद्भागवत पुराण से कथा ग्रहण कर उसे अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा के सहारे पुनर्निमित किया है। कृष्णकथा मे नवीन रमणीय प्रसगो की उद्भावना से कथा और काव्य दोनो का चारुत्व बढ गया है। परपरा से प्राप्त कथावस्तु के आधार पर नवीन काव्यवस्तु के निर्माण मे प्रवृत्त कवि की मौलिकता प्रसग-परिवर्तन, नवीन प्रसगोद्भावना तथा प्रसग-गर्भत्व के सयोजन के कौशल मे प्रकट होती है। नवीन प्रसगो या सदर्भों की सृष्टि से प्राचीनता को नवीन अर्थवत्ता तथा मूल्यवत्ता प्राप्त होती है, उसकी रमणीयता मे अभिवृद्धि होती है। प्रसग-परिवर्तन और सदर्भ-परिवर्तन द्वारा ही कवि प्राचीन कथा मे भी नवीन भावों और विचारो के समावेश ने सक्षम होता है।

सूरदास ने अपने रचनात्मक उद्देश्य के अनुरूप परपरा प्राप्त कृष्णकथा मे नवीन सदर्भों और नए प्रसगो को जोडकर उसे नए भावो, विचारो और नए अर्थों की अभिव्यक्ति के अनुकूल बनाया है। अनेक स्थानो पर सूरदास ने भागवत मे उपलब्ध कथा का प्रसग ही बदल दिया है और उसका सूरसागर की काव्यवस्तु के अनुरूप नया रूप निर्मित किया है। सूरसागर मे लीलाक्रम के अनुरूप कथाए रखी गई हैं, भागवत के अनुकरण का कोई आग्रह नही है। कृष्ण की बाललीला मे सूर की प्रसगोद्भावना की शक्ति दिखाई पडती है। भागवत मे श्रीकृष्ण के जन्म, नामकरण, माखनचोरी आदि लीलाओ का सक्षिप्त वर्णन है, किंतु सूरसागर मे बाललीला का अत्यत विस्तृत चित्रण है। कृष्ण की बाललीला की मौलिक सकल्पात्मक अनुभूति के कारण सूरदास वात्सल्य के महाकवि बन गए है। सूर-सागर मे कृष्ण जन्म से जो शोभासिंधु लहराया है उसकी बहुरगी विविध तरगे सूरसागर मे आदोलित है (पद स 647)। ब्रज का आनदोत्सव ब्रजवासियो के हार्दिक उल्लास मे व्यक्त हुआ है। बाललीला मे श्रीधर के अगभग का प्रसग भागवत निरपेक्ष और सूर की मौलिक उद्भावना की देन है। बाललीला मे ही ढाढी और ढाढिनी का प्रसग है (पद स 654) जिसमे सूर की भक्तिभावना और ब्रज की क्षेत्रीय सस्कृति के अनेक तत्त्वो की व्यजना है। उसमे कृष्ण के जन्म के उपरात अनेक सस्कारो का वर्णन है, जिनमे कुछ शास्त्रीय सस्कार है और कुछ क्षेत्रीय। जन्मोत्सव, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाठ आदि सस्कारो के उत्सव का भव्य वर्णन है और अवसरानुकूल मगलगान, सोहिलोगान आदि लोकगीतो का भी प्रयोग है।

सूरदास ने कर्णच्छेदन और करवट बदलने के उत्सव का भी वर्णन किया है। कृष्ण के पालने में झूलने में मातृ हृदय की विभिन्न भावनाओं और मातृत्व भाव की सफल अभिव्यंजना है (पद सं. 661)। कृष्ण के शयन, जागरण, करवट बदलने में माता-पिता की भावनाओं की अभिव्यक्ति है। संपूर्ण बाललीला में अनेक नवीन प्रसंगों के सहारे बाल स्वभाव और मातृ हृदय के मर्म का भव्य उद्‌घाटन है। कृष्ण के चलने, उठने, बैठने और सोने का सूरदास ने नवीन प्रसंगों द्वारा मनोहर चित्र उपस्थित किया है। चंद्र प्रस्ताव में बालहठ की विवृति है। सूरदास ने कृष्ण की बाललीला में कृष्ण और राम के अभिन्नत्व की ओर भी संकेत किया है (पद सं. 816)।

कृष्ण के सखाओं के साथ खेलने में बालस्वभाव और सख्यभाव की व्यंजना है (पद संख्या 863)। सूर ने कृष्ण के माटी खाने वाले प्रसंग में कृष्ण की नरलीला और विराट रूप का दर्शन कराया है (पद सं. 861)। माखनचोरी में भावतीलीला का भी बीज अंकुरित होता दिखाई पड़ता है। सूरसागर में माखन-चोरी एक स्वतंत्र भावात्मक खंडकाव्य बन गया है। सूरदास ने बाललीला के चित्रण में नए-नए प्रसंगों के माध्यम से कृष्ण के मानवीय रूप को ही उभारा है। सूर के कृष्ण का स्वरूप व्यापक जनसमुदाय के दूसरे बच्चों से मिलता-जुलता है, उसमें दिव्यता से अधिक साधारणता है। यह सूर की व्यापक मानवीय सहानुभूति का प्रमाण है।

गोपीकृष्ण की प्रेमलीला की मनोहर व्यंजना के लिए सूरदास ने अनेक प्रसंगों की उद्‌भावना की है। कभी माखनचोरी में और कभी गोदोहन में प्रेम का विकास दिखाई पड़ता है। गोचारण के प्रसंग में भी सूर ने प्रेम के विकास का अवसर निकाल लिया है। मुरली-प्रसंग, आंख-समय और नयन-समय के पद के विभिन्न प्रसंगों में सूर की सर्जनात्मकता विशेष मुखर हुई है। कृष्ण की मुरली नाद का प्रतीक है, नाम रूप का है। आंखें रूप की वाहक हैं। संपूर्ण रसमयी गोकुल-लीला इस नाद और रूप की ही लीला है।

सूरदास ने राधाकृष्ण के प्रेम के सहज विकास को अनेक नवीन प्रसंगों के माध्यम से आयोजित किया है। राधा और कृष्ण का बालसखा-सखी का रूप और उनका पारस्परिक प्रेम पूर्णतः सूर की मौलिक उद्‌भावना है। यमुना के तट पर, गोकुल की गलियों में, कभी गोचारण में और कभी गोदोहन में कृष्ण और राधा एक दूसरे से मिलते हैं और इस साहचर्य और सहयोग के बीच से उनका प्रेम विकसित होता है। राधाकृष्ण की संयोगलीला अनेक रूपों में व्यंजित हुई है और उसे सूर ने नवीन प्रसंगों के माध्यम से क्रमशः विकसित किया है। रास-लीला में राधाकृष्ण के संयोग और विवाह का भव्य आयोजन हुआ है। मन की अनेक दशाओं या एक मनोदशा के अनेक परिवर्तित रूपों के चित्रण के लिए एक

के बाद एक नवीन प्रसगो की सृष्टि मे सूर की प्रतिभा अद्वितीय है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण गोपीगीत और गोपी-मुरली-सवाद आदि मे दिखाई पडता है। खडिता प्रकरण मे नवीन प्रसगो के माध्यम से कृष्ण के बहुनायकत्व, अनुरागमयी चद्रावली का रूप तथा गोपियो की मनोव्यथा का उद्घाटन है। इस खडिता प्रकरण पर यद्यपि जयदेव के गीतगोविंद का प्रभाव प्रतीत होता है किंतु गीतगोविंद मे सूर-सागर की भाति प्रसगो और भावो के वैविध्य का अभाव है। 'श्याम रग पर तर्क' के पदो मे अनेक प्रसगो की सृष्टि करके कृष्ण की श्यामता पर व्यग्य किया गया है। गोपियो के विरह-वर्णन मे और भ्रमरगीत मे अनेक प्रसगो के माध्यम से गोपीकृष्ण प्रेम के अतीत, वर्तमान, और भविष्य का उद्घाटन हुआ है। गोपी-उद्धव सवाद मे सूरदास ने नवीन प्रसगो के माध्यम से श्रीकृष्ण, उद्धव और भ्रमर पर गोपियो के द्वारा अनेक प्रकार से व्यग्य प्रहार का आयोजन किया है। नए प्रसगो की उद्भावना का उपयोग सगुण-निर्गुण-विवाद मे भी हुआ है। भ्रमरगीत मे ही अनेक नवीन प्रसगो के सहारे विरह की मनोदशा की व्यजना है और स्मृतिजन्य सुख-दुखात्मक भावदशा की अभिव्यक्ति है। नवीन प्रसगो की उद्भावना मे एक ओर सूरदास की व्यापक मानवीय सहानुभूति प्रकट हुई है तो दूसरी ओर उनकी सृजनशील कल्पनाशक्ति। विभिन्न मार्मिक प्रसगो के माध्यम से ही सूर ने मनुष्य जीवन के विभिन्न रूपो, मानवीय सबधो, भाव-दशाओ और मानवीय क्रिया-व्यापारो का हृदयस्पर्शी चित्रण किया है।

नवीन सृजनशक्ति

सूरसागर की सपूर्ण कथावस्तु मे सूरसागर की सर्जनात्मक प्रतिभा का प्रमाण उन स्थलो पर मिलता है जो पूर्णत सूर की सृष्टि है। यहा सूर ने कृष्णकथा की परपरा को नए रूप मे ढाला है, उसका विकास किया है। राधाकृष्ण का बाल सखा-सखी रूप सूर की मौलिक उद्भावना है जिसमे राधाकृष्ण के प्रेम का विकास होता दिखाई देता है। सूरदास ने राधाकृष्ण के प्रेम को बचपन से क्रमश विक-सित होते हुए दिखाया है। यह प्रेम अचानक उठे हुए तूफान की तरह नही है, यह एकपक्षीय प्रेम भी नही है। इस प्रेम के मूल मे सौदर्य का आकर्षण तो है, लेकिन साथ ही साहचर्य और सहयोग के भाव भी हैं। इस प्रेम के विकास की व्यजना मे सूरदास की मौलिकता प्रकट हुई है। राधा-कृष्ण के प्रथम परिचय के बाद राधा कृष्ण के घर जाती हैं और मा यशोदा राधा का शृगार करती हैं। यशोदा राधा को कृष्ण की जीवनसगिनी के रूप मे देखने की आतरिक कामना भी प्रकट करती है। सूरदास ने इस प्रसग के सहारे राधाकृष्ण के रासलीला के समय सपन्न होने वाले गधर्व विवाह की भूमिका का निर्माण किया है।

पनघटलीला, दानलीला, खडिता समय, वसत और फाग, हिंडोला आदि सूर

की नवीन सृजनशक्ति की देन है। इन लीलाओ के सहारे सूरदास ने प्रेमलीला का विकास दिखाया है। सूरसागर मे ये लीलाए भावाभिव्यजना और अभिव्यक्ति शक्ति की पूर्णता के कारण स्वतत्र खडकाव्यो के रूप मे दिखाई पडती है। ग्रीष्म लीला, युगल समागम, नैन-समय के पद, आख-समय के पद, स्वप्न-दर्शन, पावस-प्रसग, चद्रोपालभ आदि मे सूरदास की भावप्रवणता और अनुभूति-गाभीर्य का प्रमाण मिलता है। सूरदास ने प्रेम के विभिन्न रूपो और पक्षो की अभिव्यक्ति के लिए इन नवीन प्रसगो की सृष्टि की है।

स्कधात्मक सूरसागर के वेंकटेश्वर प्रेस और नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित सस्करणो के कथाक्रम मे अतर है। वेंकटेश्वर प्रेस के सस्करण मे पनघटलीला-प्रस्ताव और दानलीला के बाद रासलीला है, जबकि सभा के सस्करण मे रासलीला के पश्चात पनघटलीला और दानलीला है। वास्तव मे पनघटलीला और दानलीला को रासलीला के पहले ही होना चाहिए क्योकि प्रेम का जो क्रमश विकास हुआ है, उसकी परिणति रासलीला मे हुई है। रासलीला प्रेम-लीला की पूर्ण अवस्था है, वह गोपीकृष्ण-लीला का चरम उत्कर्ष बिंदु है। पनघटलीला मे सूर की वृत्ति रमी है क्योकि इसमे प्रेम का विकास है। यमुना के तट पर प्रकृति के उन्मुक्त परिवेश मे गोपियो के साथ कृष्ण की रसकेलि अत्यत मनोहर है। वहा कृष्ण गोपियो की गगरी फोड देते है, गोपियो का रास्ता रोक लेते हैं। गोपिया कभी रीझती हैं और कभी खीझती हैं। इस प्रकार यह रसलीला चलती रहती है। उसमे राधा के आने पर विशेष सरसता बढ जाती है। इस पनघटलीला का परिणाम है गोपियो का प्रेमसिधु मे निमग्न होना और कृष्ण के प्रेम-रग मे गोपियो के अतर का रग जाना। दानलीला मे कृष्ण और गोपियो के बीच गोरस (इद्रिय रस और दही) के लेन-देन की लीला चलती है। यह गोरस का उत्सव है, प्रेम की लीला है। गोपिया गोरस (दही) देने के लिए तत्पर है और कृष्ण गोरस (इद्रिय रस-रति) चाहते हैं। गोपिया कहती है— जो रस चाहौ सो रस नाही, गोरस पियो अघाइ (पद स० 2080)। गोपिया केवल दही देना चाहती हैं और कृष्ण कहते है कि 'लय हौ दान सब अग-अग कौ।' वे सर्वांगदान, सर्वस्व समर्पण चाहते हैं। गोपिया प्रेमदान के लिए पूर्ण श्रद्धा, सपूर्ण शृगार के साथ यमुना तट पर उपस्थित होती है और रसनागर कृष्ण भी सखाओ सहित यमुना तट पर प्रतीक्षारत है। गोपिया गोरस उन्मुक्त होकर लुटाती है और कृष्ण गोरस का आनद लेते हैं। गोपिया राधा सहित रीती मटकी लिए, मनविहीन तन लिए घर जाती हैं। गोपिया कृष्ण के लिए लोक-लाज और कुल-मर्यादा को त्यागकर सरिता की भाति कृष्णसागर से मिलकर एकरूप हो गई (पद स 2246)। प्रेमविवश गोपिया गोरस के बदले हरिरस बेचने लगती हैं (पद स 2253)। इस दानलीला की पूर्णता राधाकृष्ण की रसकेलि मे हुई है। लोक,

कुल और समाज के बधनो से मुक्त गोपियो का प्रेम सामती समाज के लिए एक चुनौती है। गोपियो का प्रेम सामती व्यवस्था के सामाजिक बधनो को तोडकर प्रेम के मानवीय रूप की स्थापना करने वाला है।

नवीन सृष्टि-दृष्टि

नवीन सृष्टि-दृष्टि का तात्पर्य है प्राचीन कथा और घटनाओ का नवीन रचनात्मक दृष्टिकोण से पुनर्निर्माण। रचनात्मक दृष्टिकोण मे कवि की भावानुभूति और चिंतन दृष्टि का विशेष महत्त्व है। सूरदास ने सूरसागर मे कृष्णकथा के कुछ अश को भागवत, ब्रह्मवैवर्त पुराण और जयदेव के गीतगोविंद से लिया है, किंतु उनको आत्मानुभूति का विषय बनाकर और अपनी भक्तिभावना के अनुकूल निर्मित कर अत्यत नवीन रूप मे अभिव्यजित किया है। नवीन रचनात्मक दृष्टिकोण के सयोग से प्राचीन कथा भी नवीन रूप मे अभिव्यक्त हुई है, परपरा की होकर भी उसमे सूर की मौलिकता के प्रमाण है। परपरा से रचनात्मक प्रेरणा ग्रहण करने वाले कवि की मौलिकता इस नवीन सृष्टि-दृष्टि मे ही व्यक्त होती है। सूरदास ने अपने रचनात्मक उद्देश्य के अनुसार परपरा, लोकजीवन और पुराणो से प्राप्त कृष्णकथा को अपनी नई रचनादृष्टि से नियोजित करके नए रूप मे ढाला है। इससे कथा पुरानी होकर भी सूरसागर की कथावस्तु बन गई है। सूरदास की सृष्टि-दृष्टि की नवीनता इस बात मे है कि उन्होने कृष्ण-कथा मे दैवी लीला से अधिक महत्त्व मनवोचित व्यवहारो को दिया है, मानवीय लीला मे व्यक्ति-चेतना के माध्यम से सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति की है, दिव्य चेतना और मानवीय चेतना मे सामजस्य स्थापित किया है, दर्शन को अनुभूति का अग बनाकर और अनुभूति को दार्शनिक ऊचाई तक पहुचाकर व्यक्त किया है। सूरदास ने राग और वैराग्य के सघर्ष मे जीवन के रागात्मक पक्ष को महत्त्व दिया है, निवृत्ति मार्ग के ऊपर प्रवृत्ति मार्ग को प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने मानवीय जीवन के भाव, विचार और कर्म की एकता की महत्ता स्थापित करके जीवन की समग्रता का काव्य रचा है। सूरदास के रचनात्मक दृष्टिकोण की इन विशेषताओ के अनुरूप ही कृष्णकथा का पुनर्निर्माण सूरसागर मे हुआ।

सूरसागर मे कृष्ण के देवत्व रूप से अधिक उनके मानवीय रूप का उत्कर्ष दिखाया गया है। यद्यपि नरलीला के समानातर दिव्यलीला का भी सकेत है, किंतु कृष्ण के ऐश्वर्यमय रूप से उनका माधुर्यमय रूप ही अधिक व्यक्त हुआ है। भागवत या अन्य पुराणो से लिए गए कथा-प्रसगो मे भी कथा के स्वाभाविक मावोचित स्वरूप का ही अधिक उद्घाटन हुआ है। दशम स्कध में कृष्ण के ऊखल बधन मे माता का सहज क्रोध और बधे हुए कृष्ण का करुण चित्र व्यजित है। गोचारण, ब्रह्मा द्वारा बालक वत्सहरण आदि कथाए मूलत भागवत

की है, किंतु सूरसागर मे उनका नया रूप दिखाई पडता है। भागवत मे ब्रह्मा बालक वत्सहरण की कथा का लक्ष्य ब्रह्मा का मोहनाश और कृष्ण के ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा है, किंतु सूरसागर मे इसके आयोजन का मुख्य लक्ष्य सखाओ मे परस्पर प्रेम-वृत्ति हे । 'इसमे घटना वैचित्र्य, नाटकीयता, स्वाभाविकता और सखाओ के सरस स्नेह की भाव सवलित व्यजना कवि-प्रतिभा की उपज हे ।'[53]

यज्ञ पत्नी लीला, गोवधन पूजा ओर गोवर्धन-धारण मे सूरदास ने भागवत की दार्शनिकता, उपदेश वृत्ति और अलौकिक रहस्यात्मकता के बदले स्वाभाविकता और लौकिक परिवेश के साथ इन घटनाओ का वर्णन किया हे । सूरसागर के गोवधन लीला पर हरिवशपुराण का अधिक प्रभाव है। सूरसागर मे गोवर्धन-धारण की लीला दो बार हे। गोवर्धन-धारण मे गोपसखा कृष्ण के सहयोगी हैं। गोवधन पूजा मे राधा, चद्रावली और ललिता आदि का समावेश है, जो भागवत निरपेक्ष है। सूरसागर के राधाकृष्ण के प्रेम प्रसग की ब्रह्मवैवत पुराण और गीत-गोविंद से समानता हे। ब्रह्मवैवर्त के अनुसार मेघाच्छन्न आकाश, तमावृत्त तमाल वन तथा चपला चमक से युक्त भयावह वातावरण से डरे हुए कृष्ण को नद के आदेश पर राधा घर पहुचाने ले जाती है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार मार्ग मे ही राधाकृष्ण के विवाह का आयोजन है। जयदेव के गीतगोविंद मे भी यह प्रसग है, किंतु उसमे मार्ग मे केवल रसकेलि का आयोजन है, विवाह का नही

> मेघैर्मेदुरमम्बर वनभुव श्यामास्तमालद्रुमै—
> नक्त भीरुरय त्वमेव तदिद राधे गृह प्रापय।
> इत्थ नद निदेशतश्चलितयो प्रत्यघ्वकुजद्रुमम्
> राधा-माधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रह केलय ॥ (गीतगोविंद)

जयदेव के उपर्युक्त श्लोक मे जिस प्रसग का उल्लेख हुआ है, सूरसागर मे वही कुछ भिन्न रूप मे मिलता है

> गगन घहराइ जुरी घटा कारी।
> पवन-झकझोर, चपला-चमक चहु ओर, सुवन-तन चितै नद डरत भारी।।
> कह्यौ वृषभानु की कुवरि सौ बोलि कै, राधिका कान्ह घर लिए जारी।
> दोउ घर जाहु सग, गगन भयो स्याम रग, कुवर-कर गह्यो वृषभानु-बारी ॥
> गए बन घन ओर, नवल नद-किसोर, नवल-राधा, नए कुज भारी।
> अग पुलकित भए, मदन तिन तन जए, सूर प्रभु स्याम स्यामा बिहारी ॥
> (1302)

सूरदास ने ब्रह्मवैवर्त पुराण और गीतगोविंद से भिन्न दृष्टिकोण अपनाया है। सूरसागर मे वैवर्तपुराण की भाति मार्ग मे विवाह का आयोजन नही है। गीतगोविंद और सूरसागर मे अतर यह है कि जहा गीतगोविंद मे प्रकृति की भयानकता से कृष्ण डरते हुए दिखाई देते हैं, वहा सूरसागर मे नद ही त्रस्त हैं। इसमे नद

की ममता और पुत्रस्नेह की अभिव्यक्ति है। सूरसागर मे राधा-कृष्ण की रसकेलि के लिए राधा-कृष्ण का किशोर वय तथा कुजो का आकर्षक परिवेश भी है। सूरदास ने वस्तुस्थिति के बीच से भाव की व्यजना की है।

सूरसागर की चीरहरण लीला तथा रासलीला का मूल रूप भागवत मे है, किंतु सूरदास ने इन दोनो को नवीन कलात्मक रूप मे उपस्थित किया है। भागवत मे चीरहरण और रासलीला की दार्शनिक व्याख्या है। भागवतकार ने सामाजिक औचित्य की दृष्टि से चीरहरण लीला और रासलीला की आध्यात्मिक विवेचना की है। सूरसागर मे ये दोनो लीलाए विशिष्ट कलात्मक रूप मे अभिव्यजित होने के कारण औचित्य-अनौचित्य से परे है। सूरसागर के सयोग वर्णन से हरिवशपुराण और ब्रह्मवैवत पुराण की समानता प्रतीत होती है किंतु जहा हरिवश और ब्रह्मवैवत की रति क्रीडाओ के वर्णन मे इद्रियासक्ति और भोग-वासना की प्रधानता है, वहा सूरसागर मे इद्रियग्राह्य बिंबात्मक रूपाकन और प्रेम का आत्मोन्मुख स्वरूप ही मुख्य है। सूरसागर की चीरहरण लीला मे प्रेम का सामूहिक विकास है। रासलीला कृष्ण तथा गोपियो के प्रेम का चरम उत्कर्ष बिंदु है जहा शारीरिक, मानसिक गोपनीयता या रहस्यावरण का अभाव है। राग-योग की इस दशा मे वृहदारण्यक के इस कथन की सिद्धि है

> तद्वा अस्यैतदतिच्छन्मा अवहतपाप्माऽभय रूप तद्यथा प्रियया स्त्रिया सपरिष्वन्क्तो न बाह्य किंचन वेद नानतरमेवमेवाय पुरुष प्रज्ञेनात्मना सपरिष्वक्तो न बाह्य किंचन वेदनातर तद्वा अस्यैतदाप्तकामात्मकाममकाम रूप शोकातरम्। (4-3-27)

अर्थात जैसे पुरुष को अपनी प्रिया स्त्री के आलिंगन काल मे यह सुधि नही रहती कि बाहर क्या है भीतर क्या, उसी प्रकार जब उपासक प्राज्ञ द्वारा आलिंगित होता है तब उसे भीतर-बाहर की सुधि नही रहती है। सूरसागर की रासलीला मे सयोग का यही मानसिक और आध्यात्मिक रूप है, जहा लौकिक और अलौकिक का अभेद है। यही कारण है कि सूरसागर की चीरहरण लीला और रासलीला की नैतिकता की दृष्टि से औचित्य-चर्चा अनावश्यक है। सूरसागर की कथावस्तु मे सूर की नवीन कलात्मक दृष्टि का प्रतिफलन कथावस्तु के निर्माण, रूप-चित्रण तथा भाव-दशाओ के अकन मे है।

सूरसागर की कथावस्तु की सबसे बडी विशेषता है विषमताओ को एकसार करना, जो समृद्ध सर्जनात्मक कल्पना का प्रमुख लक्षण है। कालरिज ने सर्जनात्मक कल्पना को समन्वय, सामजस्य और सश्लेषण या सतुलन-सस्थापन की शक्ति मानते हुए लिखा है कि वह (कल्पना) साम्य और वैषम्य, अमूर्त और मूर्त, विचार और बिंब, व्यष्टि और समष्टि, प्राचीन वस्तुबोध और नवीनताबोध, सयम और

प्रबल उन्माद, कृत्रिम और प्राकृत, सगीतात्मक आनद और प्रभावान्विति आदि का समन्वित स्वरूप उपस्थित करती है। इसी प्रक्रिया के सहारे किसी एक सशक्त भाव या विचार द्वारा कवि विचार-शृ खला को नियमित करता है[54]।

सूरसागर के प्रत्येक सहृदय पाठक के समक्ष सहज ही देवत्व और नरत्व, मानवीय और अतिमानवीय लीला, सगुण और निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप, वैधी और रागानुगा भक्ति, राग और विराग, प्रवृत्ति और निवृत्ति, रूप और अरूप, शरीर और आत्मा, भक्ति और शृ गार, प्रकृति और मानव, व्यक्ति और समाज, दर्शन और काव्य, काव्य और सगीत, चित्र, नृत्य आदि का वह समन्वित स्वरूप उपस्थित होता है जो सूर की सर्जनात्मक कल्पना और अद्वितीय रचनाशक्ति की देन है। इसमे भक्ति की धारा अत सलिला की भाति सपूर्ण काव्यवस्तु मे प्रवाहित हो रही है। सूरसागर की काव्यवस्तु की कलात्मकता के मूल मे सूर की सगीत-सवेदना और सामजस्य ज्ञान का बडा भारी योगदान है।

सदर्भ

1 परशुराम चतुर्वेदी, 'वैष्णव धर्म व सप्रदाय का क्रमिक विकास', हिंदुस्तानी, जनवरी 1937, भाग 7, अक 1, पृ 47

2 वासुदेवशरण अग्रवाल, (स) 'पोद्दार अभिनदन ग्रथ', अखिल भारतीय ब्रज साहित्य मडल मथुरा, प्रथम सस्करण, सवत 2010, पृ 667-74

3 वही, 673

4 राधाकमल मुखर्जी, 'दि फ्लावरिंग आफ इडियन आर्ट', बबई, 1964, पृ० 50

5 आर जी भडारकर, 'कलेक्टेड वर्क्स', भाग 4, पूना, 1929, पृ० 15

6. ब्रजेश्वर वर्मा, 'वासुदेव कृष्ण', हिंदी अनुशीलन, वर्ष 7, अक 2, पृ० 5

7 वही, पृ० 5

8 वाल्टर रूबेन, 'स्टडीज इन ऐंशिएट इडियन थाट', कलकत्ता, 1966, पृ० 72

9 हेमचद्र रायचौधरी, 'मैटिरियल्स फार दि स्टडी आफ दि अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सेक्ट', कलकत्ता, 1920, पृ०7

10 वही, पृ० 39

11 वही, पृ० 50

12 आर जी भडारकर, पूर्वोद्धृत, पृ० 16

13 वही, पृ० 14

14 हेमचद्र रायचौधरी, पूर्वोद्धृत, पृ० 7
15 वही, पृ० 18
16 वही, पृ० 19
17 वही
18 आर जी भडारकर, पूर्वोद्धृत, पृ० 12
19 वही, पृ० 12-13
20 'पोद्दार अभिनदन ग्रथ', पृ०745
21 वही, पृ० 746
22 आर जी भडारकर पूर्वोद्धृत, पृ० 5
23 हेमचद्र रायचौधरी, पूर्वोद्धृत, पृ० 22
24 वही, पृ० 62
25 के एम मुशी (स), 'इडियन इनहेरिटेंस', भाग 1, भारतीय विद्या भवन, बबई, 1965, पृ० 44
26 हेमचद्र रायचौधरी, पूर्वोद्धृत, पृ० 7
27 वही, पृ० 16-17
28 वही, पृ० 52
29 हरवशलाल शर्मा, 'सूर और उनका साहित्य', अलीगढ, सवत 2020, पृ० 120
30 आर जी भडारकर, पूर्वोद्धृत, पृ० 18
31 वही, पृ० 43-44
32 हरवशलाल शर्मा, पूर्वोद्धृत, पृ० 120-121
33 बुद्धप्रकाश, 'वेद एक ऐतिहासिक अध्ययन', नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 63, अक 3-4, पृ० 319
34 भगवानदास, 'कृष्ण', भारतीय विद्या भवन, बबई, 1962, पृ० 91
35 आर जी भडारकर, पूर्वोद्धृत, पृ० 51
36 मुशीराम शर्मा, 'भारतीय साधना और सूर साहित्य', कानपुर सवत 2017, पृ० 152
37 हेमचद्र रायचौधरी, 'अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सेक्ट', पृ० 24
38 मुशीराम शर्मा, पूर्वोद्धृत, पृ० 154
39 पोद्दार अभिनदन ग्रथ, पृ० 645
40 वही, पृ० 781
41 आर जी भडारकर, पूर्वोद्धृत, पृ० 53
42 हेमचद्र रायचौधरी, पूर्वोद्धृत, पृ० 91
43 वाल्टर रूबेन, पूर्वोद्धृत पृ० 56

44 हेमचद्र रायचौधरी, पूर्वोद्धृत, पृ० 91
45 हरवशलाल शर्मा, 'भागवत दर्शन', अलीगढ, सवत 2020, पृ० 28
46 हेमचद्र रायचौधरी, पूर्वोद्धृत, पृ० 42
47 ब्रजेश्वर वर्मा, 'पोद्दार अभिनदन ग्रथ', पृ० 259
48 हरवशलाल शर्मा, पूर्वोद्धृत, पृ० 85
49 आर जी भडारकर, पूर्वोद्धृत, पृ० 57
50 वही, पृ० 58
51 हेमचद्र रायचौधरी, पूर्वोद्धृत, पृ० 105
52 आर जी भडारकर, पूर्वोद्धृत, पृ० 120
53 हरवशलाल शर्मा, 'सूर और उनका साहित्य', पृ० 148
54 आई ए रिचर्ड्स, 'प्रिंसिपल्ल आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म', लदन, 1961, पृ०242

चरित्रबोध का स्वरूप

सूरसागर मे यद्यपि लीला और भाव की ही प्रधानता है किंतु इसमे चरित्र का अभाव नही है। इसमे केवल लीला का आरोप नही है, बल्कि चरित्रबोध भी है, विभिन्न व्यक्तित्वो का स्वतत्र विकास भी है। सूरसागर मे चरित्र का विकास लीलाक्रम के अनुरूप ही हुआ है। सूरसागर के अनेक पात्रो के व्यक्तित्व मे एक विशेष भाव-स्तर पर अभेद प्रतीत होता है, किंतु प्रत्येक व्यक्तित्व मे अपने शील और स्वभाव की विशिष्टता के कारण एक दूसरे से भिन्नता है। वात्सल्य भाव के स्तर पर यशोदा, नद, वसुदेव और देवकी मे कोई मौलिक भेद नही है। सबके हृदय मे कृष्ण के प्रति असीम स्नेह है, अक्षय वात्सल्य है, किंतु अपने शील और स्वभाव के मौलिक अतर के कारण ये सभी एक दूसरे से भिन्न हैं। भाव के स्तर पर सभी गोपियो मे आतरिक एकता है किंतु राधा के अतिरिक्त चद्रावली, ललिता, विशाखा और सुखदा आदि गोपियो के चरित्र की अपनी विशेषताए हैं। कृष्ण के गोप सखाओ मे सख्य भाव के स्तर पर अनुभूति की समानता दिखाई पडती है, किंतु श्रीदामा, सुदामा, सुबल आदि के व्यक्तित्व मे पर्याप्त अतर दिखाई पडता है।

सूरसागर मे कृष्ण के चरित्र मे मनोवैज्ञानिक विश्वसनीयता और रहस्यात्मकता का पुट है, मानवीय चरित्र तथा दिव्य लीला का सामजस्य है। श्रीकृष्ण के मनोवोचित तथा अनुभूतिगम्य चरित्र और रहस्यात्मक दिव्य लीला के बीच सामजस्य के कारण ही सूरसागर का आस्वादन आस्थावान व्यक्ति और आस्था-अनास्था की दुविधा से मुक्त व्यक्ति समान रूप से कर सकते हैं। विभिन्न पात्रो के सजीव व्यक्तित्व के माध्यम से मन की भगिमाओ की विविधता मूर्त रूप मे विशेष कलात्मक ढग से सूरसागर मे अभिव्यक्त है। सूरसागर मे मानव चरित्र और दिव्य लीला की समन्वित अनुभूति है। इससे सूरसागर की कलात्मकता विशेष निखर उठी है और उसके प्रभाव की सीमा व्यापक हुई है।

लीला क्या है ?

भक्तिदर्शन की चिंतनपरपरा के अनुसार चरित्र और लीला मे अतर होता है। चरित्र का सबध मनुष्य से होता है और लीला का ईश्वर से। धार्मिक चिंतन के अनुसार जगत ईश्वर की लीला का परिणाम है। भक्तिदर्शन की मान्यता है कि सपूर्ण सृष्टि सच्चिदानद की लीला का परिणाम है। जगत के चेतन-अचेतन सभी तत्त्व उनके आत्मरूप ही हैं, वह सब मे अतर्निहित है, सारा जगत उसमे स्थित है और वह सबका नियामक है। तैत्तिरीय उपनिषद मे सृष्टि के आविर्भाव की व्याख्या करते हुए ऋषि कहता है—'उसने (ब्रह्म)कामना की कि मैं बहुत होऊ, जन्माऊ। उसने तय किया। उसके तप के कारण यह जो कुछ है, इस सब (जगत) को सिरजा। उसको सिरज कर फिर उसमे प्रविष्ट हो गया। उसमे प्रविष्ट कर सत् और तत् (वह) हो गया, व्याख्यात-अव्याख्यात, निलयन और अनिलयन, विज्ञान और अविज्ञान (अचेतन), सत्य और अनृत (असत्य) हो गया।[1] कल्पात मे ईश्वर ने लीला-समुत्सुक होकर ही जगत की सृष्टि की। वस्तुत भगवान मे रिरसावृत्ति के साथ ही सिसृक्षावृत्ति और युयुत्सावृत्ति भी रहती है, ये दोनो वृत्तिया सामयिक होती है। रिरसावृत्ति ही नित्य होती है। रिरसा अर्थात रमण करने की इच्छा। रिरसावृत्ति उस शक्ति का परिणाम है जिसे परा शक्ति कहते है। यह जो भगवान की नित्य रिरसावृत्ति है, वही सच्चिदानदमयी लीला मे सदा अभिव्यक्त होती रहती है।[2]

बृहदारण्यक मे भी कहा गया है कि यह आत्मा (परमात्मा) ही पहले पुरुष जैसे था। उसने नजर दौडाकर अपने से भिन्न (किसी) को नही देखा। (उसने) मैं हू (सोह) यह पहले कहा। इसलिए अह नाम वाला हुआ। उसने दूसरे की चाह की। उसने (अपने) इसी आत्मा (शरीर) के दो भाग किए, उससे पति और पत्नी हुए।[3] यह ईश्वर की चाह ही रिरसावृत्ति है और यही इस लीला का मूल कारण है। परा शक्ति ही लीलावती राधा है, जो लीलारस समुत्सुक सच्चिदानद भगवान की नित्य लीला सहचरी हैं।

भगवान की सच्चिदानदमयी लीला दो प्रकार की होती है—नित्य लीला और नरलीला या अवतार लीला। इसे ही गुप्त लीला और प्रकट लीला भी कहते हैं। इसे क्रमश गोलोक लीला और ब्रज लीला भी कहा जाता है। नित्य लीला भी दो प्रकार की होती हैं—मत्रोपासनामयी और स्वारसिकी। ब्रह्म के दो रूप हैं, मूर्त (साकार) और अमूर्त (निराकार)। वह अमूर्त निराकार रूप मे नित्य गोलोक मे लीला प्रवृत्त रहता है। गोलोक, देवलोक और ब्रह्मलोक से भी ऊपर महाकाश मे स्थित है। गोलोक की लीला नित्य है। उसमे विरह का अभाव होता है और वह मानवीय अनुभूति का विषय नही बन सकती।

वृदावन मे श्रीकृष्ण की लीला नित्य भी है और क्रमिक भी, गुप्त भी है और

प्रकट भी। श्रीकृष्ण के दो रूप है—ऐश्वर्यमय और प्रेममय। उनकी मथुरा और द्वारिका की लीला ऐश्वर्यमयी है, लेकिन वृ दावन की लीला प्रेममयी है। श्रीकृष्ण की मधुर रससिक्त लीलाओ के रसिक भक्तो के लिए वृ दावन-लीला ही सर्वोत्तम है, क्योकि यही श्रीकृष्ण की सगुण साकार सरूप रसवत लीला का क्षेत्र है, जो भक्तो के लिए अनुभवगम्य है, अनुभूति का विषय है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है 'सत्य का वही रूप मनुष्य के काम का है, जो उसकी अनुभूतियो का विषय बन सका है। नित्य लीला बहुत बडी चीज है, भगवान का शाश्वत रूप और भूमा रूप निस्सदेह बडे महत्त्व के हैं, लेकिन आनद रूप का माहात्म्य अधिक है, क्योकि मनुष्य अपनी सीमाओ के भीतर से, अपने देशकाल परिच्छिन्न मन से जो अनुभव करता है वही उसका यथार्थ है।[4] राधाकृष्ण की वृ दावन लीला मे विरह-भाव के लिए पर्याप्त अवसर है, इसलिए चैतन्य महाप्रभु वृ दावन की इस माधुर्यमयी लीला को ही अपनी प्रेम साधना का साध्य और साधन मानते थे। यह वृ दावन की रसमयी लीला अनुभूति का विषय है, इसलिए यही अधिकाश कृष्ण-भक्त कवियो के काव्य का विषय है।

वृ दावन की माधुर्यमयी लीला का मूल तत्त्व है प्रेम। इस लीला के अनुसार प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर प्रेममय है। सपूर्ण लीला का कारण तत्त्व प्रेम ही है और श्रीकृष्ण उस प्रेम के आलबन है। यह प्रेमतत्त्व भक्ति का मूल तत्त्व है। भक्ति पर्यवसायी प्रेम मध्यकालीन भक्ति-साहित्य की आत्मा है और दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य इसके आश्रय के अनुकूल विभिन्न रूप है। नित्य द्वैत और अद्वैत ही प्रेम का स्वरूप है। प्रेम मे समत्व का भाव आवश्यक है, इसलिए भगवान वृ दावन की प्रेममयी लीला के लिए अपने ऐश्वर्यलोक का परित्याग कर नर रूप मे गोप-गोपियो के बीच मानवोचित आचरण मे प्रवृत्त हुए है। इस वृ दावन की वात्सल्य, सख्य तथा भावती लीला मे जहा उनसे मानवीयता अलग होती है तथा ईश्वरत्व प्रकट होता है, वहा वे भय या श्रद्धा उत्पन्न करते हैं, प्रेम नही। वृ दावन की भावती लीला मे प्रेम की पूर्णता है। चीरहरण लीला इसका प्रस्थान बिंदु है और रासलीला चरमोत्कर्ष। वृ दावन की सपूर्ण लीला लौकिक होकर भी लोकोत्तर है, विधि-निषेध से परे है, इसलिए इसे लौकिक नैतिकता का विषय नही बनाया जा सकता। भक्त का अत करण ही इस लीला की अनुभूति की गहनता और निश्छलता का प्रमाण है। व्यक्तियो के अत करण मे जो समाजचेतना है, उस चेतना के सामान्य धरातल पर ही लीला की अनुभूति व्यक्ति के अतःकरण का धर्म होकर समाज का धर्म बन जाती है। लीला और चरित्र मे अतर है, लीला भगवान की इच्छा का परिणाम है और चरित्र व्यक्ति के शील का स्वरूप। चरित्र का आचरण और अनुकरण सभव है, किंतु लीला का नही। इसलिए भगवान कृष्ण की वृ दावन की लीलाए भक्तिभावना का विषय है, अनुकरण का

नही।

सूरदास का सूरसागर लीलारस का तरगायित सागर है जिसमे प्रेम की धाराओ के लयात्मक नर्तन मे भक्ति की आत्मा का सगीत सुनाई पडता है। सूरदास ने ईश्वर को 'मन वानी कौ अगम अगोचर' कहकर साकार सगुण नररूप श्रीकृष्ण की प्रेममयी लीलाओ को ही अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति का विषय बनाया है। सूरदास ने सपूर्ण अवतारलीला का कारण प्रेम को ही माना है। सूर के श्याम प्रीति के वशीभूत है, वे अपने प्रेमियो मे ऊच-नीच, पुरुष-नारी आदि का कोई भेद नही करते है। प्रीति के कारण ही वे देवकी-पुत्र है और यशोदानदन भी। सख्य प्रीति के कारण ही वे गोचारण करते है और नदनदन भी कहलाते है। प्रीति ही राधाकृष्ण लीला का भी मूल कारण है

प्रीति के बस्य है ये मुरारी।
प्रीति के बस्य नटवर सुभेषहि धर्‌यौ प्रीतिबस करज गिरिराजधारी ।।
प्रीति के बस्य ब्रज भए माखनचोर, प्रीति के बस्य दावरि बधाई।
प्रीति के बस्य गोपीरमन नाम प्रिय, प्रीतिबस जमलतरु मोछदाई ।।
प्रीतिबस नदबधन बरुन गृह गए प्रीति के बस्य बनधाम कामी ।।
प्रीति के बस्य प्रभु सूर त्रिभुवनबिदित, प्रीतिबस सदा राधिकास्वामी ।।
(2636)

प्रीति के वशीभूत होकर ही भगवान श्रीकृष्ण नरलीला करते है। वे कभी गोवर्धन धारण करते है और कभी माखनचोरी। वे सभी बधनो से मुक्त होकर भी कभी रस्सी से बध जाते है। प्रेम की प्रगाढता के कारण ही वे गोपीरमण है, यमलार्जुन उद्धारक है, बनमाली है और राधिकावल्लभ भी है। इस प्रकार सूरदास सपूर्ण अवतारलीला या नरलीला का कारण प्रेम को ही मानते है। सूरसागर मे राधा-कृष्ण की मधुर लीला गुप्त और प्रकट दोनो रूपो मे वर्णित हे। सूरदास श्यामा श्याम की गुप्त लीला की अनुभूति करते है और गोकुल की प्रकटलीला को गोलोक की नित्यलीला का प्रकाश ही मानते है। वृदावन की रासलीला, नारायण और कमला के मन को भी मोहित करती है और इस लीलारस की आनदानुभूति के लिए नारायण भी विमुग्ध मन से कामना व्यक्त करते है

मुरली-धुनि बैकुठ गई।
नारायण-कमला सुनि लपति, अति रुचि हृदय भई।।
सुनौ प्रिया यह बानी अद्भुत, वृदावन हरि देखौ।
धन्य-धन्य श्रीमति मुख कहि-कहि, जीवन ब्रज कौ लेखौ।
रास-विलास करत नद-नदन, सो हमतें अति दूरि।
धनि बन-धाम, धन्य ब्रज-धरनी, उडि लागै जौ धूरि ।।
यह सुख तिहू भुवन मैं नाही, जौ हरि सग पल एक।
सूर निरखि नारायण इकटक, भूले नैन निमेष ।। (1682)

सूरदास के कृष्ण मे लीला और चरित्र की एकता

श्रीकृष्ण कवि सूरदास के इष्टदेव है, जिनकी सगुणलीला के पदो का गान भक्त का लक्ष्य है। विनय के पदो मे सूरदासजी ने श्रीकृष्ण को वासुदेव, हरि, गोविद, श्याम, गिरिधर, कान्ह, मनमोहन, मोहन, माधव, गोपाल, नदकुमार, घनश्याम, भगवान, ब्रजनाथ, मुरारी, आदि अनेक नामो से सबोधित करते हुए आत्म-विनय का निवेदन किया है। इन पदो मे वैदिक साहित्य, गीता तथा दार्शनिको के द्वारा विवेचित ईश्वर का तात्त्विक रूप और पुराणो मे वर्णित श्रीकृष्ण के लीलाप्रवण स्वरूप प्रकट है। इन पदो मे मध्यकाल के भक्त कवियो के साधुहितकारी एव असाधु अहेरी भगवान की 'शक्ति, शील और सौदर्य' का उद्घाटन हुआ है। सूरदास ने श्रीकृष्ण को ब्रह्मा, विष्णु, शिव, नारायण आदि से श्रेष्ठ कहा है और श्रीकृष्ण के स्वरूप मे आरण्यको और ब्राह्मण ग्रथो के वासुदेव के दार्शनिक स्वरूप का भी समावेश किया है

बासुदेव की बडी बडाई।
जगत-पिता, जगदीस, जगत-गुरु, निज भक्तनि की सहत ढिठाई।
भृगु को चरन राखि उर ऊपर, बोले बचन सकल-सुखदाई॥
शिव-विरचि मारन को धाए, यह गति काहू देवन पाई।
बिनु बदलै उपकार करत है, स्वारथ बिना करत मित्राई।
रावन अरि कौ अनुज विभीषन, ताकौ मिले भरत की नाई।
बकी कपट करि मारन आई, सौ हरि जू बैकुठ पठाई।
बिनु दीन्हे ही देत सूर-प्रभु, ऐसे हैं जदुनाथ गुसाई॥ (3)

सूरदास ने विनय के पद मे राम और कृष्ण का अभेद अनेक स्थलो पर स्थापित किया है। श्रीकृष्ण के भक्तवत्सल और करुणाकर स्वभाव की कवि ने बार-बार वदना की है। सूरसागर के कृष्ण लोक और देव दोनो के वद्य और आराध्य है। वैसे तो सूरसागर के भीतर सपूर्ण नरलीला के अतर्गत देवलीला का आलोक है, किंतु नरलीला या प्रकटलीला मे श्रीकृष्ण का मानवीय रूप ही अधिक मुखर है। श्रीकृष्ण का अतिमानवीय या अलौकिक स्वरूप पुराणो का विषय है। सूरदास के काव्य मे श्रीकृष्ण के मानवोचित व्यवहार और चरित्र की ही प्रधानता है। सूरदास श्रीकृष्ण के मानवीय रूप, गुण और चरित्र के साथ-साथ कभी-कभी उनके दिव्य स्वरूप की ओर भी सकेत कर देते हैं। सूरसागर मे श्रीकृष्ण के मानवीय, अतिमानवीय और अलौकिक रूपो की सुसबद्ध कलात्मक अभिव्यक्ति है।

बाल छवि . यशोदानदन नदकुमार

रूपोपासक कवि सूरदास की रूप की धारणा, रूप की अनुभूति तथा रूपबोध की

कलात्मक अभिव्यक्ति सूरसागर मे है। रूप तथा गुण के उपासक के मानस मे जो छविमूर्ति स्थापित हो गई थी, उसे उसने शब्दो के सहारे अभिव्यक्त कर सर्वसुलभ बनाने का महत प्रयास किया। ब्रज मे श्रीकृष्ण का अवतरण ही सौदर्य के सागर का प्रवाह है। सौदर्य-सागर की जो लहरें उठी, उनके स्पर्श से गोकुल की गली-गली और ब्रजवासियो का अत करण आनदमय हो गया

सोभा-सिंधु न अत रही री।
नद-भवन भरि पूरि उमगि चलि ब्रज की बीथिनि फिरति बही री।
देखी जाइ आजु गोकुल मैं, घर-घर बेंचति फिरति दही री।
कह लगि कहौं बनाइ बहुत बिधि, कहत न मुख सहसहु निबही री।
जसुमति-उदर-अगाध उदधि तैं, उपजी ऐसी सबनि कही री।
सूरस्याम प्रभु इन्द्र-नीलमनि, ब्रज-बनिता उर लाइ गही री। (647)

कृष्ण के जन्मोत्सव के कारण नद के घर पर बाजे बज रहे हैं, खुशी के गीत गाए जा रहे है, यशोदा के हृदय मे असीम आनद तरगायित हो रहा है और ब्रजवासियो का मन अत्यत उल्लसित है। ब्रज की सपूर्ण प्रकृति ही आनद ज्योति से प्रकाशित हो रही है (पद स 648)। गोकुलवासियो की आखे कृष्ण के बालरूप का पान कर रही है।

श्रीकृष्ण के अनुदिन विकास के साथ ही साथ ब्रजवासियो का आनद भी वृद्धिमान है। यशोदा कृष्ण को पालने मे झुलाती हैं, और कृष्ण के सोने के लिए लोरी गाती हैं। कृष्ण कभी आख मूँदकर सोने का बहाना करते हैं और कभी-कभी अधरोष्ठो को स्पदित करते हैं। मा कृष्ण को निद्रामग्न जानकर गाना बद कर देती हैं तो कृष्ण जग जाते हैं और लोरी पुन प्रारभ हो जाती है (पद स 661)। यशोदा कृष्ण की बालछवि पर मुग्ध हैं, कृष्ण की घुघराली लटें, सुदर आखें और मनमोहक मुस्कान से सुख मे सुख की वृद्धि हो रही है (पद स 709)। कवि ने कृष्ण के घुटनो के सहारे चलने का मनोहर चित्र खीचा है। कृष्ण की कमर मे किंकिनी है, भाल पर लटें लटकी हुई हैं, गले मे हरिनख और प्रवाल माला है, कलाई मे पहुची, करों मे नूपुर और शरीर पिताबर से आवृत्त है (पद स 715)।

सूर ने कृष्ण की बाल छवि की मोहक मुद्राओ का कलात्मक वर्णन किया है। सूर का मानस कृष्ण की रूप-राशि के आलोक से उद्दीप्त है और वाणी गुणगान मे सलग्न। नेत्रो मे रूप ग्रहण की शक्ति है किंतु वाक् शक्ति रसना के पास नही है। रूप ग्रहण की शक्ति और अभिव्यक्ति की शक्ति के अलगाव के कारण कृष्ण की बाल छवि के वर्णन मे कवि कठिनाई का अनुभव करता है। वह सवाक् नेत्रो की कामना करता है, जिससे वह बाल रूप की पूर्ण अनुभूति को शब्दार्थ मे रूपायित कर सके :

बरनौ कहा अग-अग-सोभा, भरी भाव जल-रास री।
लाल गोपाल बाल-छवि-बरनत, कवि-कुल करिहैं हास री।।
जो मेरी अखियनि रसना होती कहती रूप बनाइ री
चिरजीवहु जसुदा कौ ढोटा, सूरदास बलि जाइ री।। (757)

सूरसागर के बालकृष्ण का सौदर्य असाधारण है, वे सुदरता के मदिर मे रूपरत्न की उद्दीप्त ज्योति हैं

मानौ सुदरता-मदिर मैं रूप-रतन की ज्योति री।
सूरदास देखैं सुदर मुख, आनद उर न समाइ री।। (754)

विनोदी बालक

बालक श्रीकृष्ण का सौंदर्य तो अपार है ही, उनकी बाललीलाए अत्यत आकर्षक है। कृष्ण अपने मुख प्रतिबिंब को पकडने के लिए घुटनो के बल दौड रहे हैं, कुछ कहना चाहते हैं, किंतु वाणी स्फुट नहीं है, इसलिए माखन सकेत से मागते हैं। कृष्ण का यह बालविनोदी रूप ही यशोदा के मानस को विकसित करने वाला है। (पद स 720)। कृष्ण पहले घुटनो के बल चलते हैं, फिर पैरो के बल खडे होने की कोशिश करते हैं। वे कभी-कभी बाल मराल की भाति धीरे-धीरे चलने का प्रयास करते हैं (पद स 732)। मा यशोदा कृष्ण को चलना सिखा रही हैं और कृष्ण डगमगाकर कभी-कभी गिर जाते हैं (पद स 738)। सूरदास ने कृष्ण की इन बाललीलाओ के साथ ही बालक की मनोदशाओ का भी चित्रात्मक वर्णन किया है। कृष्ण बलराम की लबी मोटी वेणी देखकर मा यशोदा से बाल-स्पर्धावश अपनी वेणी के लबी और मोटी होने की कामना करते है (पद स 774)। कृष्ण कभी गाते हैं, कभी नाचते हैं और कभी-कभी हाथ उठाकर गायो को विभिन्न नामो से पुकारते है। कृष्ण अपने छोटे हाथ से थोडा-सा माखन अपने मुह मे डालते है और तुरत मणिमय खभो मे अपना प्रतिबिंब देखकर अपने प्रतिबिंब को भी खिलाने का प्रयास करते हैं (पद स 795)। इस प्रकार विभिन्न प्रसगो के माध्यम से सूरदास ने बालक कृष्ण की रूप-माधुरी और लोला का वर्णन किया है। कृष्ण के बाल-रूप का वर्णन और बाल-विनोद के चित्रण मे ही उनके अवतारी स्वरूप का वर्णन किया है जिसमे राम और कृष्ण तथा शिव और कृष्ण की एकता प्रतिपादित है (पद स 788)। कृष्ण का राम और शिव के साथ समन्वय सूरदास की समन्वयवादी उदार भक्तिभावना के कारण है।

कृष्ण का माखनचोर रूप

कुछ सयाने होने पर श्रीकृष्ण की चचलता और विनोदप्रियता मे कुछ अधिक वृद्धि हुई है। कृष्ण मा यशोदा से माखन मागते हैं तो गोपिया कृष्ण को अपने घर पर

माखन खाने का निमत्रण देती हैं (पद स 882)। एक बार श्रीकृष्ण एक गोपी के घर माखन चोरी के लिए पहुचे। गोपी कृष्ण को देखकर छुप गई। कृष्ण माखन से भरी कमोरी के पास जाकर माखन खाने लगे और निकट के मणिमय स्तभ मे अपना प्रतिबिब देखकर उसे दूसरा ही माखनचोर समझने लगे। इस माखनचोरी मे कृष्ण का एक सहयोगी मिल गया तो कृष्ण चोरी का माखन बाटकर खाने लगे (पद स 883-84)। पहले कृष्ण अकेले माखनचोरी करते हैं, लेकिन बाद मे ग्वाल मडली के साथ ब्रज-भर मे यह माखनचोरी-लीला चलने लगती है। कृष्ण कभी किसी गोपी के घर माखन चुराते है, सखाओ मे बाटते है तो कभी बर्तन फोड डालते है। गोपिया कृष्ण की इस माखनचोरी से तग आकर यशोदा से शिकायत करती है। इस माखनलीला मे ही सूर ने प्रेमलीला का भी आयोजन किया है। कृष्ण एक गोपी के घर पहुचते हैं, गोपी दही मथ रही है, कृष्ण दरवाजे पर खेलने लगते है। गोपी कृष्ण को देखती है, घर मे बुलाती है, कृष्ण को आलिगन मे बाध लेती है। कृष्ण के स्पर्श से गोपी का मन उमगित हो रहा है, चोली दरक गई है और वह तन-मन की सुधि भूल गई है। बालक कृष्ण बारह वर्ष के युवक हो गए हैं (पद स 919)। इस प्रकार इस बाललीला के बीच से प्रेमलीला विकसित होती है।

कृष्ण की इस माखनचोरी से तग आकर गोपियो ने यशोदा से शिकायत की। कृष्ण मा के हृदय मे ममता जगाने का प्रयास करते हैं, लेकिन कृष्ण की यह चोरी और चातुरी साथ-साथ कब तक चल सकती है? यशोदा भी शिकायत सुनते-सुनते ऊब गईं तो एक दिन कृष्ण को ओखली मे बाध ही दिया। गोपियो ने जब माखनचोर चितचोर को बधा देखा तो उन्का चित्त व्याकुल हो गया। ओखली से बधे कृष्ण का जो करुण चित्र सूरदास ने खीचा है उसे देखकर गोपिया ही क्या, किसी भी सहृदय का हृदय विकल हो सकता है। गोपियो ने बार-बार यशोदा से कृष्ण को मुक्त करने की प्रार्थना की, लेकिन यशोदा ने गोपियो को डाट दिया। गोपियो ने यशोदा से कहा—यशोदा, कृष्ण की ओर देखो। क्या इस सुदर बालक पर तुम्हारा यह कठोर क्रोध उचित है? बार-बार तुम्हारे क्रोधित मुह को देखकर दधिचोर कृष्ण लज्जा और भय से नतमुख हो रहा है, उसके नेत्र सजल हैं और आखो मे अश्रु की वर्षा हो रही है

जसुदा देखि सुत की ओर।
बाल बैस रसाल पर, रिस इति कहा कठोर।
बार बार निहारि तुव तन, नमित-मुख दधि-चोर।

•

त्रास तें अति चपल गोलक, सजल सोभित छोर।
मीन मानो बेधि बसी, करत जल झकझोर।

नद-नदन जगत बदन, करत आसू कोर।
दास सूरज मोहि सुख हित निरखि नदकिसोर ।। (979)

गोपाल, गोविंद, मुरलीधर

गोचारण मे कृष्ण के गोपाल रूप का उद्घाटन हुआ है। कृष्ण कुछ बडे हो गए है और अब वे गोचारण के लिए वृ दावन जाने का मा से आग्रह करते है (पद स 1029)। कृष्ण अपने सखाओ और बधु बलराम के साथ गाय चराने के लिए वृ दावन जाना चाहते हे, किंतु यशोदा उन्हे रोकती है। कृष्ण भागकर सखाओ के साथ गोचारण के लिए चले जाते हैं। यशोदा कृष्ण को बलराम के सरक्षण मे वृ दावन जाने देती हैं (पद स 1131)। गोचारण के बाद सध्या समय गोकुल की ओर लौटते हुए श्रीकृष्ण का मनोहर चित्र सूरदास ने उपस्थित किया है (पद स 1035)। गोचारण मे सखाओ के बीच कृष्ण के मानवीय रूप के अनेक पक्षो का वर्णन है। गोप बालक कौतुकवश गायो को इधर-उधर हाककर कृष्ण को परेशान करते हे, उन्हे कभी चिढाते है और कभी डराते है। गोचारण मे सख्य, सहयोग और सहजीवन का सुदर सामजस्य दिखाई पडता है। कृष्ण गोचारण से लौटकर मा यशोदा से बलराम की शिकायत करते है और गोप बालको की भी। ममतामय मातृ हृदय कृष्ण की शिकायत पर विह्वल हो जाता है, यशोदा गोप बालको पर क्रोधित होती है, बिगडती हैं, (पद स 1128)। गोचारण के प्रसग मे ही नागलीला, दावानल पान, प्रलब वध आदि मे कृष्ण का अलौकिक रूप प्रकट हुआ है।

गोपाल अब मुरलीधर हो गए है, बाललीला अब प्रेमलीला मे प्रवेश कर रही है, स्नेह अब अनुराग का रूप धारण कर रहा है, रूप नाद पर आरोहित होकर जगतव्यापी हो गया है। कृष्ण की मुरली चराचर को नया स्वभाव और नई प्रकृति प्रदान करती है। मुरली की स्वरमाधुरी से स्थिर गतिशील और गतिशील स्थिर हो जाते है (पद स 1238)। गोपिया श्रीकृष्ण के असीम रमणीय अग-सौदर्य को अपने हृदय मे सीमित करना चाहती है। गोपियो का अतर श्याम के प्रेम से आप्लावित है, उनकी मधुप आखो की पाखे कृष्ण के रूप-मधु से सिक्त हैं, मानस उल्लास से आपूण है। ऐसी मनोदशा मे लज्जा की कोई सार्थकता है?

सुनत मुरली भवन डर न कीन्हौं।
स्याम पै चित्त पहुचाई पहिलै दियौ, आपु उठि चली सुधि मदन दीन्हौ।
कहत मन-कामना आज पूरन करै नद-नदन सबनि बन बुलाई।
तज्यौ कुल-धर्म गोधन, भवन जन तजै, पगीरस कृष्न-बिनु कछु न भावै (1612)

गोपियो की इस मनोदशा के निर्माण मे मुरली ही कारण तत्त्व है । मुरली विधि-निषेध से परे भक्ति और अनुरक्ति को विकसित करने वाली है । मुरली के नाद और कृष्ण के रूप के कारण ही ब्रज की सपूर्ण रसकेलि हुई है । मुरली की स्वर-लहरी ब्रह्माडव्यापी है तथा उसका चेतन तथा जड सपूर्ण जगत पर प्रभाव है :

मुरली-धुनि स्रवन सुनत, भवन रहि न परै।
ऐसी को चतुर नारि, धीरज मन धरै ॥
सुर नर मुनि सुनत सुधि न, शिव-समाधि टरै ।
अपनी गति तजत पवन, सरिता नहिं ढरै ।
मोहन-मुख मुरली, मन, मोहिन बस करै ।
सूरदास सुनत स्रवन सुधा सिंधु भरै ॥ (1270)

राधावल्लभ श्रीकृष्ण

गोकुल की सपूर्ण लीला प्रेममयी है, किंतु अनुरागी कृष्ण और प्रेम-प्रतिमा राधा की प्रेमलीला अत्यत मनोहर है । राधाकृष्ण की प्रेमलीला ही ब्रजलीला का केंद्र है । श्रीकृष्ण और राधा एक दिन ब्रज की गलियो मे अचानक मिले, एक ने दूसरे को देखा, एक दूसरे के रूप पर रीझ गए और इससे जो प्रेम विकसित हुआ उससे सारा ब्रजमडल प्रेममय हो गया । श्रीकृष्ण मे सौदर्य, वाक्चातुर्य और आकर्षण-शक्ति है, जिससे राधा प्रभावित होकर कृष्णमय हो गईं । कृष्ण खेलने के लिए ब्रज की गली मे निकले । कटि मे पीताबर, हाथ मे भवर-चकडोरी, सिर पर मोर-मुकुट, कानो मे कुडल, शरीर पर चदन की सुगध और अलौकिक रूप से सपन्न कृष्ण ने जब विशालाक्षी गोरी समवयस्का राधा को देखा तो देखते ही उस पर रीझ गए (पद स० 1290) । श्याम ने राधा का परिचय पूछा और अपनी गली मे खेलने का निमत्रण देकर राधा को बातो-बातो मे ही अपना बना लिया (पद स० 1303) । दोनो के मन मे इस प्रथम स्नेह का उदय हुआ । इसके बाद राधा-कृष्ण यमुना तट पर, वृदावन मे, कुजो मे, गलियो मे बार-बार मिलने लगे । राधा-कृष्ण का यह प्रेम प्रकृति के परिवेश मे विकसित होने लगा (पद स० 1303) । रूपराशि राधा और रसिक कृष्ण की सयोगलीला का चित्रण सूरदास ने अत्यत सयम और कुशलता से किया है । राधा-कृष्ण की इस प्रेमलीला मे सूर की भावानुभूति और कलात्मकता का उत्कृष्ट रूप दिखाई पडता है ।

सूरदास ने जीवन के विभिन्न प्रसगो के बीच से राधा-कृष्ण के प्रेम का विकास दिखाया है। ये प्रसग कृषिप्रधान जीवनपद्धति के अनुकूल हैं, इसलिए स्वाभाविक लगते हैं। विभिन्न नए प्रसगो की उद्भावना करके सूरदास ने प्रेम की अनुभूति को मूर्त रूप प्रदान किया है ।

राधा-कृष्ण का प्रेम गोदोहन मे विकसित हुआ है । एक दिन राधा ने कृष्ण

से गोदोहन की प्राथना की और इस गोदोहन मे ही प्रीति की प्रगाढता प्रकट होने लगी। कृष्ण एक धार दोहनी मे डालते हैं और एक प्यारी (राधा) के पास फेकते हैं। कृष्ण की इस प्रेमस्निग्ध कलाबाजी पर गोपिया मुग्ध है

हरि सौ धेनु दुहावति प्यारी।
करति मनोरथ पूरन मन, वृषभानु महर की वारी॥
दूध धार मुख पर छवि लागति, सो उपमा अति भारी।
मानो चद कलकहि धोवत जह-तह बूद सुधारी॥
हाव-भाव रस-मगन भए दोउ, छवि निरखति ललिता री।
गो-दोहन-सुख करत सूर-प्रभु, तीनिहु भुवन कहा री॥ (1351)

गारुडी प्रसग मे राधा को जब काम-भुजग काट लेता है तो कृष्ण गारुडी बनते है। यशोदा को विश्वास ही नही होता कि आठ वर्ष के कृष्ण गारुडी कब बन गए। लेकिन यशोदा को कृष्ण का असली रूप ज्ञात नही है। यह गारुडी प्रसग राधा-कृष्ण के प्रेम के विकास की दूसरी अवस्था है। इसमे वृषभानु की पत्नी कृष्ण को राधा के प्रेम मे मग्न पाती हैं। दानलीला और पनघटलीला मे भी राधा और कृष्ण का प्रेम क्रमश पुष्ट हुआ है। इन दोनो लीलाओ मे यद्यपि कृष्ण का सभी गोपियो के साथ अनुराग प्रकट है, किंतु राधा मे कृष्ण की विशेष अनुरक्ति दिखाई देती है। रासलीला ब्रजलीला का चरम उत्कर्ष है और उस रामलीला मे भी राधा रासेश्वरी हैं, कृष्ण की स्वकीया है। इस रासलीला मे राधा-कृष्ण के गधर्व विवाह का आयोजन है।

गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण

माखनचोरी की लीला से ही गोपियो के हृदय मे कृष्ण के प्रति अनुराग का उदय दिखाई पडता है और वह अनुदिन विकासशील है। गोपिया कृष्ण के प्रेम मे विकल हैं, उनको पति के रूप मे प्राप्त करने के लिए शकर की पूजा करती हैं (पद स० 1384)। कृष्ण गोपियो की इस प्रेमभावना को जानते है और उनकी मनोकामना की पूर्ति के लिए सयोग के विभिन्न अवसरो का उपयोग करते है। कृष्ण यमुना-स्नान के समय गोपियो की पीठ मलते है (पद स० 1388)। गोपिया प्रेम विवश हैं, उनके अग-अग से कृष्ण-प्रेम की व्यजना हो रही है। कृष्ण ने चीरहरण लीला द्वारा गोपियो की कामना को सफल किया (पद स० 1402)। गोपिया कृष्ण को पति के रूप मे चाहती थी, वे काममयी थी, इसलिए कृष्ण ने उनका वस्त्र हरण कर प्रेम मे बाधक सकोच और लज्जा को दूर कर दिया। वास्तव मे पति के समक्ष पत्नी की नग्नता औचित्य-विवेचन का विषय नही है। कृष्ण ने गोपियो के वस्त्रहरण और नग्नता को अपने तक सीमित रखा, उसे समाज मे प्रदर्शित नही किया और यही चीरहरण लीला की कलात्मक

योजना की सार्थकता है। पूर्ण मिलन के पूर्व लज्जा, सकोच और झिझक के आवरण का परिहार आवश्यक है। चीरहरण के बाद गोपियो की मन स्थिति विक्षोभ, पश्चाताप या वेदना की नही, बल्कि आनदातिरेक की है।

पनघटलीला मे श्रीकृष्ण का गोपीवल्लभ रूप मुख्य है। चीरहरण लीला मे जिस गोपी-प्रेम की प्रतिष्ठा हो चुकी है, पनघटलीला मे उसी को व्यापकता और गहराई से अकित किया गया है। श्रीकृष्ण सखाओ सहित यमुना के किनारे पनघट को रोकते है। अगर कोई गोपी जल भरने आती हे तो कृष्ण जल से भरा घडा गिरा देते है, फोड देते है। एक गोपी कृष्ण से जल भरने का आग्रह करती है तो कृष्ण जल भरकर घडा उसके सर पर रख देते है (पद स० 2022 और 2025)। कृष्ण गोपियो के अत करण के प्रेम को जानते हे, इसलिए अनेक प्रकार से उस प्रेमतृषा की तृप्ति करते है। गोपिया परस्पर कृष्ण के सौदर्य और प्रेम की प्रशसा करती है। पनघट पर श्याम अनेक बार गोपियो स छेड-छाड करते हैं (पद स० 2266)। दानलीला मे कृष्ण का रसिक रूप प्रकट हुआ हे। कृष्ण गोपियो से गोरस (दही) के बहाने गोरस (इद्रिय रस) चाहते है, सर्वागदान मागते है'

> लैहौ दान सब अग-अग कौ।
> गोरैं भाल लाल सेंदुर छवि, मुक्ता वर सिर सुभग मग कौ।
>
> जोबन रूप अग पाटबर, सुनहु सूर सब इहिं प्रसग कौ॥ (2093)

गोपिया गोरस का दान देकर कृष्णमय हो जाती है। प्रेम मे तन्मयता की यह स्थिति ही गोपी भाव की परम उपलब्धि है

> गोरस कौ निज नाम भुलायौ।
> लेहु लेहु कोऊ गोपालहिं, गलिनि गलिनि यह सोर लगायौ।
> कोउ कहै स्याम, कृष्ण कहै कोऊ, आजु दरस नाही हम पायौ।
> ...
> सुनहु सूर तरुनी जोबन-मद, तापर स्याम-महारस पायौ॥ (2225)

रास-रसिक कृष्ण

रासलीला मे श्रीकृष्ण के प्रेममय स्वरूप का चरम उत्कर्ष है। रास के रग, रस और रुचि से भरपूर कृष्ण और गोपियो के मन का विलास ही रासलीला है (पद स० 1620)। कृष्ण मुरली बजाकर गोपियो को वृदावन मे रासलीला के लिए आमन्त्रित करते हैं और गोपिया भी प्रेम विवश होकर रासलीला मे भाग लेती हैं। पहले कृष्ण गोपियो को वेद मार्ग, आर्यपथ, युवती धर्म आदि की शिक्षा देते हैं, लेकिन गोपियो का मन कृष्ण मे अनुरक्त है, वे प्रेम के धर्म को ही अपना

सवस्व मानती हैं, इसलिए किसी दूसरे धर्म की चिंता नही करती। राधा रासलीला की मायिका है, रामेश्वरी है। कृष्ण राधा और गोपियो के साथ रास-लीला प्रारभ करते है। रासलीला मे कृष्ण रूप के सरोवर ही बन गए है। कृष्ण रूप-रसिक भी हैं और रूप के सिंधु भी। कृष्ण युवतियो के रूप-रस के इच्छुक है और गोपिया कृष्ण के रूप-रम मे निमग्न। सूरदास ने रासलीला मे ही राधा-कृष्ण के गधर्व विवाह का भव्य वर्णन किया है। राधा कृष्ण की स्वकीया बन गई हैं। कृष्ण रासलीला के बीच मे अतर्धान होकर अपनी निर्लिप्तता सिद्ध करते है। लेकिन गोपियो की विरह दशा से द्रवित होकर वे पुन रासलीला मे प्रवेश करते है। रासलीला के बाद यमुना मे जलक्रीडा हुई है, जिसमे कृष्ण का रसिक रूप व्यक्त हुआ हे।

रासलीला के पश्चात कृष्ण के रतिनागर रसिकेश्वर रूप का उद्‌घाटन है और इसके लिए सूर ने कृष्ण के शारीरिक सौदर्य का भव्य वर्णन किया है। पूर्ण कामानद की उपलब्धि के लिए व्यक्ति मे सौदर्य, शक्ति और कमनीय यौवन का होना आवश्यक है और सूरदास के रसिकेश्वर कृष्ण मे ये तीनो उपलब्ध हैं। कृष्ण सौदर्य-सिंधु हैं और गोपिया रूप-सरिताए है, इसलिए यह रासलीला सागर और सरिता का सगम है, माधुर्य और लावण्य का सयोग है। कृष्ण का नटवर वेश गोपियो के प्रेम का कारण है। कृष्ण के सौदर्य से आखो का सपर्क होते ही मन मे अनुराग उत्पन्न हो जाता है (पद स० 2395)। यहा यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कृष्ण सुख, रस, रूप, गुण, यौवन, शील, यश, आनद, दया, विद्या, बल, चातुर्य, छल और कला की मूर्ति के रूप मे चित्रित किए गए है

> स्याम सुख रासि, रस रासि भारी।
> रूप की रासि, गुन रासि, जोबन रासि, थकित भई निरखि नव तरुन नारी।
> सील की रासि, जस रासि, आनद रासि, नील नव जलद छवि वरन। कारी।
> दया की रासि, विद्या रासि, बल रासि, निर्दयारासि दनु कुल प्रहारी।
> चतुरई रासि, छल रासि, कल रासि, हरि भजै जिहिं हेत तिहिं देन हारी।
> सूर प्रभु स्याम सुख धाम पूरनकाम, बसन कटि पीत मुख मुरलि धारी।।
> (2421)

ऐसे कृष्ण पर राधा तथा अन्य गोपिया अपना तन-मन न्यौछावर कर देती है। कृष्ण सौदर्य की सीमा है। कृष्ण की रूप-माधुरी का वर्णन करते समय सूरदास के मानस के रूप का अक्षयकोश घटता ही नही है। सूर की प्रतिभा कृष्ण के सौदर्य-वर्णन मे अत्यधिक सर्जनात्मक सिद्ध होती है। सूरदास ने कृष्ण के एक-

एक अग के सौदर्य का बार-बार और तरह-तरह से चित्रण किया है। कृष्ण के सौंदर्य की यह विशेषता है कि वह प्रत्येक क्षण नवीन और परिवर्तनशील है

कह काही को दोष लगावँ।
निमि सौ कहा कहति, कह विधि सौं, कह नैननि पछतावे।
स्याम हितू कैसैं करि जानति, औरो निठुर कहावै ?
छिन मैं और और अग सोभा, जोवै देखिन पावँ।
जबही इकटक करि अवलोकति, तबही वै झलकावँ। (2448)

इस तरह कृष्ण के रमणीय सौदर्य को रूपायित करने का सफल प्रयास सूरदास ने किया है।

कृष्ण और राधा दोनो सयोगलीला के समय बारह वर्ष के हैं। राधा-कृष्ण सहज प्रेमी हैं। कृष्ण कुज मे राधा की प्रतीक्षा करते हैं, कृष्ण की आखें चद्रमुखी राधा के लिए चकोर की भाति व्याकुल हैं, अनुरक्त हैं, रागमय हैं। कृष्ण राधा के बिना व्याकुल है। कृष्ण मा यशोदा से अनेक प्रकार के बहाने बनाकर राधा के साथ सघन कुजो मे रतिकेलि के लिए प्रस्थान करते हैं। इस निकुज लीला मे रतिकेलि का जो वर्णन है, उसमे दोनो के शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, और आत्मा का पूर्ण एकात्म्य है। यह सामान्य प्रेमी-प्रेमिका का ही नही, शिव और शक्ति का शाश्वत सयोग है, ब्रह्म और उनकी पराशक्ति का एकात्म्य है। वृदावन-विहार, युगल समागम दपत्ति विहार, खडिता प्रकरण, मानलीला, झूलन और वसतोत्सव मे कृष्ण के विनोदी, रतिरसज्ञ, अनुरागी स्वभाव की व्यजना है।

'बहुरवनिरवन' रतिरसज्ञ

सूरसागर मे प्रेम का कभी विधि-निषेध से मुक्त उद्दाम, कभी उदात्त और कभी सहज मानवीय रूप प्रकट हुआ है। वह सारत सामती समाज की सीमाओ को तोडता भी है, लेकिन कही-कही सूरदास के सयोग चित्रण पर नायक-नायिका भेद और सामती समाज की विलासलीला का प्रभाव भी है। श्रीकृष्ण के गोपी-वल्लभ रूप के चित्रण मे इसे देखा जा सकता है।

कृष्ण राधावल्लभ ही नही है, गोपीवल्लभ भी है, इसलिए उनके बहु नायकत्व द्वारा अन्य गोपियो के साथ उनके सयोग का वर्णन सूरदास ने किया ह। यह कृष्ण का रतिरसज्ञ रूप है। कृष्ण ललिता, शीला, चद्रावली, सुखमा, वृदा, प्रमुदा, कुमुदा आदि गोपियो के घर जाकर उनकी मनोकामना पूर्ण करते हैं, रसकेलि करते है। कृष्ण को प्रेम की प्रकृति का सच्चा ज्ञान है इसलिए वे गोपियो से प्रतीक्षा कराते हैं और कभी-कभी रति-चिह्नो से युक्त रूप लिए एक गोपी के यहा से दूसरी गोपी के यहा पहुचते हैं। इस प्रकार कृष्ण दक्षिण नायक के रूप मे चित्रित हैं। कृष्ण के इस दक्षिणनायकत्व मे उनका विनोदी रूप विशेष

व्यजित हुआ है। कृष्ण के आकर्षक रूप का प्रभाव गोपियो पर सहज ही पडता है। जब कभी रति-चिह्नो से युक्त कृष्ण किसी गोपी के यहा पहुचते है तो वह रुष्ट होकर मान कर बैठती है, लेकिन शीघ्र ही कृष्ण के आकर्षक रूप और वचन-विदग्धता के कारण गोपी का मान समाप्त हो जाता है। सूरसागर के खडिता प्रकरण और मानलीला मे श्रीकृष्ण का 'बहुरवनिरवन' रूप व्यक्त हुआ है। श्रीकृष्ण के इस गोपीवल्लभ रूप से यह सिद्ध होता है कि बडा से बडा कवि भी परपरा और अपने समय के समाज के प्रभाव से अछूता नही रह सकता।

निष्ठुर, रसलोभी भ्रमर, विलासी

श्रीकृष्ण से राधा और दूसरी गोपियो का प्रेम बचपन से ही दैनिक जीवन के विभिन्न प्रसगो के बीच साहचर्य और सौदर्य के आकर्षण के कारण विकसित होता है। यह प्रेम पनघटलीला, दानलीला, चीरहरणलीला और रासलीला मे क्रमशः गहरा होता दिखाई देता है। यह प्रेम इतना स्वाभाविक, सच्चा और गहरा है कि इसके टूटने की कल्पना भी गोपिया नही करती। श्रीकृष्ण के प्रेम मे निमग्न ब्रजवासियो को कभी इसकी आशका तक नही होती कि एक दिन कृष्ण के दारुण वियोग की वेदना भी उन्हे बरदाश्त करनी पडेगी। लेकिन अचानक मथुरा से अक्रूर के आगमन और कृष्ण के मथुरा जाने के निश्चय से वे चकित रह जाते हैं। नद, यशोदा, राधा और अन्य गोपियो को यह अनुमान ही नही था कि कृष्ण उनके प्रगाढ प्रेम को एक झटके मे तोडकर मथुरा चले जाएगे। अक्रूर के साथ कृष्ण के मथुरा जाने की खबर ब्रज मे शीघ्र ही फैल गई और ब्रजवासी हतप्रभ हो गए। गोपिया व्याकुल हैं, उद्विग्न है, भावी विरह की आशका से उनका चित्त विह्वल है। कृष्ण ब्रजवासियो के सर्वस्व हैं, प्राण है और प्राणतुल्य कृष्ण के मथुरा प्रयाण के बाद ब्रज की दशा अत्यत दयनीय और कारुणिक हो जाती है। यशोदा कृष्ण से मथुरा न जाने की प्रार्थना करती है, लेकिन कृष्ण मथुरा चले जाते हैं और चलते चलते जो ब्रह्म उपदेश देते हैं, वह जले पर नमक छिडकने जैसा है। ब्रजवासी गोपाल कृष्ण से परिचित थे, उन्हे किसी ब्रह्म का बोध नही था। कृष्ण ने ब्रजवासियो के सतोष के लिए एक निश्चित अवधि के पश्चात मथुरा मे लौटने का वादा किया। कृष्ण ने देवो को सनाथ करने के लिए ब्रजवासियो को अनाथ कर दिया।

जब कृष्ण नद के साथ मथुरा गए तो यशोदा और गोपियो का चित्त व्याकुल था, लेकिन जब नद कृष्ण के बिना मथुरा से लौटे तो ब्रजवासियो का प्रेम मे डूबा हृदय टूट गया। सूरदास ने कृष्ण के ब्रज से जाने के बाद के उनके चरित्र को विशेष महत्त्व नही दिया है। सूर ने मथुरावासी कृष्ण के चरित्र का कोई प्रभाव-शाली चित्रण नही किया है। इसके बाद यशोदा और गोपियो की वेदना की

अभिव्यक्ति मे ही सूरदास का मन रमा है। वास्तव मे सूरदास मुख्यत सौदर्य और प्रेम के ही कवि हैं।

विरहिणी गोपियो ने उद्धव के साथ सवाद मे कृष्ण की मैत्री की प्रकृति पर व्यग्य और कटाक्ष किया है, उनकी भ्रमरवृत्ति की ओर सकेत किया है। गोपिया बार-बार कहती हैं कि कृष्ण ने प्रेम करके धोखा किया (पद स 3804)। गोपिया यह भी कहती है कि कृष्ण का प्रेम झूठा था, बनावटी था, कृष्ण की प्रीति विहगम प्रीति थी, स्थिरता का उसमे अभाव था (पद स 3805)। गोपियो को विशेष दुख इस बात का है कि कृष्ण के कारण गोपियो ने सब कुछ त्याग दिया, किंतु अत मे कृष्ण ने गोपियो को निष्ठुरतापूर्वक छोड दिया। गोपिया जानती है कि कृष्ण भ्रमर हैं और भ्रमर कब एक कली का मित्र होता है, उसे तो नित्य नवीन कलियो का नूतन रस चाहिए (पद स 4125)। गोपियो के व्यग्य और उपालभ मे आतरिक प्रेम से उत्पन्न वेदना व्यक्त हुई है। गोपियो की विरह-वेदना की अभिव्यक्ति मे सूरदास की सहानुभूति गोपियो के साथ है। सूर की कविता मे गोपियो की आत्मा की आवाज सुनाई पडती है। यह सूरदाम की मानवतावादी चेतना के कारण सभव हुआ है।

सच्चा प्रेमी (आकुल अतर)

कृष्ण को मथुरा जाने के बाद भी ब्रज की बार-बार सुधि आती रहती है, कृष्ण ब्रज की रसकेलि और ब्रजवासियो को एकदम भूल नही गए हैं। एक सच्चे प्रेमी की भाति उनका हृदय ब्रजवासियो के अभाव मे और ब्रज की रसमयी लीलाओ की स्मृति मे सदा व्याकुल रहता है। कृष्ण का मानव हृदय ब्रजलीला की स्मृति से रिक्त नही है। किंतु उन्हे चिता इस बात की है कि वे किसके साथ ब्रजलीला की बातें करे। यह भी एक विडबना ही है कि वे ब्रजलीला की स्मृति मे सहज मानवीय मनोदशा मे रहना चाहते है, जबकि उद्धव जैसे उनके सखा उन्हे अलौकिक ब्रह्मरूप मे ही देखते है। मा यशोदा, पिता नद, प्रिया राधा और अन्य गोपियो की मधुर स्मृति कृष्ण के अतर को आकुल कर देती है, ब्रज की लीला के समक्ष कृष्ण को बैकुठ का सुख भी तुच्छ ही लगता है

> कहा सुख ब्रज कौसौ ससार।
> कहा सुखद बसी बट जमुना, यह मन सदा विचार।
> कहा बन धाम कहा राधा सग, कहा सग ब्रज बाम।
> कहा बिरह सुख बिना गोपिन सग, सूर स्याम मन काम ॥ (4035)

ब्रज की विविध लीलाओ की स्मृति बार-बार कृष्ण के मानस-पटल पर उभर आती है। कृष्ण ने उद्धव को ब्रज भेजा, उनको स्वय ब्रजवासियो के लिए पत्र लिख दिया, और पुन ब्रज लौटने का आश्वासन भी दिया। ब्रजवासी कृष्ण की

निष्ठुरता से चकित और व्याकुल है तो कृष्ण नद की निष्ठुरता से (पद स. 4059)। कृष्ण का अतरतम प्रमावेश की दशा मे है किंतु प्रत्यक्षत उद्धव से गोपियो के लिए योग का सदेश भेजते हैं। उद्धव जब ब्रज से प्रेममय होकर लौटते है तो कृष्ण अपनी प्रेमकथा और ब्रज की विविध लीलाओ की मधुर स्मृति की अभिव्यक्ति इस रूप मे करते हैं

> ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाही।
> वृ दावन गोकुल बन उपवन, सघन कुज की छाही।
> प्रात समय माता जसुमति अरु नद देखि सुख पावत।
> माखन रोटी दह्यौ सजायौ, अति हित साथ खवावत।
> गोपी ग्वाल बाल सग खेलत, सब दिन हसत सिरात।
> सूरदास धनि धनि ब्रजवासी, जिनसौ हित जदु तात। (4775)

श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा कि मुझे ब्रज की लीला विस्मृत नही होती। यद्यपि मथुरा का वैभव अपार है, किंतु मेरा मन इन विभूतियो मे नही लगता, वह बार-बार वशीवट, जमुनातट और वृ दावन के कुजो मे भटकता रहता है। कुजकेलि के सामने तो स्वर्ग का सुख भी आकर्षणहीन है (पद स 4777)।

सूर जगत को स्वर्ग से भी अधिक वास्तविक, अधिक सुखद और अधिक काम्य मानते है। वे कृष्ण के दिव्य रूप से मानव रूप को अधिक कुशलता से चित्रित करते है। सूरदास ने कृष्ण के मानवीय भावो, सवेदनाओ और व्यवहारो को ही अधिक महत्त्व दिया है।

द्वारिका मे कृष्ण अपनी अनेक पटरानियो और असीम वैभव के बीच होने पर भी ब्रजलीला को विस्मृत नही कर सके है। कृष्ण रुक्मिणी से भी बार-बार ब्रजलीला की चर्चा करते हुए भावविह्वल हो जाते है। उन्हे इस बात का दुख है कि उनके वियोग मे गोपिया असीम वेदना मे जी रही है। यद्यपि द्वारिका कनक निर्मित है, विभूति भूषित है, किंतु कृष्ण का मन सदा वशीवट के कुजो मे रस-केलि की स्मृति मे लगा रहता है। सत्यभामा से भी ब्रजलीला की चर्चा करते हुए कृष्ण के नेत्र सजल हो जाते है (पद स 2493)। सूरदास ने कृष्ण की मानवीयता और प्रेम की महत्ता बनाए रखने के लिए कृष्ण और ब्रजवासियो के पुर्नमिलन की व्यवस्था की है। कुरुक्षेत्र मे कृष्ण का ब्रजवासियो से मिलने का प्रसग अत्यत मर्मस्पर्शी है। विशेष रूप से राधा और रुक्मिणी की भेंट मे मानवीय प्रेम का अत्यत उदात्त रूप दिखाई देता है।

साधुहितकारी असाधु अहेरी

श्रीकृष्ण की सपूर्ण लीला के तीन स्थल है—गोकुल, मथुरा और द्वारिका। गोकुल मे उनकी नरलीला प्रमुख है, यहा उनका मानवीय रूप प्रधान है। मथुरा मे

श्रीकृष्ण की ऐश्वर्यमयी लीला है, जहा उनका अतिमानवीय रूप है। द्वारिका मे उनकी ऐश्वर्यमयी दिव्य लीला की अभिव्यक्ति हुई है। सूर ने ब्रजलीला मे भी कृष्ण के दिव्य स्वरूप की झाकी यत्र-तत्र प्रस्तुत की है, उनके देवत्व की ओर सकेत किया है, किंतु मथुरा और द्वारिका मे कृष्ण का ऐश्वर्यमय अतिमानवीय और अलौकिक रूप अधिक चित्रित हुआ है। ब्रज की लीला मे स्वाभाविकता है, प्रेम है और मथुरा तथा द्वारिका की लीला मे विस्मय और रहस्यात्मकता है। कुरुक्षेत्र मे कृष्ण ने ब्रजवासियो से कहा

सबहिनि ते हित है जन मेरौ।
जनम जनम सुनि सुबल सुदामा निबहौ यह प्रन बेरौ।
ब्रह्मादिक इद्रादिक तेऊ, जानत बल सब केरौ।
एकहि सास उसास त्रास उडि, चलते तजि निज खेरौ।
कहा भयो जो देस द्वारिका, कीन्हौ दूरि बसेरौ।
आपुन ही या ब्रज के कारन, करिहौ फिर फिर फेरौ।
इहा उहा हम फिरत साधु हित, करत असाधु अहेरौ।
सूर हृदय तै टरत न गोकुल, अग छुअत हौ तेरौ। (4914)

कृष्ण के इस कथन मे सपूर्ण अवतारलीला का साराश है। श्रीकृष्ण ब्रज मे अवतरित होने के साथ ही असाधु-अहेर, दुष्टो का दलन, राक्षसो का वध और साधु हित या भक्तो का कल्याण करते है। आचार्य रामचद्र शुक्ल के शब्दो मे श्रीकृष्ण की दिव्यलीला मे 'लोकमगल की साधनावस्था' की अभिव्यक्ति है और गोकुल के कृष्ण के मानवोचित चरित्र मे 'लोकमगल की सिद्धावस्था' की व्यजना है। लेकिन गोकुल की नरलीला मे लोकमगल का अभाव नही है। इसी लीला से मनुष्य और मानवीय प्रेम की महत्ता स्थापित होती है। सूरदास की कविता का यही वास्तविक क्षेत्र है। स्वय श्रीकृष्ण गोकुललीला को दूसरी लीलाओ से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते है। कृष्ण कहते हैं कि 'सूर हृदय से टरत न गोकुल, अग छुवत हौ तेरौ'। सूर और उनके कृष्ण का हृदय गोकुललीला मे ही रमता है। यही मानव हृदय के धर्म (भावो) और धर्म के हृदय (भक्ति) के विकास का अवसर है, यही सूरदास कविता सभव करते हैं।

बलराम

सूरदास बलराम के चरित्र के स्वतत्र विकास की दिशा मे विशेष प्रवृत्त नही हुए हैं। बलराम आदि से अत तक अपने अतिमानवीय रूप मे ही दिखाई पडते हैं और वे सदा कृष्ण के अतिमानवीय और अलौकिक स्वरूप के प्रति सजग तथा सचेत ज्ञात होते है। अनेक अवसरो पर वे कृष्ण के ईश्वरत्व की ओर इगित करते हैं या कृष्ण के मानवीय चरित्र पर मुस्कराते हुए यह घोषित करते हैं कि कृष्ण

जो कुछ कर रहे हैं वह रहस्यात्मक लीला है, यथार्थ चरित्र नही है। बलराम कृष्ण के अलौकिक स्वरूप के अश के प्रतीक है। अवतारलीला मे वे कृष्ण के पूरक हैं। बलराम कृष्ण की मधुर लीलाओ मे सहभागी नही हैं, केवल कृष्ण की अवतारलीला—साधुहितकारी और असाधु-अहेरी लीला—मे ही सहयोग करते हैं।

बलराम का मानवीय रूप गोकुल मे, विशेषत श्रीकृष्ण की बाललीला मे दिखाई देता है। बलराम कृष्ण से वय मे बडे है इसलिए खेलने मे, खाने मे सदा कृष्ण का ख्याल रखते हैं। क्रीडा मे बलराम कृष्ण को श्रीदामा आदि सखाओ के साथ दौडने से रोकते है। कृष्ण जब इस प्रतियोगिता मे हार जाते है तो बलराम उनके देवत्व रूप की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि उनके न पिता हैं और न मा, इनके जन्म कर्म दिव्य है, इसलिए इनके लिए हार-जीत का कोई अथ नही है, ये स्वय हारकर सखाओ से झगडते है (पद स 832)। कृष्ण को अपने मानवीय रूप मे ही आनदानुभूति होती है और बलराम उनके देवत्व की ओर बार-बार सकेत करते हैं। बलराम कृष्ण की नरलीला का रहस्योद्घाटन कर देते हैं।

बलराम स्वभावत कुछ विनोदी है, इसलिए वे बार-बार कृष्ण को चिढाते हैं। यह बलराम का मानवीय पक्ष है। कृष्ण मा यशोदा से शिकायत करते है 'बलराम ने मुझे चिढाया है। वे कहते हैं, तू यशोदा का पुत्र नही है, खरीदा हुआ है। वे बार-बार कहते है कि तेरे मा-बाप कौन है ? नद और यशोदा दोनो गोर वर्ण है और तू श्यामगात क्यो है ? सखा सब हसते है और मुस्कराते हैं। तू मुझे ही मारना जानती है, दाऊ को कभी नही डाटती।' यशोदा उत्तर देती है कि बलराम चबाई है, बचपन का ही धूर्त है, मैं तुम्हारी मा हू और तू मेरा बेटा है (पद स 833)। कृष्ण की यह शिकायत नद के कानो मे पडती है। नद बलराम को धमकाते और डाटते हैं। बलराम और कृष्ण आपस मे बार-बार लडते है, झगडते है, और फिर साथ-साथ खाते, खेलते और सोते है (पद स 846)। छोटे-बडे भाइयो मे इस तरह की नोकझोक स्वाभाविक है। इससे कृष्ण और बलराम का मानवीय पक्ष उभरता है।

माखनचोरी के प्रसग मे यशोदा द्वारा कृष्ण के ऊखलबधन के समय कृष्ण के प्रति बलराम मे भ्रातृस्नेह का उदय सूर ने दिखाया है। इसमे बलराम की सहृदयता और भ्रातृप्रेम की व्यजना है। एक ग्वालिन ने बलराम को कृष्ण के ऊखल मे बाधे जाने की सूचना दी। यह सुनते ही बलराम व्याकुल होकर कृष्ण की ओर दौड पडे (पद स 987)। बलराम ने ऊखल मे बधे कृष्ण को देखा तो उनकी आखें भर उठी। पहले तो कृष्ण को ही डाटा 'मैंने बार-बार मना किया, लेकिन तू अपनी करतूत से बाज नही आया। अच्छा हुआ कि तुम्हारे दोनो हाथ

बाध दिए गए हैं। कम से कम अब तो अपना स्वभाव बदलो।' इसके बाद मा यशोदा से हाथ जोडकर विनय की मुद्रा मे बलराम ने कहा—'तू श्याम को छोड दे, बल्कि इसके बदले मुझे बाध दे। कृष्ण मेरा जीवन-धन है, प्राणो से अधिक प्यारा है और इसकी बधी भुजाए और व्याकुल दशा को देखकर मेरा चित्त विह्वल हो रहा है। तुमने ऐसा क्यो किया ? ग्वालिनें तो हमेशा झूठी शिकायतें किया करती हैं' (पद स 889)। 'तूने क्यो मेरे कृष्ण को कठोर लकुटी से डराया, थोडे दही के लिए तूने कृष्ण की यह दुर्दशा की, उसके कोमल शरीर को देखकर क्या तुम्हारा चित्त द्रवित नही होता है ? तू भी भली है, मैं घर पर नही था अन्यथा तेरा यह हठ देखता' (पद स 990)। 'गोविंद तो सबका प्यारा है, तुमने यह आश्चर्यजक कार्य किया है। अगर तुम्हारी जगह कोई दूसरा होता तो कृष्ण को उगली से छूकर भी सकुशल नही लौटता' (पद स 991)। 'बलराम ने दौडकर अपने हाथो से कृष्ण के सब बधनो को खोला, तोडा और कृष्ण को हृदय से लगा लिया। बलराम ने मीठी-मीठो बातो से कृष्ण की मनोव्यथा दूर की।' (पद स 992)। इस प्रसग मे बलराम के मानवीय रूप और उनकी सहृदयता का विकास दिखाई पडता है।

गोचारण मे बलराम कृष्ण के सरक्षक, सखा, सहायक और सुहृद है। बलराम ने देखा कि कृष्ण गोचारण के लिए पीछे-पीछे दौडे आ रहे हैं तो सब सखाओ को रोक लिया। जब यशोदा ने कृष्ण को वृदावन गोचारण के लिए जाने से रोका तो बलराम ने यशोदा को समझाया कि इसे मेरे साथ जाने दो, हम लोग शीघ्र ही आ जाएगे। यशोदा ने कृष्ण को बलराम के हाथो मे सौंप दिया (पद स 1331)। कृष्ण भी वन मे सदा बलराम के निकट ही रहना चाहते हैं (पद स 1033)। कृष्ण दूसरे दिन पुन बलराम के साथ गोचारण मे जाने का हठ करते हैं तो बलराम अपने सरक्षण मे कृष्ण को गोचारण मे ले जाते हैं। बलराम ने यशोदा से कहा—'तुम मेरा विश्वास करो, मैं कृष्ण को कभी अपने से दूर नहीं रखता।' इस गोचारण के बीच मे ही बलराम अनेक राक्षसो के वध मे कृष्ण के सहायक हैं।

कृष्ण की मथुरा की लीलाओ मे बलराम सदा सहयोगी हैं। बलराम कृष्ण की अतिमानवीय लीलाओ मे अपनी सपूर्ण शक्ति के साथ कृष्ण की सहायता करते हैं और अवतारलीला के विकास मे सहायक बनते हैं। बलराम के सौंदर्य की ब्रज की नारिया प्रशसा करती हैं (पद स 3649)। बलराम गौराग हैं और उनके रक्ताभ नैनो से प्रलयकारी क्रोध प्रकट हो रहा है, उन्होने एक कान मे कुडल धारण किया है, शरीर पर नीलाबर है और यह श्याम की कामना पूर्ण करने वाले हैं।

वे हैं रोहिनी सुत राम।
गौर अग सुरग लोचन, प्रलय जिनके ताम।
एक कुडल स्रवन धारी, द्यौत दरसी ग्राम।
नील अबर अग धारी, स्याम पूरन काम।
महा जे खल तिनहु ते अति, तरत है इक नाम।
ब्रह्म पूरन सकल स्वामी, रहे ब्रज निज धाम।
ताल बन इन बच्छ मार्यो, ब्रह्मा पूरन काम।
सूर प्रभु आकरषि तातै, सकषन है नाम॥ (3664)

सूरदास ने सकर्षण के स्वरूप के इस वर्णन मे उनके देवत्व-रूप का और व्यूह-सिद्धात के दाशनिक तत्त्ववाद का सयोग उपस्थित किया है। बलराम पूर्ण ब्रह्म, सकल स्वामी और आप्त काम है।

उद्धव के मथुरा से ब्रज जाते समय बलराम ने यशोदा के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की और यशोदा के अतिशय स्नेह की भी चर्चा की (पद स. 4054)। यशोदा के स्नेह और वात्सल्य के स्मरण से ही बलराम के नेत्र सजल हो गए। बलराम ने उद्धव से यशोदा के पास दोनो भाइयो की कुशलता और यशोदा के अविस्मरणीय स्नेह का समाचार भेजा। बलराम ने उद्धव से यह भी कहलाया कि कुछ शेष कार्यों की सपन्नता के पश्चात शीघ्र ही दोनो भाई ब्रज लौट आएगे। बलराम ने यह भी कहा कि तुम्हारे अतिरिक्त अन्यत्र हमारा सुख-स्थल नही है (पद स 4055)।

सूरदास ने द्वारिकावासी बलराम के ब्रज आगमन पर उनके मदोन्मत्त तामसी और विलासी रूप का वर्णन किया है। बलराम के इस रूप पर हरिवशपुराण का प्रभाव लक्षित होता है। हरिवशपुराण के बलराम भी मदिरा प्रेमी और विलासी ही दिखाई पडते है। सूरसागर के बलराम के चरित्र-निर्माण मे हरिवश और भागवतपुराण का प्रभाव है। केवल कृष्ण के ऊखलबधन के प्रसग मे ही सूर की मौलिकता मुखर हुई है। द्वारिका से लौटने के बाद बलराम ब्रज मे जगह-जगह मदिरापान और विलास में प्रवृत्त दिखाई पडते हैं। सूर ने उनके इस रूप का बिबात्मक चित्रण किया है

बारुनि बल घूमित लोचन, बन बिहरत मन सचुपाए।
मनौ मत्त गजराज बिराजत, करिनि जूथ सग लाए॥
मुकलित केस सुदेस देखियत, नील बसन लपटाए।
भरि अपने कर कनक कटोरा, पीवत प्रियहि चखाए।
हसत रिसात बुलावत बरजत, तरजत भौंह चढाए।
उदित मुदित उठि चलत डगमगत अनुज सुरति जिय आए॥

इदुवदन भुवधरन अमित बल, बर बनितन के भाए।
सरबस रीझि देत अपनै रस, सूरदास गुन गाए ॥ (4820)

बलराम की रति-रसप्रीति कालिदी के कौमार्य हरण मे व्यक्त हुई है (पद स 4821)। बलराम बार-बार गोपियो के बीच वृदावन मे रसकेलि करते हुए दिखाई देते है। सूर ने बलराम के देवत्व और विलासी रूप का ही अधिक चित्रण किया है (पद स 4822)।

बलराम का एक नाम हलधर है, क्योकि वे हमेशा हल धारण किए रहते हैं। हल ही उनका शस्त्र है। हल खेती का साधन है और भारतीय किसान का मुख्य सहारा भी है, इसीलिए किसान को हलजीवी और हलधर कहा जाता है। भारतीय देवताओ की परपरा में एक से एक विलक्षण अस्त्र-शस्त्र धारण करने वाले देवता हैं, लेकिन खेती के एक प्रमुख साधन को अपना शस्त्र और पहचान का प्रतीक बनाने वाले देवता केवल बलराम हैं। गोपाल के अग्रज का हल धारण करना स्वाभाविक ही है। यह कृषि-कर्म से कृष्ण-कथा के घनिष्ठ सबध की ओर सकेत है। कृष्ण-कथा मे ऐसे अनेक तत्त्व हैं जिनका आधार किसान जीवन है। वास्तव मे कृष्ण-कथा मूलत कृषि से जुडी कल्पना की रचना है, इसलिए उसमे किसान जीवन की वास्तविकताओ और आकाक्षाओ की अभिव्यक्ति मिलती है।

उद्धव

सूरदास ने उद्धव के चरित्र के विकास मे भागवत से भिन्न दृष्टिकोण अपनाया है। भागवत मे उद्धव एक सिद्ध ज्ञानी के रूप मे दिखाई पडते है। भागवत के अनुसार उद्धव का अद्वैतवाद भक्तिपरक है, वह केवल बौद्धिक, योगपरक या मनोवैज्ञानिक नही है। सूरदास ने उद्धव का व्यक्तित्व अपने समय की धार्मिक साधना और धर्मभावना के अनेक रूपो के पारस्परिक सघर्ष की अभिव्यक्ति के लिए निर्मित किया है। उद्धव के व्यक्तित्व के माध्यम से ही मध्यकालीन धर्म-साधना के स्वरूप और उसके आतरिक सघर्ष की कहानी कही गई है। मध्य-कालीन धर्मसाधना मे ज्ञान, योग और निर्गुण भक्ति से सगुण भक्ति के द्वद्व की स्थिति थी। मध्यकाल के अधिकाश भक्त कवियो ने इस सघर्ष की ओर सकेत किया है और उसके बीच से ही समन्वय-सूत्र खोजने का प्रयास किया है। सूरदास ने उद्धव-गोपी-सवाद मे ज्ञान से भक्ति तथा निर्गुण से सगुण के द्वद्व को सामने लाकर ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता तथा निर्गुण से सगुण भक्ति की विशेष साथकता सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है। उद्धव का पक्ष ज्ञान, योग और निर्गुण का है और गोपिया प्रेमभक्ति की साक्षात प्रतिमाए है। सूरसागर के उद्धव उस काल की धार्मिक चेतना के भीतरी द्वद्व की अभिव्यक्ति के माध्यम बने है।

सूरसागर के उद्धव कृष्ण के सखा हैं, अरूप ब्रह्म के ज्ञाता हैं, अद्वैतवादी और

प्रेम से परे है (पद स० 4032)। कृष्ण ने उद्धव को प्रत्यक्षत ज्ञान और योग का सदेश देने के लिए ब्रज भेजा था, किंतु परोक्ष रूप से उद्धव को प्रेममय बनाने के लिए ही प्रेम क्षेत्र मे भेजा था। उद्धव की योग मे विशेष रुचि है और वे तक पटु है (पद स० 4048)। उद्धव का शारीरिक सौदर्य कृष्ण के समान ही है, इसलिए ब्रजवासी उद्धव को दूर से देखने पर कृष्ण ही समझ लेते है (पद स० 4121)। उद्धव ने ब्रज पहुचकर यशोदा से कृष्ण का सदेश जिस प्रकार दिया, उससे वे एक सहृदय और कुशल सदेशवाहक के रूप मे सामने आते है, लेकिन गोपियो के समक्ष उनका ज्ञानी रूप ही प्रकट हुआ है। उद्धव ने पहले कृष्ण की कुशलता बताई और फिर ज्ञान-चर्चा छेड दी। गोपियो को हृदय मे निर्गुण ब्रह्म धारण करने की सलाह दी। उद्धव ने गोपियो को उपदेश दिया कि कृष्ण अविगत, अविनासी, पूर्ण, अतर्यामी हैं, तत्त्वज्ञान के बिना मुक्ति असभव है, इसलिए समाधिस्थ होकर उनका ध्यान करो, सगुण रूप को त्यागकर निर्गुण का ध्यान करो (पद स० 4773)। उद्धव का यह सदेश विरहिणियो को विचित्र लगा।

उद्धव-गोपी-सवाद के प्रारभ मे ऐसा प्रतीत होता है कि उद्धव को मानव प्रकृति का वास्तविक ज्ञान नही है अन्यथा वे प्रेम वियोगिनी गोपियो को तत्त्ववाद का उपदेश नही देते। कृष्ण के विरह मे सतप्त गोपिया उद्धव की इस ज्ञान-चर्चा से ऊब गईं। गोपिया प्रेम के सीधे सरल मार्ग से ही सरूप की साधना मे रत थी, उन्हे ज्ञान और योग की चक्करदार घाटियो मे जाने की आवश्यकता नही थी। गोपियो की प्रेममयी अटपटी वाणी से उद्धव की आखे खुल गईं। ज्ञानी उद्धव, जो आख मूदकर अपने अतरमन मे ही कृष्ण का दशन करते थे, अब आख खोलकर सपूर्ण सृष्टि मे, जड-चेतन मे श्रीकृष्ण के विश्वात्म रूप को देखने लगे। उद्धव की दृष्टि व्यापक हुई, उनकी आत्मा का प्रसार हुआ। गोपियो की भक्तियुक्त वाणी से उद्धव के मन से ज्ञान की धूलि धुल गई और प्रेम का सरस स्रोत फूट पडा। उद्धव प्रेममय हो गए। उद्धव के इस हृदय-परिवतन मे गोपियो की प्रेमभावना की शक्ति मुख्य कारण है, लेकिन उद्धव के अत्यत सवेदनशील और ग्रहणशील मानस की तत्परता भी महत्त्वपूर्ण है। उद्धव शिक्षक बनकर आए थे, लेकिन ब्रज से शिष्य होकर लौटे, ज्ञान की दीक्षा देने आए थे, परतु स्वय भक्तिरस से पूर्णत भीगी आत्मा लेकर लौटे। उद्धव को अपनी इस पराजय का कोई क्षोभ नही है। उद्धव-गोपी-सवाद मे उद्धव ने हारकर जो पा लिया, वह है सहृदयता। यही सहृदयता मनुष्य की मनुष्यता का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है।

उद्धव की सहृदयता ब्रज से लौटने के बाद श्रीकृष्ण से ब्रज की दशा, गोपियो की दयनीय दशा और राधा की परम विरह-दशा के मार्मिक वर्णन मे व्यक्त है।

ब्रज से लौटने के बाद उद्धव का हृदय प्रेममय हो गया है और उद्धव अत्यत भावुक व्यक्ति के रूप मे दिखाई पडते हैं। वे बार-बार ब्रज की भूमि और तरु-लता आदि की प्रशसा करते है और गोपियो के प्रेम के वैशिष्ट्य का गुणगान करते है

> माधौ जू सुनौ ब्रज को प्रेम।
> सोधि मैं षट मास देख्यौ, गोपिकनि कौ नेम।
> हृदय तै नहिं टरत टारे, स्याम राम समेत।
> आसु सलिल प्रवाह मानौ, अर्घ नैननि देत।
> चवर अचल कुच कलस, वर पानि पद्म चढाइ।
> सुमिरि तुम्हरी प्रगट लीला, कर्म उठती गाइ।
> देह गेह सनेह अर्पन, कमल लोचन ध्यान।
> सूर उनकौ प्रेम देखें, फीकौ लागत ज्ञान। (4763)

राधा के स्वरूप का विकास

राधा किसी एक कवि की कल्पना से उत्पन्न नारी चरित्र नही है। राधा का व्यक्तित्व भारतीय सस्कृति की विकास-प्रक्रिया मे अनेक चिन्मय धाराओ के सघात का परिणाम है। अनेक विद्वानो ने राधा को अत्यत अर्वाचीन और आर्येतर सिद्ध करने का प्रयास किया है। सपूर्ण भारतीय वाङ्मय मे किसी एक नारी व्यक्तित्व की विकास-रेखा इतनी वक्र नही है, उसे कवियो, कलाकारो भक्तो और दार्शनिको के चितन से राधा की तरह गुजरना नही पडा है। एक दीर्घकाल तक सतत कला, साहित्य, धर्म तथा दर्शन के विषय के रूप मे अनेकश प्रयुक्त और गृहीत होने पर भी राधा का अतर्बाह्य सौंदर्य चिर नवीन है। राधा के व्यक्तित्व के निर्माण मे तथ्य और कल्पना, दार्शनिक चितन और भावना, शास्त्रचितन और लोकचेतना का योगदान है। राधा के व्यक्तित्व मे लोकमानस के राग पक्ष की वास्तविकता और आकाक्षा की अभिव्यक्ति हुई है।

राधा का काव्यात्मक और धार्मिक स्वरूप भारतीय जनमानस मे प्राचीन-काल से अत्यत गहराई से स्थिर और स्थापित हो चुका है। राधा का रूप भारतीय मानस का सस्कार बन चुका है, इसलिए केवल ग्रथ, शिलालेख या अन्य ऐतिहासिक प्रमाणो के अभाव के कारण ही उसके अस्तित्व की प्राचीनता को अस्वीकार करना उचित नही है। राधा का अभ्युदय निश्चय ही लोकजीवन मे सर्वप्रथम हुआ होगा। लोकमेधा मे सृजन, पोषण और सरक्षण की असीम शक्ति है। राधा लोकमेधा की ही निर्मिति हैं तथा लोकजीवन मे ही दीर्घकाल तक उनका व्यक्तित्व पलता और विकसित होता रहा है। उस सहज नैसर्गिक सौदर्य और प्रेम-प्रतिमा की ओर जब कवि-प्रतिभा आकृष्ट हुई तो उसका शब्दो से शृगार

हुआ, भक्तो का ध्यान उधर उन्मुख हुआ तो भावलोक मे प्रतिष्ठित हुई, दार्शनिक आचार्यों की आत्मानुशासित प्रज्ञा से उसके तात्त्विक पराशक्ति रूप का विवेचन हुआ, चित्रकारो ने अपनी आत्मा के रगो से रगकर ही उस सजीव रागरजित रसमूर्ति का निर्माण किया और सगीतकारो ने अपनी आत्मा के सगीत से ही उसकी प्राण-प्रतिष्ठा की। राधा लोकमानस से उद्भूत होने के कारण ही अब भी लोकजीवन की ताजगी और सरलता से सपन्न हैं। राधा के व्यक्तित्व मे लोकगीतो की सहजता, स्वाभाविकता, माधुर्य और निश्छलता है। शास्त्रो की तर्क-परपरा से गुजरने के बाद भी राधा मे लोकजीवन की नैसर्गिक रागात्मकता है। राधा मूर्तिमती लोकात्मा है और लोकमानस का सर्वस्व भी। वे मध्यकालीन काव्य की प्रेरक शक्ति, कला की विषयवस्तु तथा भक्ति की सिद्धि एव साधन हैं। उनमे जीवन के श्रेय और प्रेय दोनो तत्वो का उदात्त सयोग है।

भारतीय साहित्य मे राधा के उल्लेख के पूव उनके अस्तित्व का अनुमान करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि (1) 'राधा आभीर जाति की प्रेमदेवी रही होगी जिसका सबध बालकृष्ण से रहा होगा। (2) राधा इसी देश की किसी आर्यपूर्व जाति की प्रेमदेवी रही होगी, बाद मे आर्यों मे इनकी प्रधानता हो गई होगी और कृष्ण के साथ इनका सबध जोड दिया गया होगा।'[5] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस अनुमान से भी यह सिद्ध होता है कि राधा निश्चय ही प्रारभ मे लौकिक प्रेमदेवी रही होगी। ऐतिहासिक दृष्टि से राधा की लोकजीवन मे उपस्थिति का यह काल निश्चय ही ई० सन के बहुत पहले सभव है।

वैदिककाल मे नारीरूप की जो भावना, अनुभूति और चिता विभिन्न मूर्त या अमूर्त रूपो मे हुई है, उसका क्रमश विकास हुआ है। ऋग्वेद मे श्री शब्द का अर्थ तेज, सौंदर्य, शोभा, काति, विभूति अथवा सपदा, कीर्ति, तृप्तिकारक आदि है।[6] श्री तथा लक्ष्मी यजुर्वेद मे परम पुरुष की पत्नियो के रूप मे वर्णित हैं।[7] ऋग्वेद के श्रीसूक्त मे श्री और लक्ष्मी शब्द पर्यायवाची रूप मे प्रयुक्त हुए हैं। यहा श्री या लक्ष्मी का स्वर्णवर्णा पद्मालिनी, चद्रमुखी, हरिणनयनी, स्वर्णाभूषणभूषिता एक देवी के रूप मे वर्णन है। उनके सद्य स्नाता होने के कारण उनके शरीर से जल टपकता हुआ प्रतीत होता है, आर्द्र मुख पर तृप्ति के भाव हैं और वे पद्मासना हैं, एक हाथ मे पद्म और दूसरे हाथ मे विल्वफल है। शतपथ ब्राह्मण मे भी श्री परम सुदरी देवी के रूप मे वर्णित है। कालातर मे विष्णु भी परम पुरुष बन गए और श्री एव लक्ष्मी एक होकर उनकी पत्नी के रूप मे प्रतिष्ठित हुई। प्रारभिक काल मे श्री से लक्ष्मी की भिन्न स्थिति थी, जिसमे श्री का अर्थ ब्रह्मश्री और लक्ष्मी का अर्थ राज्यश्री था[8]। विष्णुपुराण मे भी सकेत है कि 'जो सबध अर्थ और वाणी मे है, धर्म और क्रिया मे है, बोध

और बुद्धि मे है, काम और इच्छा मे है, यज्ञ जौर दक्षिणा मे है, चद्र और ज्योत्स्ना मे है, वही सबध विष्णु और श्री मे है।[9] इस बात की सभावना है कि विष्णु और कृष्ण मे तादात्म्य स्थापित होने पर लक्ष्मी के राज्यश्रीत्व को राजरानी रुक्मिणी मे और श्री के ब्रह्मश्रीत्व का कृष्ण की लीला-सहचरी आह्लादिनी शक्ति राधा मे पर्यवसान हो गया होगा। ऋग्वेद मे श्री शब्द का निराकार सज्ञा और अमूर्त विशेषणो के रूप मे प्रयोग हुआ है। परवर्ती काल मे उन विशेषणो से सयुक्त होकर राधा की साकार सज्ञा निर्मित हुई है। श्रीसूक्त की श्रीदेवी की सुषमा तथा शृगार सज्जा का प्रतिबिब पौराणिक तथा मध्यकालीन राधा के रूप-लावण्य मे आभासित होता है। पौराणिक काल मे तथा मध्यकालीन भक्ति-साहित्य के राधा-कृष्ण मे साख्य की पुरुष-प्रकृति, वेदात के माया-ब्रह्म, शैवागम के शिव-शक्ति, वैष्णवागम के विष्णु-लक्ष्मी या लक्ष्मीनारायण तथा वैष्णव सहजिया सप्रदाय के रस और रति के दार्शनिक स्वरूप-स्वभाव, सयोग-वियोग, एव सर्जन-विसर्जन के गुण-धर्मों का समाहार हुआ है। शाक्त तत्रो, विभिन्न स्तोत्रो और पुराणो मे शक्ति के आत्मिक और शारीरिक सौदर्य की ऊर्जस्वित शृगारपरक व्यजना है। डॉ शशिभूषण दासगुप्त का अनुमान है कि राधावाद शक्तिवाद के विकास का परिणाम है।[10]

पौराणिक वाड्मय मे राधा का अनाम रूप कृष्ण की विशेष प्रेयसी एक गोपी के रूप मे उपलब्ध होता है। इस गोपी विशेष के रूप और मानसिक वैशिष्ट्य का राधा से पूर्ण साम्य है, केवल राधा सज्ञा का अभाव है। भागवतपुराण मे यद्यपि राधा का नाम नही है किंतु उसका मनोदैहिक रूप अपनी सपूर्ण भावी सभावनाओ के साथ विद्यमान है। भागवत के रासलीला-प्रकरण मे श्रीकृष्ण एक विशेष गोपी के साथ एकात मे रमण और भ्रमण करते है। उस गोपी के बारे मे भागवतकार का मत है

> अनयाऽऽराधितो नून भगवान् हरिरीश्वर ।
> यन्नो विहाय गोविंद प्रीतो यामनयद् रह ।।
>
> (भा द स्क अ 30, श्लोक 28)

भागवतपुराण के इस श्लोक मे 'अनयाऽऽराधितो नून' मे ही अनेक विद्वानो ने राधा का अन्वेषण किया है। इसके अनुसार राधा कृष्ण की आराधिका हैं, कृष्ण की लीला सहचरी हैं, विशेष प्रिया हैं। विष्णुपुराण मे कृष्णकथा है और उसमे भी कृष्ण की प्रेयसी के रूप मे एक विशेष गोपी की चर्चा है। सभवत विष्णुपुराण और भागवतपुराण की यह कृष्ण की लीला सहचरी गोपी राधा ही है। विष्णु-पुराण की इस विशिष्ट गोपी को राधा का पूव रूप मानते हुए पडित बलदेव उपाध्याय ने राधा का समय विक्रम से दो या तीन शती पूर्व माना है।[11]

राधा का यह अनाम रूप अत्यत प्राचीन है और इसकी परपरा उसी रूप मे

परवर्ती कृष्णभक्ति साहित्य मे भी उपलब्ध होती है। तमिल के आलवार भक्ति साहित्य मे, जिसका समय पाचवी शती से नौवी शती तक माना जाता है, कृष्ण की प्रिया एक रसमूर्ति गोपी की चर्चा है, जिसको श्री वैष्णवो के सस्कृत ग्रथो मे नीलादेवी तथा तमिल मे 'नप्पिनैप्पिणाई' कहा गया है। यह गोपी अपने लीला-विग्रह मे राधा से अभिन्न प्रतीत होती है। मध्यकालीन गुजराती कृष्ण साहित्य मे भी राही नामक एक विशेष गोपी की चर्चा है और यह गोपी भी राधा का परिवर्तित रूप है। 18वी शताब्दी मे काश्मीर के दीनानाथ नामक भक्त कवि ने कश्मीरी भाषा मे श्रीकृष्णावतार लीला की रचना की। इस कृष्णावतार लीला नामक ग्रथ मे भी रासलीला के समय कृष्ण की प्रिया एक गोपी का उल्लेख है और इस काव्य मे भागवत की ही भाति राधा का नाम नही है। वल्लभाचार्य ने भी अपने दो ग्रथो 'परिवृढाष्टक' और 'मधुराष्टक' मे पशुपजा तथा एक विशेष गोपी के रूप मे राधा की चर्चा की है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि राधा पौराणिक साहित्य मे प्रारभ मे अनाम ही रही, लेकिन कालातर मे इस अनाम रूप को राधा नाम प्राप्त हुआ।

वायुपुराण, पद्मपुराण तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण मे राधा का शक्तिरूप स्थापित हुआ है। इन पुराणो मे राधा पराशक्ति या सच्चिदानद की आह्लादिनी शक्ति और भक्तो के भावलोक की अधिष्ठात्री देवी है। वायुपुराण मे राधा परम पुरुष कृष्ण की विलास सखी हैं। वायुपुराण ने गोलोकवासी कृष्ण को परम पुरुष, अक्षर ब्रह्म से भी परात्पर कहा है। उनकी लीला सखी राधा पराशक्ति हैं। पद्म-पुराण मे श्रीकृष्ण के क्रीडा-रसस्थल गोकुल को गोलोक बताया गया है और गोलोक की आध्यात्मिक व्याख्या भी है। नित्य रासस्थल नित्य वृदावन को गोलोक से भी श्रेष्ठ कहा गया है और वह राधापति का निवासस्थल है। यहा स्पष्ट कथन है कि राधा और कृष्ण ही आद्य पुरुष-प्रकृति है। राधा-कृष्ण के इस आद्य प्रकृति-पुरुष स्वरूप पर साख्य के पुरुष-प्रकृति की धारणा का प्रभाव है। श्वेताश्वतर उपनिषद मे माया (प्रकृति) और मायी या मायावी का युग्म है

माया तु प्रकृति विद्यान्मयिन तु महेश्वरम्।
तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्त सर्वमिद जगत्॥ 4॥ 10॥

पद्मपुराण मे कृष्ण और राधा दोनो का नखशिख सौदर्य वर्णन है। कृष्ण के सौदर्य वणन मे उनके अनुरागी चित्त, रसावेश और चपल नयनो का मनोहर वर्णन है। राधा-कृष्ण के इस नखशिख रूप-वर्णन के उपकरणो का प्रयोग मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियो मे मिलता है। इस पुराण मे गोपियो को श्रुतिरूपा कहा गया है तथा राधा की अनेक सखियो का नामोल्लेख भी है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण मे राधा का दार्शनिक स्वरूप, पराशक्ति रूप, लीलासिद्ध ललित अनुराग मूर्ति रूप पूर्णत प्रतिष्ठित है। इस पुराण मे पूर्ववर्ती और तद्-

युगीन शक्तिवाद तथा भक्तिवाद के तत्त्वो का समावेश है। इस पुराण मे नारी के शील, सौदर्य और दूसरी अनेक विशेषताओ का समाहार राधा के रूप मे हुआ है। कृष्ण राधा को अपना अर्द्धांश और मूल प्रकृति कहते हैं। इस पुराण मे राधा सृष्टि का आधार है और कृष्ण अनश्वर बीज रूप हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण मे राधा की विभिन्न लीलाओ का वर्णन है। ब्रह्मवैवर्तकार ने राधा को रसेश्वरी, रम्य रासोल्लास रसोत्सुक, रासमडल मध्यस्थ, रसाधिष्ठातृ देवता, रसिकप्रिया, रमा, रमणोत्सुका और शरद्राजीवराजिप्रभा मोचन लोचना जैसे शृगारी और साहित्यिक विशेषणो से अलकृत किया है।[12] चैतन्य महाप्रभु और निबार्काचार्य ने राधा के शक्तिरूप की विस्तृत व्याख्या की है। वल्लभाचार्य ने सच्चिदानद की आह्लादिनी पराशक्ति के रूप मे राधा की चर्चा की है।

राधा लोकजीवन और पौराणिक साहित्य से निकलकर ई सन के प्रारभ के कुछ पूर्व ही शिष्ट साहित्य मे श्रीकृष्ण की परम प्रेयसी और अनुरागमयी लीला-सहचरी के रूप मे प्रविष्ट हुई। प्रारभिक सस्कृत और प्राकृत साहित्य मे जहा राधा का अस्तित्व है, उसमे उनके लौकिक रूप की छटा विद्यमान है। राधा का प्रथम प्रकाश सभवत हाल की प्राकृत रचना गाहासत्तसई या गाथा सप्तशती मे हुआ, जो प्रथम शताब्दी की रचना है। यहा कृष्ण राधा के विशाल नेत्रो मे पडे गोरज को अपने मुख-मारुत से दूर कर रहे हैं

मुखमारुतेन त्व कृष्ण गोरजो राधिकाया अपनयम् ।
एताषा बल्लवीनामन्यासामपि गौरव हरसि ॥

राधा-कृष्ण के सयोग-सबध की व्यजना विष्णु शर्मा के पचतत्र मे भी हुई है। यहा गरुडारूढ, सायुध, कौस्तुभधारी, चतुर्भुजी विष्णु ही गोपकुल प्रसूता राधा को अपनी भार्या घोषित करते हैं। पचतत्र के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि पचतत्र के समय तक कृष्ण विष्णु मान लिए गए थे और राधा उनकी स्वकीया के रूप मे स्वीकृत थी। कुछ विद्वानो ने पचतत्र और गाथा सप्तशती को पाचवी शताब्दी या उसके बाद की रचना इसलिए माना है कि उसमे राधा का नाम है। पचतत्र का 570 ई के पहले पहलवी मे अनुवाद हो गया था।[13] इसलिए निश्चय ही यह पाचवी शताब्दी के पूर्व की रचना होगी। पचतत्र राधा शब्द के कारण ही पर-वर्ती काल का सिद्ध नही हो सकता। पचतत्र और गाथा सप्तशती मे राधा का जिस प्रकार उल्लेख है, उससे यह ज्ञात होता है कि राधा रचनाकार की कल्पना की उद्भावना न होकर लोकजीवन मे प्रचलित कथा के पात्र-रूप मे ही स्वीकृत हैं।

पचतत्र और गाथा सप्तशती के परवर्ती काव्य और काव्यशास्त्र के ग्रथो मे अनेकश राधा के अनुरागवती रूप का वर्णन है। आठवी शताब्दी के पूर्व के नाटक-कार भट्टनारायण की रचना 'वेणीसहार' के नादी श्लोक में केलिकुपिता राधा का कृष्ण द्वारा मनुहार वर्णित है। नौवी शताब्दी के सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्रकार

आनदवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक मे राधा-कृष्ण की लीलाविषयक दो श्लोक है, जिनमे यमुना-पुलिन पर लता-कुजो मे राधा-कृष्ण की विलासलीला का वर्णन है। नवी शताब्दी के काव्य-मीमासाकार राजशेखर ने राधा का उल्लेख किया है। दशवी शती के प्रारभ के कवि त्रिविक्रम की रचना 'नल चपू' मे राधा है और दशवी शताब्दी के पूर्वार्ध के ही कवि सोमदेव की रचना 'यशतिलक चपू' मे राधा-नारायण (कृष्ण) की प्रेमलीला वर्णित है। अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक लोचन' मे राधारमण का स्मरण किया है। धारा के अमोध वर्ष के 980 ई के शिलालेख मे राधा कृष्ण की विशेष प्रिया के रूप मे उल्लिखित है। मालवा के पृथ्वीवल्लभ मुज के सन 974 ई तथा 979 ई के लेखो (ताम्रपत्र) के मगला-चरण मे राधा विरहसतप्त कृष्ण के सबध मे दो श्लोक है। सन 719 ई मे रचे गए गउडवहो काव्य मे राधाकृष्ण लीला का वर्णन है। कुतक के वक्रोक्तिकाव्य-जीवित मे कालिदी के जल मे क्रीडारत राधा सबधी एक श्लोक है। धनिक (1000 ई) के 'दमरूपकावलोक' मे मानवती राधा के सबध मे एक श्लोक है। ग्यारहवी शताब्दी के भोज की रचना 'सरस्वतीकठाभरण' मे राधा-कृष्ण की विभिन्न रसमयी विलासलीलाओ से सबधित सात श्लोक हैं, जिसमें कल्याणमयी, रूपराशि, विलासवती और मानवती राधा का अत्यत मनोहर चित्रण है। एक मे राधा की स्मृति मे विह्वल कृष्ण का भी वर्णन है

> कनककलशस्वच्छे राधापयोधर मण्डले।
> नवजलधर श्यामामात्मद्युति प्रतिबिम्बिनाम्
> असितसिचय प्रान्तभ्रान्त्या मुहुर्मुहरुत्छिपज्
> जयति जनित व्रीडाहास प्रियाहसितो हरि ॥

इसमे राधा-कृष्ण के प्रथम समागम का एक चित्र द्रष्टव्य है

> लीलायीतो निवसते रक्षतु त्वा राधिकाया स्तनपृष्टे।
> हरे प्रथममागमसाध्वसप्रसरैर्वेपनशीलो हस्त ॥

रुद्रट के काव्यालकार की टीका नमिसाधु ने 1068 मे की, उसमे राधाविषयक एक श्लोक है। क्षेमेद्र(1066)के 'दशावतारचरित' के चार श्लोको मे राधा-कृष्ण की व्रज की विलासलीलाए वर्णित है। इसमे राधा-माधव के वियोग और संयोग का वर्णन है। क्षेमेद्र ने गोविंद (कृष्ण) के मथुरा जाने के [illegible] गोग-विक्षिप्त गोपियो द्वारा गोदावरी-तीर पर गोविंद के गुणगान करने का उल्लेख किया है। गोपियो ने जो गीत गाया, उसे कवि ने मात्रिक छद मे लिखा है। इस गीत के आधार पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि इस प्रकार का गीत लोकगीत के रूप मे क्षेमेद्र ने अपने आसपास सुना होगा। गीत इस प्रकार है

ललितविलासकलासुखखेलन
ललनालोभनशोभयनयौवन
मानितनवमदने ।
अलिकुलकोकिलकुवलयकज्जल
कालकलिन्दसुताविगलज्जल
कालियकुलदमने ।
केशकिशोर महासुर मारण
दारुणगोकुलदुरितविदारण
गोवर्धनधरणे ।
कस्य न नयनयुग रतिसज्जे
मज्जति मनसिजतरलतरगे
वररमणीरमणे ।[14]

रामचद्र गुणचद्र ने अपने 'नाट्य दर्पण' मे भेज्जल कवि कृत राधाविप्रलभ नामक नाटक का उल्लेख किया है । श्री हर्ष के 'नैषधीयचरित' में नल ने विष्णु के दशावतारो की स्तुति मे कृष्ण की प्राणप्रिया राधा का नामोल्लेख किया है। बारहवी शताब्दी के कवि गोवर्धन ने आर्यासप्तशती मे जयदेव के गीतगोविंद की राधा का पूर्वाभास दिया है। गोवर्धन जयदेव के समकालीन होते हुए भी उनसे कुछ पहले के कवि हैं। इन्होने राधा की अनुरागलीला का विविध रूपो मे वर्णन किया है, जिसकी पूर्ण विकसित अवस्था जयदेव के गीतगोविंद मे दिखाई देती है।

जयदेव ने गीतगोविंद के माध्यम से भारतीय प्रेम कविता मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन और प्रभाव उत्पन्न किया। जयदेव ने भारतीय वैष्णव प्रेम कविता की सपूर्ण परपरा को आत्मसात करते हुए राधा-कृष्ण से सबधित प्रेमकाव्य मे अनुभूति के नए रूप और अभिव्यक्ति के नए मार्ग का निर्माण किया, जिसका मध्यकाल के सपूर्ण कृष्णभक्ति साहित्य पर प्रभाव परिलक्षित होता है । जयदेव ने अपनी मधुर कोमलकात पदावली मे हरिस्मरण और विलास का, भक्ति और शृगार का जो अद्भुत मणिकाचन योग उपस्थित किया उससे मध्यकाल मे व्यक्ति की वासनाओ का परिष्कार और उदात्तीकरण हुआ, निवृत्तिमूलक ज्ञान की ओर से विमुख जनमानस प्रवृत्तिमूलक रागात्मिका भक्ति की ओर प्रेरित हुआ तथा जीवनधर्म और धार्मिक जीवन के नए सबध से लोकचेतना प्रभावित हुई। जयदेव ने अपने इस गीत नाट्य मे सगीत की शास्त्रीयता और काव्य के अनुभूतिप्रवण माधुर्य का सफल समन्वित रूप उपस्थित किया। जयदेव की वैष्णव कविता को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन है राधा-कृष्ण की लीला के गायन की परपरा का उद्घाटन । जयदेव की लीलागान की परपरा पुराणो की परपरा से भिन्न ज्ञात होती है ।

जयदेव के गीतगोविंद मे राधा नायिका और कृष्ण नायक के रूप मे चित्रित

हैं। दोनो का मानवीय रूप ही अधिक प्रबल है। राधा-माधव की प्रमलीला मे सहज मानवीय प्रेमलीला के सभी तत्त्व विद्यमान है। राधा के कामपीडिता, सुरतिसुख रहिता, अत्यत दु खिता, हरिचरित्र स्मार्ता तथा कलहातरिता आदि रूपो का चित्रण है। सयोगलीला मे आलिगन, चुबन, कुचस्पर्श, नखक्षत, कामोद्दीप्ति तथा रतिकेलि का वर्णन है। रतिकेलि के सहायक तत्त्व स्पर्श, गध, श्रवण और दर्शन आदि की व्यजना है। राधा के शारीरिक सौंदर्य और मन की दशाओ का भी मनोहर चित्रण है। कृष्ण का रसिक विलासी रूप और राधा का विलासवती प्रगल्भा रूप मध्यकाल के सपूर्ण कृष्णकाव्य की शृगारिकता का प्रेरणास्रोत है। जयदेव के वसतोत्सव या कामोत्सव मे अगो का उत्सव ही अधिक है, शरीर तत्त्व ही प्रधान हे, उसमे सूक्ष्म मनस्तत्त्व की गतिविधियो का अभाव ही है। इस शरीरयज्ञ मे चचल चित्त तो है, किंतु उल्लसित आत्मा का आलोक उपेक्षित है।

भारतीय साहित्य मे काम-भावना की अभिव्यक्ति और काम-प्रतीको का प्रयोग अत्यत प्राचीनकाल से होता आया है। शक्तिसपन्न और भोगसमर्थ स्त्री एव पुरुष की मिथुन-मुद्राओ तथा मैथुनरत प्रतिमाओ का अकन काव्य, चित्र, मूर्ति तथा वास्तुकला के माध्यम से अनेकश हुआ है। मध्यकाल मे दसवी शताब्दी से तेरहवी शताब्दी के बौद्ध तथा शाक्त तत्रवाद के विकृत रूप मे स्त्री तथा रति को आध्यात्मिक साधना का साधन मानने के बदले साध्य ही मान लिया गया, जिससे तद्युगीन साधना सूक्ष्म आत्मिक साधना के बदले स्थूल देहाराधना और भोगवासना के रूप मे परिणत हो गई। धीरे-धीरे धर्मसाधना की यह मनोवृत्ति सामाजिक मनोवृत्ति बन गई। इस सामाजिक मनोवृत्ति का जब विभिन्न कलाओ मे उपयोग हुआ तो उसका उन्नयन हुआ और ये कलाकृतिया स्थूल से सूक्ष्म की ओर, रूप से भाव की ओर और समीम से असीम की ओर सकेत करती हुई लोकमानस को उदात्त और आलोकित करने लगी। उस समय के खजुराहो, कोणार्क, मल्लिकार्जुन, एलोरा तथा भुवनेश्वर के मदिरो पर उत्कीर्ण मिथुनरत मूर्तिया तद्युगीन सामाजिक मनोवृत्ति और धार्मिक प्रवृत्ति की द्योतक है।[15]

जयदेव के गीतगोविंद पर तत्कालीन धार्मिक सामाजिक सौंदर्योपासना और कला मे प्रयुक्त कामयोग का प्रत्यक्ष प्रभाव पडा। जयदेव के गीतगोविंद के अतिरिक्त बारहवी-तेरहवी शताब्दी के अनेक अपभ्रश काव्यो मे भी राधा-कृष्ण की लीला का वर्णन है। बारहवी शताब्दी के हेमचद्र द्वारा सकलित अपभ्रश के दोहो मे राधा-कृष्ण के सयोग-वियोग की लीलाओ का चित्रात्मक वर्णन है। प्राकृत पैंगलम मे भी कृष्ण के ऐश्वर्यशाली तथा राधा-मुखमधुपायी रसिक रूप का वर्णन है। इस प्रकार जयदेव के बहुत पहले से ही राधा-कृष्ण की प्रेमलीला लोकजीवन और काव्य का अभिन्न अग बन चुकी थी और उसका स्वरूप लोकमानस मे स्थिर हो चुका था। जयदेव ने उस सपूर्ण काव्यपरपरा को आगे बढ़ाने मे

महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। जयदेव के गीतगोविंद का मध्ययुगीन कृष्णभक्ति साहित्य पर गहरा प्रभाव पडा।

लोकभाषाओ मे राधा

बारहवी शताब्दी के बाद राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति लोकमानस मे पूर्णत स्थापित हो गई और लोकभाषाओ मे राधा-कृष्ण की प्रेमलीलाओ की रसात्मक अभिव्यक्ति होने लगी। सपूर्ण उत्तर भारत का लोकजीवन कृष्ण की रससिक्त लीलाओ से सरस हो उठा और असम, बगाल, महाराष्ट्र, गुजरात तथा राजस्थान की लोकभाषाओ मे कृष्ण की विविध लीलाओ की मनोरम अभिव्यजना होने लगी। कृष्णभक्ति काव्य के विकास के साथ-साथ ब्रजभाषा भी विभिन्न जनपदीय भाषाओ के तत्त्वो से समन्वित और सयुक्त होकर सपूर्ण उत्तर भारत की काव्यभाषा बन गई। मैथिली के कवि उमापति और विद्यापति, बगाल के चडीदास और गुजरात के नरसी मेहता आदि कवियो ने राधा-कृष्ण की लीलाओ की मनोहर अभिव्यक्ति की। सूरदास के लीलागान पर मुख्य रूप से मैथिल-कोकिल विद्यापति के पदो का प्रभाव पडा है। भक्ति आदोलन जनसस्कृति और जनपदीय भाषाओ के उत्थान का अखिल भारतीय आदोलन है। भक्ति आदोलन और उसके साहित्य के माध्यम से जनपदीय भाषाओ का जो विकास हुआ वह आधुनिक भारतीय भाषाओ के निर्माण का आधार बना। विद्यापति हिंदी जाति की जातीय सस्कृति, उसकी भाषा और उसके साहित्य के आरभिक निर्माताओ मे से एक हैं। उनकी पदावली मे हिंदीभाषी जनता की सस्कृति और जीवन के रागात्मक पक्ष के विभिन्न रूपो की अभिव्यक्ति हुई है। वे हिंदी के कृष्णभक्ति काव्य की परपरा के निर्माता है।

विद्यापति की पदावली की राधाकृष्ण-लीला मे जयदेव के गीतगोविंद की युगल मूर्ति की प्रति-छवि है, पदो मे गीतो की स्वरसाधना की अनुगूज है, किंतु गीतगोविंद और विद्यापति पदावली मे विषयवस्तु और अभिव्यक्ति सबधी अनेक अतर है। गीतगोविंद मे सपूण प्रेमलीला का आयोजन श्रीकृष्ण की मनोकामना का परिणाम है, उसमे प्रेमी कृष्ण का ही पक्ष प्रबल है, प्रिया राधा का नही। जयदेव की चेतना का तादात्म्य कृष्ण की मन स्थिति से हुआ प्रतीत होता है, राधा तो कृष्ण की विलासलीला के साधन के रूप मे उपस्थित है। जयदेव राधा की रूपमाधुरी के प्रति सचेत हैं, किन्तु राधा का रूप-लावण्य कृष्ण की सौदर्यानुभूति की अभिव्यक्ति है, उसका कोई स्वतत्र अस्तित्व नही है। जयदेव की राधा भावमूर्ति है, अत्यत प्रेमविह्वला हैं, उन्होने कृष्ण के प्रेम की विह्वलता मे अह और इदम दोनो का विसर्जन कर दिया है, अत आत्मचेतना की विस्मृति ही स्वाभाविक है। विद्यापति की पदावली मे राधा-कृष्ण प्रेम के समान धरातल

पर स्थित है, दोनो के हृदय मे प्रेम का प्रकाश समान है। इसमे नारी (राधा) का ही पक्ष प्रबल है। कवि विद्यापति सयोग और वियोग मे सदा राधा के निकट हैं। पदावली की राधा विद्यापति की आत्मा ही है, जिसकी प्रत्येक गतिविधि से कवि का सहज सपर्क है। राधा की विभिन्न मनोदैहिक विशिष्टताओ की व्यजना विद्यापति ने घनीभूत अनुभूति के आधार पर की है। राधा का मानसलोक ही विद्यापति की प्रतिभा का केंद्रबिंदु है, जबकि जयदेव कृष्णोन्मुख अधिक हैं। विद्यापति ने राधा के शारीरिक और मानसिक सौदर्य के विकासक्रम की गति को मनोयोगपूर्वक अकित किया है। विद्यापति की राधा मे किशोरी का सरल भोलापन, युवती की कामना, अनुरागमयता, स्वात्मसौदर्यबोध, प्रेम-उत्सुकता और आत्मदान की आकुलता है। उसमे वियोग-वेदना से उत्पीडित आत्मा की गतिविधि का स्वरूप भी परिलक्षित होता हैं। विद्यापति की राधा अपूर्व सुदरी हैं, पृथ्वी के सपूर्ण लावण्य का सार। सौंदर्यमधु और प्रेमरस से भरी कनकवल्लरी के समान उसकी देहयष्टि है, जिसमे पूर्ण विकसित स्वर्णकमल-सा उसका मुख है, तरगायित नयन है और भाव-भगिमा से भरी कुटिल भौहे हैं। उसके सपूर्ण स्वरूप के पूर्ण साक्षात्कार के बाद यही कहना पडता है कि 'ध्रुव वपु काचन पद्मनिर्मित मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च।' विद्यापति ने राधा की वय सधि का अत्यत मनोहर वर्णन किया है। राधा जहा-जहा पैर रखती है वहा कमल झरते हैं, उसकी देहद्युति से तरगे उठती है

> जहा जहा पग जुग धरई। तहिं तहिं सरोरुह झरई।
> जहा जहा झलकत अग। तहिं तहिं विजुरि तरग।
>
> •
>
> जहा जहा नयन विकास। तहिं तहिं कमल प्रकास।
> जहा लहु हास सचार। तहिं तहिं अमिय विकार।
> जहा जहा कुटिल कटाख। ततहिं मदन सर लाख।[17]

राधा की वय सधि के रूपाकन मे केवल शरीर का विकसित सौदर्य ही नही है, मानस की भगिमाए भी हैं और भावतरगें भी। द्वद्व शैशव और यौवन मे ही नही, भावनाओ मे भी है। राधा के अर्ध अनावृत सौदर्य का जो वर्णन विद्यापति ने किया है उसमे रूप के गोपन और उद्घाटन के द्वारा आकर्षण और उत्सुकता की वृद्धि हुई है

> सजनी, भल कए पेखलन मेल।
> मेघ-माल सय तडित लता जनि, हिरदय सेल दई गेल।
> आध आचर खसि, आध बदन हसि, आधहिं नयन-तरग।
> आध उरज हेरि, आध आचर भरि, तब धरि दगधे अनग।[18]

विद्यापति ने राधा के सौंदर्य के वस्तुपरक रूप और आत्मपरक प्रभाव, दोनो का

चित्रण किया है। ऐसी रूपराशि राधा को कृष्ण ने पथ मे देखा और देखा उसकी सुदर छद के समान निर्मित देहयष्टि को, ताल और लय के समान सतुलित गतिमान चरणो को, उसके अर्धअनावृत अगो के तरल सौदर्य को। आकर्षण तथा उत्सुकता के कारण कृष्ण के मानस मे प्रेम का अकुरण हुआ। विद्यापति के कृष्ण राधा के प्रथम दर्शन से ही उसके प्रेम मे विकल दिखाई देते हैं। विद्यापति के राधा-कृष्ण का प्रेम विषम नही है, दोनो ही प्रेम मे व्याकुल हैं, दोनो मे सयोग की कामना है। विद्यापति ने राधा-कृष्ण के सयोग का जो आयोजन किया है वह हठात नही है, बल्कि उसमे पहले आकर्षण से प्रेम का अकुरण हुआ है और सखियो की शिक्षा के माध्यम से अनुकूल वातावरण भी निर्मित हुआ है। कवि ने रति-क्रीडा का जो बिंबात्मक वर्णन किया है, उसे कुछ आलोचक अग्राह्य मानते हैं। विद्यापति ने तो जीवन और सामाजिक रूढियो के विरोध को ध्वस्त करते हुए सामती नैतिक नियमो के बधनो से मुक्त होकर स्तिमित देहधर्म तथा आत्मा के मौन रहस्यात्मक उल्लास को एक करते हुए, एक जीवत चित्र निर्मित करने के लिए इद्रियग्राह्य बिंबो का सहारा लिया है।

विद्यापति के प्रेम का आदर्श वह प्रीति या अनुराग है जो प्रत्येक क्षण नूतन हो और रूपमाधुरी ऐसी जिसे आजन्म पान करने पर भी आखें तृप्त न हो

सखि, कि पुछसि अनुभव मोय।
से हो पिरित अनुराग बखानिए, तिल तिल नूतन होय।
जनम अवधि हम रूप निहारिल, नयन न तिरपति भेल।
कत मधु यामिनि रमस गमाओल, न बूझल कइसन केल।[19]

कृष्ण राधा की आस्था हैं और राधा कृष्ण की कामना। कृष्ण और राधा का सयोग-वियोग आस्था और कामना का ही सयोग-वियोग है। अपनी आस्था के अभाव की आशका मात्र से राधा का मानस व्याकुल हो उठता है। कृष्ण के विदेश जाने की सभावना से ही वह विकल हो उठती हैं। पहले अपनी कुलीनता के कारण प्रिय से कुछ अन्यथा कहना अनुचित समझती हैं तो सखी से प्रिय को विदेश जाने से रोकने के लिए कहती हैं। अपने लोभनीय यौवन का स्मरण दिलाते हुए कहती हैं कि यह प्रिय के विदेशगमन का उचित अवसर नही है। माधव के विदेश जाने के स्थिर निश्चय को जानकर राधा अपनी कुलीनता का मोह त्यागकर स्वय उन्हे विदेश जाने से रोकती हैं। जब राधा के अनुनय-विनय केपश्चात भी कृष्ण मथुरापुरी चले गए तो राधा का हृदय वेदना से विदीर्ण होने लगा। विरहिणी राधा कृष्ण की प्रतीक्षा कर रही हैं, आखें पथ देखते-देखते थक गई हैं, जीवन केवल कृष्ण के आने की आशा से उलझकर कायम है। विरह मे आशा ही जीवन का कारण है

लोचन धाए फेधायल, हरि नहि आयल रे।
सिव सिव जिवओ न जाए, आस अरुझाएल रे।

मन करे तहा उडि जाइअ, जहा हरि पाइअ रे।
पेम परसमनि जानि, आनि उर लाइअ रे।[20]

कृष्ण की प्रतीक्षा मे दीवार पर दिन लिखकर गिनते-गिनते उसके नख क्षीण हो गए हैं और रास्ता देखते-देखते आखें अधी हो गई है। वियोगिनी राधा के रूप और भावदशा का मनोहर वर्णन विद्यापति ने किया है।

विद्यापति ने कृष्ण की भ्रमरवृत्ति की भी व्यजना की है। राधा के प्रथम दर्शन के पश्चात कृष्ण के अनुरागी चित्त की व्याकुलता सतत वृद्धिमान है और अत मे कृष्ण की दूती राधा के पास कृष्ण का प्रेम-सदेश लेकर पहुचती है। कृष्ण की दूती भ्रमरमालती की प्रतीक-पद्धति से राधा से कृष्ण की विरह विकल मनोदशा बताती है। राधा रसवती मालती है और कृष्ण मधुपायी भ्रमर, कटको के बीच मालती प्रस्फुटित हुई है और भ्रमर उसके सामीप्य और सहवास के लिए व्याकुल है। कृष्ण मधुजीवी है और राधा मधुराशि है। कृष्ण के जीवन के लिए राधा के अधरामृत का पान आवश्यक है

कटक माझ कुसुम परगास भमर विकल नहि पावए बास।
भमरा भेल घुरए सब ठाम तोहे बिनु मालति नहि विसराम।
रसमति मालति पुनपुन देखि पिवए चाह मधु जीव उपेखि।
उ मधुजीवी तौंजे मधुरासि साचि धरसि मधु मने न लजासि।
अपनेहु मने गुनि बुझ अवगाहि तसु बध दुखन लागत काहि।
भनहिं विद्यापति तौ पय जीब अधर सुधारस जौ पए पीब।[21]

मधुप ने राधा के पास सचित मधुराशि का उपभोग कर, राधा को नीरस और मधुहीन समझकर त्याग दिया। राधा सोचती हैं कि जलहीन तालाब को कोई नही पूछता, निर्धन व्यक्ति को कोई सम्मान नही देता। नारी का यौवन और सौंदर्य ही उसका मधु है, सुगध है, और इसके समाप्त होते ही वह नीरस सुगधहीन बन जाती है, जिस पर भ्रमरो का गुजार नही होता।

राधा के हृदय मे कृष्ण की सज्जनता और सहृदयता का विश्वास है, वह जानती है कि कृष्ण उसके प्रेम को झूठा नही बनाएगे। लेकिन जब प्रतीक्षा की अवधि धैर्य की सीमा को पार कर जाती है तब राधा कृष्ण की प्रेमभावना पर अविश्वास करने लगती है। जब व्यक्ति को सत्कार्य करके भी पश्चाताप की मनोदशा से गुजरना पडता है तो सहज मानवीय साधुता की स्थिति ही शकास्पद हो जाती है। प्रेम करके भी जब किसी को पछताना पडता है तो प्रेम और प्रिय दोनो की अवाछनीयता प्रकट होने लगती है। वियोग मे राधा की यही मानसिक स्थिति है। राधा का विरह सागर बन चुका है। जीवन मे विश्वास और कृष्ण के आगमन की आशा क्षीण है, तिल-तिलकर यौवन नष्ट हो रहा है और राधा यह सोचती है कि अगर यौवन विरह मे समाप्त हो जाएगा तो सयोग की सार्थकता क्या है?

राधा कृष्ण के प्रेमयज्ञ की समिधा बन गई है और इस महायज्ञ मे उसने अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया है। विद्यापति ने वियोगिनी राधा की मन स्थिति का अत्यत मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। विरह मे मन की सर्वोच्च अवस्था वह है जहा प्रिया और प्रिय मे पूर्णत अभेद स्थापित हो जाता है। विद्यापति की राधा भी वियोग मे माधव बन गई है। वह राधा के रूप मे माधव के वियोग की वेदना से पीडित होती है और माधव के रूप मे राधा की वियोग-वेदना से। इस प्रकार विद्यापति ने राधा की रूपलीला और मनोभावो की विविध गतिविधियो की जो सफल अभिव्यजना की है, उसका प्रभाव परवर्ती कृष्णभक्ति साहित्य पर पडा है। सूरदास विद्यापति के लीलागान की परपरा के सरक्षक और पोषक के रूप मे हमारे सामने आते हैं। विद्यापति के विरह-चित्रण मे कालिदास की विरह-व्यजना की प्रगीतात्मकता का प्रतिबिब है और वह सूरदास की विरह-व्यजना की कला का प्रेरणास्रोत भी है।

सूरदास की राधा

विश्व के महान साहित्यकारो ने अपने साहित्य मे एक या अनेक ऐसे चरित्रो का सृजन किया है, जिनके प्रत्येक स्पदन मे स्रष्टा की आत्मा का सगीत सुनाई देता है और जिनके व्यक्तित्व मे कर्ता एव कृति का तादात्म्य दिखाई देता है। सूरदास की राधा का चरित्र ऐसा ही है। विश्व के कई कलाकारो ने कुछ ऐसे नारी चरित्रो की सुदरतम कल्पना और सृष्टि की है जिनके जीवन मे सत्य की शाश्वत प्राण-प्रतिष्ठा हुई है तथा जिनकी दृष्टि मे सहज ही शिवत्व की झलक आ गई है, उनमे सूर की राधा का अन्यतम स्थान है। सूर की राधा की सहज अनुरक्ति, स्वच्छद प्रकृति, अदम्य जीवनशक्ति तथा अनुपम सौदर्य-मूर्ति मे मनस्विनी प्रेयसी और असीम आत्मशक्ति सपन्न वियोगिनी का जो उदात्त सयोग हुआ है, उससे उनका चरित्र लौकिक होकर भी लोकोत्तर बन गया है। राधा मे जीवन के प्रेयस और श्रेयस तत्त्वो का अद्भुत सयोग है। राधा के रूप मे प्रेम के सुमधुर परिवेश मे पली विकसी किशोरी, सयोग मे सिद्ध कामनामूर्ति युवती, परिणय की ओर उन्मुख प्रेयसी तथा वियोग मे तपी नारी के सपूर्ण जीवन का चित्रण हुआ है। सूरदास की राधा प्रेम-प्रतिमा और प्रेम-प्रतीक के रूप मे भारतीय जनता के मन मे बस गई है। ऐसे मानव चरित्रो का निर्माण महान मानववादी रचनाकार ही कर सकते हैं।

कृष्ण की बाल सखी

सूरदास ने राधा-कृष्ण के प्रथम दर्शन मे ही राधा के मोहक लावण्य का आकर्षक रूपाकन किया है। कृष्ण ने विशालाक्षी राधा को देखा, जिसके ललाट पर रोली

बिंदु है, नीलाबर वेष्टित देहयष्टि, दीर्घ लहरदार वेणी, अल्प वय और गौरवर्ण है। वह अपनी सखियो के साथ है। इस मनोरम रूप को देखते ही कृष्ण रीझ गए, नेत्र मिले तो 'ठगोरी' पड गई (पद स 1290)। देखते ही देखते कृष्ण ने राधा का चित्त चुरा लिया, रसिक शिरोमणि ने बातो मे ही भोली राधा को भरमाकर अपना बना लिया (पद स 1291)। यहा जो प्रेम का प्रथम प्रकाश हुआ है वह सम प्रेम है, दोनो के मन इस प्रेमयात्रा मे सहयोगी है। राधा सखियो के साथ घर लौटी तो माग मे सखियो को भुलावे मे डालने के लिए कहा—'अरे इनके यहा कौन जाता है, बडी देर हुई, घर चलो, मा क्रोधित होगी।' राधा व्यक्त रूप मे इस प्रथम दशन के बाद उदासीनता प्रकट करती है, लेकिन हृदय मे प्रेम की भावना है (पद स 1295)। राधा बेचैन है, मन मे कृष्ण उलझ गया है। घर काटने को दौडता है, चित्त चचल है, खानपान की सुधि नही। कभी रोती है, कभी हसती है, कभी लज्जित होकर सकुचित हो जाती है। माता-पिता का भय है, लेकिन गोदोहन के बहाने घर से निकल पडती है—'मनोरथानामगतिर्न विद्यते'। राधा क्रीडा मे कृष्ण के साथ अपना प्रेम प्रकट करती है और इसी मे इसका चचल चतुर रूप भी प्रकट हुआ है। नद ने कृष्ण को राधा के हाथो मे सौंप दिया, साथ-साथ खेलने की आज्ञा दे दी, तो राधा का कृष्ण पर अधिकार हो गया। वह कृष्ण से कहती है, 'अब मैं तुम्हे कही नही जाने दूगी' (पद स 1298)।

सूरदास ने राधा-कृष्ण के इस प्रेम के विकास मे राधा के बालसुलभ चातुर्य और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अवस्थाओ का चित्रण किया है। राधा का प्रेम अब परिपुष्ट हो गया है, वह रसकेलि के रहस्य से धीरे-धीरे परिचित हो रही है। कृष्ण से मिलकर लौटने के बाद मन विकल और चित्त चचल है। राधा ने घर पहुचकर मा से बहाना बनाया। इस बहाने मे उसका वाक्-चातुर्य प्रकट हुआ है। जब मा ने राधा के उसकी विशेष मनोदशा और शरीरदशा का कारण पूछा तो चतुरा राधा ने बहाने मे मा को भुला दिया (पद स 1315)। वृषभानु की यह कुमारी बडी तपस्या के बाद दो भाइयो के पश्चात एकमात्र पुत्री है, इसलिए मा का उस पर विशेष स्नेह है। राधा ममतामयी मा के स्नेहिल हृदय और भोलेपन का लाभ उठाती है, कभी-कभी उसे डाट भी देती है (पद स 3031)।

राधा के वाक्-चातुर्य की व्यजना राधा-यशोदा-सवाद मे हुई है। एक दिन राधा यशोदा के घर पहुची। यशोदा ने राधा को देखा तो उसके अद्भुत सौदर्य पर यशोदा का मन परम प्रसन्न हुआ—राधा के विशाल नेत्र, सुदर वदन, अल्प वय और मोहक शरीर को देखते ही यशोदा ने कृष्ण के लिए इसे एक अच्छी जोडी मान लिया (पद स 1320)। यशोदा ने राधा का परिचय पूछा तो राधा ने अत्यत चतुराई से अपना परिचय बताया, "मैं वृषभानु महर की बेटी हू, मेरी मा

तुम्हें जानती है, यमुना के तट पर अनेक बार तुमसे मिलना हुआ है, लेकिन तुम्ही नही पहचानती हो।' इसी बीच मे राधा प्रेमभरी एक गाली भी यशोदा को अपनी मा की ओर से देती है। राधा के इस वाक्-चातुर्य पर यशोदा मोहित हो गई

नाम कहा तेरौ री प्यारी।
बेटी कौन महर की है तू, को तेरी महतारी।
धन्य कोख जिहिं तोकौं राख्यो, धनि धरि जिहि अवतारी।
धन्य पिता माता तेरे, छवि निरखति हरि-महतारी।
मैं बेटी वृषभानु महर की, मैया तुमकौ जानति।
जमुना-तट बहु बार मिलन भयो, तुम नाहिन पहिचानति।
ऐसी कहि, वाकौं मैं जानति, वह तौ बडी छिनारि।
महर बडौ लगर सब दिन कौ, हसति देति मुख गारि।
राधा बोलि उठी, बाबा कछु, तुमसौ ढीठौ कीन्हौ। (1321)

यशोदा ने राधा का शृगार किया और राधा-कृष्ण की जोडी को एक साथ खेलने के लिए आज्ञा दे दी। बालिका राधा का सौदर्य अनुपम है, वह रमा, गौरी, उर्वशी आदि से भी श्रेष्ठ है

विधि के आन विधि को सोच।
निरखि छवि वृषभानु तनया, सकल मम कृत पोच।
रमा, गौरी, उर्वसी, रति, इद्र-बधू समेत।
तूल दिनमनि कहा सारग, नाहि उपमा देत।
चरन निरखि, निहारि नख छवि, अजित देख्यो तोकि।
चित्त गुनि महिमा न जानत, धीर राखत रोकि। (1324)

राधा ने घर लौटकर अपनी मा से यशोदा के साथ अपने सवाद का चातुर्यपूर्ण वर्णन किया और अपने वाक्-चातुर्य के बीच मे ही अपने प्रेम को छुपा लिया (पद स 1326)।

प्रेम की विवशता मे राधा को तन-मन की सुधि नही है, राधा खाली बर्तन मे रई चलाती है और उसे यह ज्ञात ही नही है कि उसका यह आचरण हास्यास्पद बन गया है। यशोदा ने राधा से कहा, 'तेरे ढग विचित्र हैं, तुम जगतमोहिनी हो, अत्यत रूपवती हो, तुमने कृष्ण को ठग लिया है। और अभी बचपन मे यह हालत है, तो आगे क्या होगा ? (पद स 1336) तुम बार बार यहा मत आओ।' राधा ने तुरत जवाब दिया, 'अपने श्याम को रोको, वही मुझे घर से बुला लेता है। वह कहता है कि तुम्हे देखे बिना मेरा जीवन कठिन है तो मुझे दया आती है।' यशोदा राधा की इस प्रेम-विवशता और वाक्-चातुर्य पर मुग्ध हैं (पद स. 1341)। कोई भी व्यक्ति राधा की इस चतुराई की प्रशसा करेगा।

अनुरागवती किशोरी

गोदोहन और गोचारण मे राधा-कृष्ण का जो प्रेम विकसित हुआ है, उसमे राधा एक चचल मुग्ध किशोरी के रूप मे प्रकट हुई है। राधा ने कृष्ण से गोदोहन के लिए प्रार्थना की। राधा ने कहा कि मेरी सुदर चूनरी भीग जाएगी, उसका रग फीका पड जाएगा (पद स 1349)। कृष्ण ने गोदोहन मे प्रेम की कलाबाजी प्रारभ की तो राधा ने कृष्ण को डाटा

तुम पै कौन दुहावै गैया।
लिए रहत हौ कनक-दोहनी, बैठत हौ अधपैया।
अति रस काम की प्रीति जानि कै, आवत खरिक दुहैया।
इत चितवत्, उत धार चलावत, यहै सिखायो मैया ?
गुप्त प्रीति तासौ करि मोहन, जौ है तेरी दैया।
सूरदास प्रभु झगरौ सीख्यौ, ज्यो घर खसम गुसैया ॥ (1352)

प्रेम के इस झगडे मे ही राधा-कृष्ण का प्रेम क्रमश पुष्ट होता हुआ दिखाई देता है। राधा ने रुष्ट होकर कृष्ण से कहा कि तुम अपनी गाय अलग कर लो, मैं तुम्हारे बस मे नही हू, तेरे बाबा के अधीन भी नही हू और तुम हमारे स्वामी नही हो। हम तुम एक ही जाति के हैं, केवल तुम्हारे पास दो गायें अधिक हैं, तो इसीलिए तुम बडे नही हो गए, तुम गोपियो से छेडछाड करते हो (पद स 1353)। अत मे कृष्ण ने हार मानी। प्रेम का झगडा प्रीति की प्रगाढता मे बदल गया।

गोदोहन के पश्चात कृष्ण को छोडकर राधा घर जाना चाहती है तो पैर आगे बढ रहे हैं, लेकिन मन पीछे छूट गया है। राधा बार-बार मुडकर नद की गली की ओर देखती है, अनेक बार प्यारे के पुन दर्शन के लिए लौट आती है। राधा का मन बेचैन है, प्रेम विवश है (पद स 1358)।

गारुडी प्रसग मे राधा की प्रेम-विकलता व्यजित हुई है। राधा को काम-भुजग ने डस लिया है, काले (श्याम) भुजग ने काट लिया है—'प्रेम प्रीति विष हिरदै लाग्यौ, डारत है तनु जारे।' राधा की मा व्याकुल है, किसी गारुडी की खोज हो रही है। कृष्ण गारुडी बनकर आ गए। उन्होने महामत्र का प्रयोग किया—'बार बार लै कठ लगायौ मुख चूम्यौ' तो राधा स्वस्थ हुई, प्रसन्न हुई।

प्रेममयी युवती

कृष्ण के प्रेम मे विवश राधा अब घर पर, गली मे, यमुना तट पर, और कुजो मे हर जगह कृष्ण की प्रतीक्षा करती है, सयोग का अवसर ढूढती है। कृष्ण गोपी-वल्लभ है, किंतु राधा उनकी विशेष प्रिया हैं। सूरदास ने राधा-कृष्ण की प्रेमलीला

को क्रमश विकसित किया है और शेष गोपीकृष्ण लीला से उसको भिन्न रखा है। पनघट-लीला मे राधा अपनी सखियो के साथ यमुना-तट पर पहुचती है तो राधा-कृष्ण परस्पर नयनो की भाषा मे मन की बाते करते है (पद स 2054)। राधा जल लेकर सखियो के साथ घर लौटने लगी है तो उसकी मोहिनी छवि पर कृष्ण मुग्ध होकर साथ-साथ चलने लगे हैं (पद स 2055)। राधा के सिर पर जलभरा घडा है, आखो से इशारे हो रहे है। साथ चलने का यही प्रयोजन है (पद स 2056)।

दानलीला मे अन्य गोपियो के गोरस के आस्वादन के पश्चात कृष्ण ने राधा से गोरस की कामना की तो राधा ने अपने कर-कमलो से ही कृष्ण को ताजा नवनीत खिलाया। कृष्ण राधा के गोरस के माधुर्य की सराहना कर रहे है और राधा मन ही मन परम प्रसन्न हो रही है (पद स 2217)। लगता है कि राधा और कृष्ण का प्रेम पुरातन है, युग-युग का है, शाश्वत है (पद स 2232)।

राधा की अभिलाषा पूर्ण हुई, कृष्ण मिले (पद स 2296-97)। राधा ने कृष्ण से अपनी मनोदशा और मनोव्यथा व्यक्त की, 'ब्रज मे हमारे प्रेम की व्यापक चर्चा है, सब यही कहते है कि राधा-मोहन एक हैं। माता पिता सभी मुझे डराते-धमकाते है। वे अनेक है, मै अकेली हू। मै यह सब कुछ सुनकर लज्जित होती हू। ब्रज के नर-नारियो को यह ज्ञात नही है कि यह शरीर नाशवान है, इसका जिस अश तक कृष्णार्पण हो सके, वही सार्थक है' (पद स 2301)। राधा ने कृष्ण से प्रार्थना की कि तुम इस गली मे न आओ और अगर आओ भी तो अपनी मोहिनी बशी न बजाओ। राधा ने कृष्ण मे अपनी एकात निष्ठा व्यक्त की, 'तुम बिन श्याम और नही जानौ।' राधा के लिए वह सब कुछ निरर्थक है जो उसके प्रेम मे बाधक है। कृष्ण ने राधा से अपने पुरुष-प्रकृति रूप ('द्वैतन जीव एक हम दोऊ') को समझाकर भी उसे लोकलाज और कुलकानि मानने की सलाह दी (पद स 2308)। यहा सूरदास ने कृष्ण के मुख से वेदमत या शास्त्रमत के ऊपर लोक-मत या लोकधर्म की प्रतिष्ठा कराई है। किंतु प्रेममयी राधा के लिए तो उसका हृदय धर्म (प्रेम) ही सवस्व है।

असाधारण सुदरी

सूरदास मूलत रूप और प्रेम के कवि है। रूप के अकन और प्रेम की साधना मे ही उनकी चित्तवृत्ति विशेष रमी है। सूरदास की सौदर्य चेतना की विकसित अवस्था राधा के सौंदर्य-चित्रण मे दिखाई पडती है। राधा के अग-प्रत्यग की गति और स्थिति की रमणीयता का गतिशील और स्थितिशील चित्र सूरदास ने खीचा है। उन्होने राधा की मानसिक और शारीरिक सौदर्य-समृद्धि का अनेकश पूर्ण चित्र चित्रित किया है।

सूरदास ने राधा का प्रवेश सूरसागर मे एक परम सुदरी बालिका के रूप मे कराया है। रासलीला मे रासेश्वरी के भव्य सौदर्य का मार्मिक चित्रण कवि ने किया है। इसमे राधा के प्रत्येक अग की प्राकृत शोभा और आभूषण-भूषित सौंदय का वर्णन है। कनक किंकिनी नूपुर आदि के स्वर से अनुगुजित लयात्मक पदगति का गतिशील चित्र चित्रित है। राधिका शील और गुणो की राशि है

नीलाबर पहिरैं तनु भामिनी, जनु घन दमकति दामिनी।
सेस, महेस, गनेस, सुकादिक, नारदादि की स्वामिनी।
ससि-मुख तिलक दियौ मृगमद कौ, खुभी जराइ जरी है।
नासा-तिल प्रसून बेसरि-छवि, मोतिनि माग भरी है।
अति सुदेस मृदु चिकुर हरत चित, गूथे सुमन रसालहिं।
कबरी अति कमनीय सुभग सिर, राजति गोरी बालहिं।
सकरी-कनक, रतन-मुक्तामय लटकन, चितहिं चुरावै।
मानौ कोटि कोटि सत मोहिनी, पाइनि आनि लगावै।
काम कमान-समान भौंह दोउ, चचल नैन सरोज।
अलि-गजन अजन-रेखा दै, बरषत बान मनोज।
कबु कठ नाना मनि भूषन, उर मुक्ता की माल।
कनक किंकिनी-नूपुर-कलरव, कूजत बाल मराल।
चौकी हेम, चद्र-मनि लागी, रतन जराइ खचाई।
भुवन चतुर्दस की सुदरता, राधे मुखहिं रचाई। (1673)

गधर्व विवाह मे, रासलीला के प्रसग मे, सौभाग्यवती राधा का सौदर्य अनुपम है। राधा राधा-सी ही है। लघु मानलीला मे सूर ने राधा के सौंदर्य का चित्रण किया है। मानलीला मे ही सूर ने रूपकातिशयोक्ति के माध्यम से राधा का नखशिख सौंदर्य वर्णन किया है

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज वर क्रीडत, तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरबर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक, पिक, मृगमद काग।
खजन, धनुष, चद्रमा ऊपर, ता ऊपर, इक मनिधर नाग।
अग-अग प्रति और और छबि, उपमा ताकौं करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियौ सुधारस, मानौ अधरनि के बड भाग।। (2728)

सयोगलीला मे राधा के सौदर्य का मोहक नखशिख-वर्णन अनेक बार सूरदास ने किया है। राधा का सौदर्य असाधारण, आकर्षक और विश्व-विमोहन है, जिस पर कृष्ण अनुरक्त हैं, गोपिया मोहित हैं तथा यशोदा को भी आश्चर्यमिश्रित सुखानु-

भूति ही होती है। सयोगलीला मे मोहन की प्राणप्रिया का सौदर्य असीम है। वह चद्रमुखी हैं, ललाट पर चदन तिलक है, नागिन-सी लहरीली वेणी, मछली-सी आखें, स्वच्छ सरोवर-सा मुख, अनेक आभूषणो से भूषित अग, सुदर ठुड्डी, अरुण अधर, उन्नत पयोधर, गभीर नाभि प्रदेश, क्षीण कटि, नूपुररवपूरित पदचाप और क्षण-क्षण नवीन होने वाला अग सौदर्य है। वह कृशोदरी गुरु नितबभार से शनै -शनै हस की गति से चलती है और उस पद्मिनी की अग-सुगधि के लोभी भ्रमर उसके साथ-साथ चलते हैं (पद स 2338)। कृष्ण राधा के रूप के रसिक हैं, लुब्ध मधुप हैं। राधा का चारुत्व सफल है, क्योकि उसमे कृष्ण की सच्ची अनुरक्ति है। कामिनी के कमनीय सौंदर्य की सफलता प्रिय को सुखद और प्रिय लगने मे ही है—'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।' रतिकेलि प्रेमसाधना की सिद्धि है, चरम उत्कर्ष है, अत सूर ने रतिकेलि के समय राधा के सौंदर्य का भव्य वर्णन किया है। यह रूप और रस की पूर्णावस्था है, इसलिए सूरदास ने सयोगलीला मे राधा के सौदर्य-वर्णन मे अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा का भरपूर उपयोग किया है।

सूरदास ने राधा का सर्वांग सौंदर्य वणन किया है, किंतु राधा के नयन सूरदास के मानस के केंद्रबिंदु हैं। राधा विशालाक्षी हैं, उनके नेत्र चचल हैं, चतुर है, घातक हैं, तृषार्त है, अनुरक्त हैं, रूपलोभी हैं। ये आखें अत्यत व्यापक और गभीर हैं, जिनमे शोभा सिंधु (कृष्ण) समाहित हो जाता है, आखो मे सागर का समावेश एक अद्भुत सयोग है। सुरतिगोपन मे सलग्न राधा के रागरजित नयन उनकी सखियो के सामने उनके सुरतिगोपन के प्रयास को विफल कर देते हैं और वह सुरतिलक्षिता दिखाई देती है

> खजन नैन सुरग रस माते।
> अतिसय चारु बिमल, चचल ये, पल पिंजरा न समाते।
> बसे कहू सोई बात सखी, कहि रहे इहा किहिं नातै।
> सोई सज्ञा देखति औरासी, बिकल उदास कला तै।
> चलि चलि जात निकट स्रवननि के सकि ताटक फदाते।
> सूरदास अजन गुन अटकै, नतरु कबै उडि जातै॥ (3285)

रासेश्वरी, रसेश्वरी, सर्वेश्वरी

प्रकृति के पावन परिवेश मे शरतचद्रिका के उज्ज्वल आलोक मे मुरली-ध्वनि के रसमय सगीत के सहारे राधिकारमण ने रासलीला की आयोजना की और राधा तथा अन्य गोपियो के प्रेम की चरम परिणति, महामिलन की योजना पूर्ण हुई। सुदरी राधा इस रासलीला की नायिका हैं (पद स 1655)। राधा रासलीला की मूल क्रियाशील शक्ति हैं, आनद शक्ति हैं। रासलीला के समय यमुना के तट पर कृष्ण के साथ राधा और अन्य गोपियो ने शृगार किया और तब रासलीला

प्रारभ हुई। रासमडल के मध्य मे राधा स्थित हैं। रासलीला मे राधा कृष्ण की विशेष प्रिया हैं, अन्य गोपियो को छोडकर कृष्ण राधा के साथ एकात मे रास-लीला सपन्न करते हैं।

स्वकीया

सूरदास ने रासलीला मे राधा-कृष्ण के गधर्व विवाह के आयोजन के द्वारा राधा को कृष्ण की स्वकीया के रूप मे प्रस्तुत किया है। राधा-कृष्ण के इस प्रेम-विवाह की भूमिका सूरदास ने दोनो के बचपन से ही तैयार की है। राधा-कृष्ण की जोडी यशोदा को पसद है और वृषभानु-पत्नी भी राधा-कृष्ण के सयोग की कामना करती है। वर और कन्या दोनो पक्ष इस भावी विवाह की मौन स्वीकृति बहुत पहले ही दे चुके हैं। इस गधर्व विवाह मे राधा का अनन्य रूप-माधुर्य पूर्ण निखरा हुआ दिखाई देता है। राधा का दुलहिन के रूप मे भव्य वर्णन सूरदास ने किया है—राधा निर्मल चादनी है, काली अलको के बीच मुक्त द्युति के समान माग है, कानो मे ताटक हैं और गोर ललाट पर सौभाग्य का चिह्न सिंदूर की बिंदी है। आलस भरे नैन सुदर हैं, कनकलता-सी देहयष्टि मे पुष्प-से सुदर पयोधर हैं। राधा राधा के ही समान हैं, वह अनन्य हैं, अनुपम हैं, श्याम की सदा प्रिया हैं (पद स 1694)। राधा और कृष्ण दोनो दो देह एक प्राण हैं, राधा कृष्ण की एकात प्रिया है (पद स 1703)।

सूरदास ने रासनृत्य और जलक्रीडा मे राधा-कृष्ण को पति-पत्नी के रूप मे प्रस्तुत किया है

> दुलहिनि दूलह स्यामा स्याम।
> कोक-कला-व्युतपन्न परस्पर, देखत लज्जित काम।
> जा फल को ब्रजनारि कियौ व्रत, सौ फल सबहिनि दीन्हौ।
> मन कामना भई परिपूरन, सबहिनि मानि जु लीन्हो।
>
> सूर स्याम मोहनि मूरति कौ, बार बार उर लावति॥ (1761)

सूरदास के बहुत पहले से भक्ति और काव्य के क्षेत्र मे राधा का परकीया रूप स्वीकृत था, लेकिन सूरदास ने उसे स्वीकार नही किया। सूर ने राधा को स्वकीया के रूप मे ही उपस्थित किया है।

कामिनी

रासलीला से ही राधा का कामिनी रूप प्रकट हुआ है। रास के अनतर श्याम और राधा विलासलीला मे, रसकेलि मे प्रवृत्त होते हैं, दोनो ही कामकला-पटु हैं (पद स० 1762)। कृष्ण अपने पीताबर से राधा के श्रमजल को सुखाते हैं,

स्वेदबिंदुओ को अपने मुख-मारुत से सुखाते हैं (पद स० 1764)। सपूर्ण रास-लीला प्रेम रसपूर्ण लीला है। जलक्रीडा मे कृष्ण राधा के सहज अनावृत सौंदर्य पर मुग्ध हैं। राधा की भीगी लटें वक्षदेश पर बिखरी हुई हैं और उनमे से जल की बूदें चू रही हैं, लटो से स्रवित जल कुचो के मध्य से प्रवाहित हो रहा है (पद स० 1784)। राधा-कृष्ण परस्पर एक दूसरे के सौदर्य पर लुब्ध हैं और यौवन-रस का पान करते हैं। जलक्रीडा मे ही राधा के मनोहर प्राकृत सौंदर्य का वर्णन सूरदास ने किया है

राधे छिरकति छीट छबीली।
कुच कुकुम कचुकि बद छूटै, लटकि रही लट गीली।
बदन सिर ताटक गड पर, रतन जटित मनि नीली।
गति गयद, मृगराज सुकटि पर, सोभित किंकिनि ढीली।
मच्यौ खेल जमुना-जल अतर, प्रेम मुदित रस झीली। (1778)

राधा असाधारण सुदरी हैं और उनका निर्माण विधि ने रूप-रत्नाकर को मथकर उसके सारतत्त्व से किया है, इसलिए कृष्ण इस सौदर्य के वशीभूत है (पद स० 1815)। सखियो के बीच मे राधा गूढ प्रेमिका है। अपने प्रेम को गोपनीय रखना चाहती है, लेकिन चतुरा गोपिया राधा के अनुरागी चित्त की गति जान लेती है।

राधा कृष्ण के प्रेम से परिपूर्ण हैं (पद स० 2463)। उनका मन कृष्ण के अनुराग से भरा है और देहदशा विस्मृत हो गई है। राधा ने लोक-सकोच त्याग दिया है (पद स० 2518)। राधा और कृष्ण दोनो बारह वर्ष के हैं, एक रस-नागर हैं तो दूसरी रसनागरी। राधा यमुना-तट पर कृष्ण की प्रतीक्षा करती है, कृष्ण राधा से मिलते हैं और इस प्रकार दोनो की प्रेमलीला चलती है। दोनो तद्रूप और तद्भाव भावित हैं, राधा कृष्ण के अतर मे स्थित हैं और कृष्ण राधा की आत्मा मे, राधा कृष्ण की आखो मे हैं और कृष्ण राधा की आखो मे बसते हैं (पद स० 2581)। रतिरस निमग्न राधा और कृष्ण को बाहर की सुधि नहीं है (पद स० 2601)। रतिसिद्धा राधा का मनोज्ञ चित्र सूर ने खीचा है। राधा की लटें खुली हुई और मुख पर बिखरी हुई हैं, शरीर पर वस्त्र मलिन हो गए हैं, कुचो पर नई चोली फटी हुई है। अलसाए नैन और अटपटी वाणी बोलती हुई राधा जभाई लेती हुई चली आ रही है।

लटैं उघरारी कहू छूटि-छूटि आनन पै,
भीजी हैं फुलेलनि सो आली हरि सग केलि।
सौधें अरगजा अरु मरगजी सारी अग।
कहू दरकी कुचनि पर अगिया नवेलि।

नैन अरसात अरु बैनहू अपटात,
जाति ऐंडाति गात गोरि बहियानि झेलि।
सूर प्रभु प्यारी प्यारे सग करि रग रास,
अरस परस दोऊ अकम धर्यो है मेलि ॥ (2628)

राधा-कृष्ण की सयोगलीला मे अनेक बार मान और मनुहार के बीच रतिकेलि का आयोजन है। सहज रति के साथ-साथ विपरीत रति का भी वर्णन सूरदास ने किया है। राधा का रसमयी रमणी-रूप अनेकश वर्णित है। यमुना तट पर, हिंडोले पर, वसतोत्सव लीला मे, फाग मे और होली मे राधा कृष्ण की प्रिया के रूप मे चित्रित है।

मानिनी

मानिनी राधा की गौरव-गरिमा स्वकीया की है। राधा कृष्ण के बहुनायकत्व पर क्रोधित होकर मान करती है। मानलीला मे गर्वजनित, भ्रातिजन्य और ईर्ष्या-जनित मान है। लघुमानलीला मे कृष्ण की प्रेमगर्विता राधा ने मान किया। श्रीकृष्ण राधा के दरवाजे से लौट गए तो राधा का मन बेचैन हो उठा। राधा विरह व्याकुल हो गई, सखियो की सहायता से पुन सयोग हुआ। राधा मे अनु-रक्ति का भाव इतना तीव्र है कि मान मे मन स्थिर नही रह पाता, प्रिय का क्षणिक वियोग भी असह्य हो जाता है। बार-बार कृष्ण के बहुनायकत्व ज्ञात होने पर राधा दृढ मान करती हैं। सखियो के प्रयत्न से राधा का मान भग नही होता है तो स्वय श्रीकृष्ण दूती के वेश मे प्रिया के पास मनुहार के लिए पहुच जाते हैं। इस प्रकार मानलीला मे राधा एक गौरवशालिनी स्वकीया के रूप मे सामने आती हैं।

परम वियोगिनी

सयोग मे सूरदास ने राधा के शारीरिक सौदर्य, रूप की आकर्षण शक्ति और मन की क्रियाशीलता का मनोहर वर्णन किया है, लेकिन वियोग चित्रण मे आत्मा की साधना, शक्ति, शील और सुषमा की अभिव्यजना है। राधा की सयोग की यात्रा स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रयाण है, शरीर से मन और मन से आत्मा की ओर। सयोग मे राधा का व्यक्तित्व बहिर्मुखी है, उनके रूप और प्रेम का प्रसार सपूर्ण लोक मे है, लेकिन वियोग मे राधा अतर्मुखी है, कृष्ण के साथ ही सारा लोक उनके मानस मे समाहित हो गया है। सयोग मे वह मुखर, स्वच्छन्द और कलावती हैं, लेकिन वियोग मे शात, गभीर, सयमित और तपस्विनी हैं।

प्रिय के मथुरागमन की सूचना से राधा का अतर व्याकुल है, चित्त उद्विग्न है, किंतु वे मौन हैं। राधा अन्य गोपियो की भाति अपनी विकलता प्रकट नही

कर रही हैं। वियोगिनी राधा को प्राय सूरदास ने मुखर गोपियो से अलग ही रखा है। राधा की विरह-वेदना असीम है, अथाह है और अवर्णनीय है। कृष्ण का योग-सदेश लेकर उद्धव मथुरा से गोकुल की ओर आ रहे हैं। किसी गोपी ने राधा से उद्धव के आगमन की सूचना दी कि कृष्ण के समान रूप-रग का कोई व्यक्ति उसी रथ पर चढकर इधर आ रहा है। (पद स० 4077)। राधा ने समझा कि कृष्ण ही आ रहे हैं तो वह हर्षातिरेक से उत्फुल्ल हो उठी। लेकिन भ्रमरगीत मे राधा को सूरदास ने मौन ही रखा है और वह उद्धव-गोपी-सवाद मे भी भाग नही लेती। राधा कृष्ण के योग-सदेश को सुनकर सहज ही मृतप्राय हो गई, इसलिए राधा की शारीरिक और मानसिक स्थिति वाद-विवाद मे सहयोग करने की नही है। राधा तो आशा के सहारे प्रिय-मिलन तक किसी प्रकार जीवन कायम रखने का प्रयास कर रही है। गोपियो ने उद्धव के समक्ष राधा की विरह विदग्ध मानसिक और शारीरिक दशा का जो चित्र उपस्थित किया है, वह अत्यत कारुणिक है। राधा का रूप मुरझाया हुआ है, उन्होने प्रेम की स्मृति को सुरक्षित रखा है। राधा दाव पर हारे जुआरी की भाति हतप्रभ और किंकतव्यविमूढ है। राधा ने प्रेम के दाव पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया और बदले मे उन्हे वियोग की असह्य वेदना ही मिली। राधा नतमुखी है, उनकी अलके बिखरी हुई है, मुखसरोज कुम्हलाया हुआ है

> अति मलीन वृषभानु कुमारी।
> हरि श्रम-जल भीज्यौ उर अचल, तिहिं लालच न धुवावति सारी।
> अध मुख रहति अनत नहिं चितवति, ज्यो गथ हारे थकित जुवारी।
> छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने, ज्यो नलिनी हिमकर की मारी।
> हरि सदेस सुनि सहज मृतक भइ, इक बिरहिनि, दूजे अलि जारी।
> सूरदास कैसे करि जीवैं, व्रज बनिता बिन स्याम दुखारी॥ (4692)

इस पद मे जिस 'लालच' की चर्चा है वह वियोगकाल मे प्रेमवल्लरी का जीवन रस है। वियोगकाल मे प्रिय से सबद्ध प्रत्येक वस्तु से स्मृति की जो सुगधि प्राप्त होती है वह प्रेमियो के लिए परमकाम्य है और प्रेम को जीवित रखने का एकमात्र सहारा है। वास्तव मे प्राणशक्ति अत्यत कल्पनाशील होती है। सूरदास ने इस पद मे 'ता लालच' के द्वारा प्रेम के स्थायित्व को स्मृति के सहारे कायम रखने की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का उद्घाटन किया है।

उद्धव ने ब्रज से लौटने के बाद कृष्ण के सामने राधा का जो करुण चित्र उपस्थित किया है उससे विरहिणी राधा का अत्यत प्रभावशाली रूप प्रकट हुआ है। उद्धव ने कृष्ण से कहा कि राधा मुझे देखते ही विरह-व्याकुल हो गई, वह विरह-विदग्धा जब मेरे स्वागत के लिए आगे बढी तो उसके हृदय का स्पदन अत्यत क्षीण था, सारा शरीर स्वेदजल से भीगा हुआ और भुजाए गतिहीन थी।

उसके वलय खडित, कचुकी तार-तार और साडी मलिन थी। वह मणिहीन सर्प की भाति निस्तेज और निर्जीव थी (पद स० 4722)। उद्धव ने कहा कि राधा की विरह वेदना असीम है, वह राधा और कृष्ण दोनो रूपो मे विरह-सतप्त है। वह शीतलता चाहती है (पद स० 4724)। परम वियोगिनी राधा के रूप मे तन्मयासक्ति और परमविरहासक्ति की अभिव्यजना है। राधा की तन्मयता तद्रूपता, तदगतप्राणता और तद्भावभाविता मे अनुरक्ति और भक्ति की चरम परिणति है।

कुरुक्षेत्र मे राधा-माधव और राधा-रुक्मिणी मिलन मे राधा का भावात्मक रूप व्यजित है। राधा कुरुक्षेत्र मे कृष्ण से मिलने के लिए उत्सुक है, किंतु उपयुक्त अवसर ही नही आया। निकट होकर भी प्रिय दूर है, इसलिए राधा के नेत्र सजल है, मन व्याकुल है (पद स० 4898)। राधा कृष्ण से मिलने के पूर्व रुक्मिणी से मिली। राधा और रुक्मिणी दोनो समवयस्का है, लगता है दोनो एक बाप की बेटी है और दोनो कृष्ण की प्राणप्रियाए हैं। कुरुक्षेत्र मे राधा और माधव का मिलन केवल प्रिय और प्रिया का ही मिलन है। राधा और माधव दोनो एक ही रग मे रगे हुए हैं—प्रेम के रग मे, दोनो की गति एक-सी है।

पराशक्ति

सूरदास ने राधा के पराशक्ति रूप की ओर भी बार-बार सकेत किया है। राधा कृष्ण की शाश्वत प्रिया हैं, उनका प्रेम पुरातन और सनातन है। राधा जगत-जननी और जगदीशप्रिया है। वे 'सेस, महेस, गनेस, सुक नारद' आदि की स्वामिनी हैं, 'रमा, उमा, सची और अरुधति' आदि से श्रेष्ठ हैं। कृष्ण की भक्ति की उपलब्धि के लिए राधा के चरणो मे अनुरक्ति आवश्यक है, राधा का अनुग्रह अनिवार्य है। राधा भक्तो की स्वामिनी और मगलदायिनी है

सेस, महेस, गनेस, सुकादिक, नारदादि की स्वामिनि।
... ..

सहज माधुरी अग अग प्रति, सुबस किये ब्रज धनी।
अखिल लोक लोकेस विलोकत, सब लोकनि के गनी।
. ...

रमा, उमा, अरु सची, अरुधति, दिन प्रति देखन आवै।
निरखि, कुसुमगन बरषत सुरगन, प्रेम मुदित जस गावै।
रूप-रासि, सुख रासि, राधिके, सील महा गुन रासी।
कृष्न चरन ते पावहिं स्यामा, जे तुव चरन उपासी।
जगनायक, जगदीस-पियारी, जगत्-जननि जगरानी।
नित विहार गोपाललाल सग, वृदावन रजधानी।

अगतिनि की गति, भक्तनि की पति राधा मगलदानी।
असरन-सरनी, भव भय हरनी, वेद, पुरान बखानी।
रसना एक नही सत कोटिक, सोभा अमित अपार।
कृष्न भक्ति दीजै श्रीराधे सूरदास बलिहार। (1673)

लोकजीवन मे प्रादुर्भूत, लोकगीतो के नैसर्गिक परिवेश मे पली और सस्कृत तथा लोकभाषाओ के गीतकाव्य मे विकसित राधा पहले से ही लोकप्रिय थी, लेकिन सूरदास की सघन प्रेमानुभूति की स्वच्छद अभिव्यक्ति से विनिर्मित और शास्त्रीय सगीत की कलात्मकता तथा लोकगीत की सहजता से सुसज्जित राधा का विशुद्ध गीतिकाव्यात्मक चरित्र विशेष रूप से जनजीवन और कला-जगत मे लोकप्रिय हो गया। सूरदास की राधा मे तत्रो की शक्ति और साख्य की प्रकृति के तत्त्व हैं। पुराणो की पराशक्ति, गीतगोविंद की विलासवती प्रगल्भा, गाथासप्तशती की विशालाक्षी आभीर कन्या, नरसी मेहता की रतिरसज्ञा राही, चडीदास की प्रेम उन्मादिनी कानुराई, आलवारो की कृष्णलीला सहचरी नाप्पिन्नाई, तुकाराम की आत्मरूपिणी रखुमाई और विद्यापति की कृष्णकामना मूर्ति 'राधा के सयोग से ही सूर की राधा का स्वरूप निर्मित है, किंतु राधा का अनुरागमयी बालिका, प्रेममयी किशोरी, रसमयी कामिनी और परमवियोगिनी स्वकीया का मनोहर रूप सूरदास की काव्यसाधना और सर्जनात्मक प्रतिभा की मौलिक उपलब्धि है।

सूरदास की राधा का परवर्ती विकास रीतिकाल की कामनामयी राधा के रूप मे हुआ। रीतिकाल मे राधा के व्यक्तित्व के मनसतत्त्व या आत्मतत्त्व की ओर कवियो का ध्यान नही था। रीतिकाल मे राधा के आत्मिक सौंदर्य के लोक-रजनकारी स्वरूप की व्यजना नही हुई, राधा की तनद्युति मे ही कवियो का अनुराग स्थिर था, वही उनके काव्य का विषय और लक्ष्य था। भक्तिकाल का उदात्त आत्मवाद रीतिकाल के मोहक देहवाद मे परिवर्तित हो गया। कवि तन-द्युति के तीव्र आलोक से ही चमत्कृत हो गया, कामिनी की कामकला पर ही लुब्ध और मुग्ध हुआ। रीतिकाल का कवि राधा के मन की गहराइयो का स्पर्श न कर सका, इसलिए वह जनता के मन को भी न छू सका। हिंदी के आधुनिक युग के रचनाकारो और पाठको ने सूरदास की राधा को स्वीकार किया है, रीति-काल की राधा को नही।

गोपिया

गोपियो के चरित्र-निर्माण मे सूरदास की वैष्णव भावना, प्रेमानुभूति और सृजन की नवीन दृष्टि का सतुलित स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है। सूरदास ने गोपियो के चरित्र का विकास दो स्तरो पर किया है (1) गोपियो का सामूहिक शील, और (2) व्यक्तिगत शील। सूरदास की सारी गोपियो का शील भाव के स्तर

पर एक-सा है, वे एक व्यक्ति के रूप मे दिखाई पडती हैं। लेकिन उनमे अनेक प्रकृति की गोपिया हैं, जिनकी पृथक-पृथक सत्ता भी है। व्यक्तित्व और आचरण सबधी गोपियो की अपनी-अपनी विशेषताए हैं। अनेक गोपिया अपने पृथक नाम, रूप, अवस्था, परिस्थिति, भावप्रवणता और आचरण के कारण अपना स्वतत्र व्यक्तित्व रखती हैं। कुछ अनाम होकर भी स्वतत्र रूप, अत प्रकृति और आचरण की गोपिया हैं। भाव के स्तर पर सभी गोपिया राधा की तरह ही है, लेकिन व्यक्तित्व के स्तर पर उनकी पृथकता और निजत्व स्थापित है। यह ठीक है कि प्रत्येक गोपी का स्वतत्र व्यक्तित्व विकसित नहीं हुआ है, लेकिन चद्रावली, ललिता, प्रमुदा और शीला आदि अनेक गोपिया अपने रूप-माधुर्य, भाव स्निग्धता और शील वैचित्र्य के कारण सहृदय के मानस पर अपने स्वतत्र व्यक्तित्व की एक तीव्र ज्योतिरेखा डालने मे समर्थ हो जाती हैं। सहृदय पाठक के मानस पर उनके व्यक्तित्व का कोई पूर्ण चित्र नही बन पाता है, लेकिन एक ऐसा खडचित्र अवश्य बन जाता है, जो शीघ्र मिट नही सकता।

गोपिया दो प्रकार की हैं—एक स्नेहशीला और दूसरी अनुरागवती। ब्रज की वयस्क गोपिया सब की सब स्नेहशीला हैं, श्रीकृष्ण के प्रति उनके हृदय मे ममता है, वात्सल्य है। कृष्ण के जन्म से ही इन गोपियो का चित्त उल्लसित और आनदमय है। ऐसी सभी गोपिया जन्मोत्सव मे भाग लेती हैं, मगलगीत गाती हैं, कृष्ण का दर्शन करती हैं और आशीर्वाद भी देती है। ऐसी गोपिकाए कृष्ण की बाललीलाओ से हर्षित होती हैं। ये गोपिया यशोदा के साथ वात्सल्यानुभूति करती हैं।

अनुरागवती गोपिया भी दो प्रकार की हैं—(क) किशोरी कुमारिया और (ख) प्रौढ़ा ब्रजागनाए। कुमारियो मे इद्रियासक्ति और इद्रिय सवेदनशीलता अधिक है, लेकिन प्रौढाओ की अनुरक्ति स्थिर और अपेक्षाकृत शात है। प्रौढाए प्राय परकीया रूप मे चित्रित हैं, इनका प्रेम गुप्त है। माखनचोरी मे प्रौढाओ का अनुराग विकसित हुआ है। गोपिया माखनचोरी के समय कृष्ण का आलिगन करती हैं और अपना प्रेम प्रकट करती हैं। एक गोपी यह कामना करती है कि कृष्ण उसके घर पर माखनचोरी के लिए आए तो कृष्ण उसके घर पहुच जाते हैं, माखनचोरी करते हैं। गोपी का रोम-रोम पुलकित होता है और वह प्रेम आप्लावित हो जाती है (पद स० 882)। एक दूसरी प्रौढा गोपी ने कृष्ण को अपने घर मे देखकर प्रगाढ आलिगन किया (पद स० 893)। दही-मथन मे रत एक गोपी का चित्रात्मक वर्णन सूरदास ने किया है—वह यौवन-मदमस्त है, उसकी वेणी कटि तक लहरा रही है, गौर शरीर, अल्प आयु और उसका स्वभाव भोला है। वह दोनो हाथो से जब मथानी की रस्सी खींचती है तो उसके अग-प्रत्यग गतिमान हो जाते हैं। कृष्ण उस गोपी के सौंदर्य पर मुग्ध हैं (पद स० 918)। कृष्ण

उस ग्वालिनी के घर मे घुस गए, गोपी ने कृष्ण का आलिंगन किया तो कृष्ण बारह वर्ष के बन गए (पद स० 919)। इस प्रकार बाललीला मे जो भावती-लीला की योजना सूर ने की है, उसमे प्राय प्रौढा ब्रजागनाओ का प्रेम प्रकट हुआ है। ऐसी गोपिया यशोदा से कृष्ण की माखनचोरी की ऊपरी मन से शिकायत करती हैं, किंतु अतर्मन मे अनुराग दृढतर होता जाता है। किशोरी कुमारियो मे प्रेम का वेग प्रबल है। चीरहरणलीला मे कुमारियो का प्रेम पुष्ट हुआ है। कुमारी गोपिया कृष्ण के सौदर्य पर आसक्त हैं और आकृष्ट भी। ऐसी गोपिया कृष्ण को पति के रूप मे प्राप्त करने के लिए शिव की पूजा करती हैं और चीरहरणलीला मे कृष्ण उनकी मनोकामना पूरी करते हैं।

पनघटलीला, दानलीला और रासलीला मे दोनो प्रकार की गोपिया प्रेमलीला मे साथ-साथ भाग लेती हैं और कृष्ण का प्रेम पाकर मस्त, उन्मत्त और प्रेममय हो जाती हैं। पुराणो मे गोपियो के अनेक नामो की चर्चा है। पद्मपुराण की प्रमुख गोपिया हैं—राधा, ललिता, श्यामला, धन्या, हरिप्रिया, विशाखा, शैव्या, पच्चा, भद्रा, चद्रावती, चद्रावली, चित्ररेखा, चद्रा, मदनसुदरी, प्रिया, मधुमती आदि। ब्रह्मवैवर्त पुराण की गोपिया हैं—सुशीला, चद्रमुखी, माधवी, कदबमाला, कुती, यमुना, सर्वमगला, पद्ममुखी, सावित्री, पारिजाता, जाह्नवी, सुधामुखी, शुभा, पद्मा, गौरी, स्वयप्रभा, कलिका, कमला, दुर्गा, सरस्वती, भारती, अपर्णा, रति, गगा, अबिका, कृष्णप्रिया, चपा, चदननदिनी, शशिकला, मगला, सती, नदिनी, सुदरी, कृष्णप्राण, मधुमती, चद्रना[22]। भविष्येतर पुराण तथा भक्तिरसामृतसिंधु मे भी गोपियो के नाम की लबी सूचिया है। सूरदास ने भी राधा की सखियो के रूप मे अनेक गोपियो का नामोल्लेख किया है

> कहि राधा किन हार चुरायौ।
> ब्रज जुवतिनि सबहिन मैं जानति, लै लै नाम बतायौ।
> स्यामा, कामा, चतुरा, नवला, प्रमदा, सुमदा नारि।
> सुखमा, सीला, अवधा, नदा, वृदा, जमुना सारि।
> कमला, तारा, विमला, चदा, चद्रावलि सुकुमारि।
> अमला, अवला, कजा, मुकुता, रीरा, नीला प्यारि।
> सुमना, बहुला, चपा, जुहिला, ज्ञाना, भाना भाउ।
> प्रेमा, दामा, रूपा, हसा, रगा, हरषा जाउ।
> दुर्वा, रभा, कृष्ना, ध्याना, मैना, नैना रूप।
> रत्ना, कुसुमा, मोहा, करुना, ललना, लोभाऽनूप। (2626)

सूरदास ने अनेक गोपियो के नाम पुराणो से ही लिए हैं, लेकिन कुछ नाम सूर-सागर के अपने हैं, जो पुराणो मे नही हैं। सूरदास ने खडिता प्रकरण मे और बसतलीला मे ललिता, शीला, चद्रावली, सुखमा, वृदा, प्रमुदा तथा कुमुदा आदि

के प्रेम वैशिष्ट्य का वर्णन किया है। ये सभी गोपिया कृष्ण से प्रेम करती हैं और प्रेमभाव के स्तर पर समान दिखाई देती हैं, फिर भी इनके शील की स्वतत्र रूप-रेखाए निर्मित है।

गोपिया प्रेम-प्रतीक हैं। सभी गोपिया कृष्ण के प्रेमरग मे डूबी हुई है। उन्होने लोक तथा वेद की मर्यादाओ का पूर्णत तिरस्कार कर दिया है। सूर की गोपियो मे ग्रामीण जीवन की सरलता, सहजता और अल्हडता है। प्रेम मे उन्मत्त गोपियो का मन किसी प्रकार की मर्यादा और सीमा का कायल नही है। गोपियो ने अपना सर्वस्व कृष्ण को अर्पित कर दिया है। कृष्ण की सुखाकाक्षा ही उनके जीवन का लक्ष्य है, कृष्ण की तृप्ति मे ही उनकी सतुष्टि है। गोपियो के प्रेम की यह विचित्रता है कि उनमे परस्पर ईर्ष्या का अभाव है, सभी गोपिया परस्पर सयुक्त रूप से कृष्ण की सयोगलीला मे भाग लेती हैं और सभी राधा-कृष्ण की सयोग-लीला मे सखी और दूती के रूप मे सहायता भी करती है। कृष्ण और गोपियो का प्रेम लोकोत्तर है।

गोपिया प्रेम-प्रतिमाए हैं। उनका प्रेम स्वच्छद है, विधि-निषेध से परे और बाधाबधन से मुक्त है। गोपिया स्वभावत पक्षियो की भाति स्वच्छद हैं। प्रकृति के उन्मुक्त परिवेश मे उनकी प्रेमलीला चलती है इसलिए उनका प्रेम भी सहज, प्राकृत तथा बधनमुक्त है। गोपियो के प्रेम के उद्दाम भाववेग मे लोक और वेद की मर्यादा का बाध ध्वस्त होकर बह जाता है। गोपिया प्रेम मे केवल अपने मन की गति और प्रिय की इच्छा को ही महत्त्व देती हैं, शेष प्रत्येक प्रकार के बाहरी प्रतिबधो का तिरस्कार करती हैं। गोपिया जानती हैं कि उनके लिए कृष्ण का प्रेम ही विश्व मे एकमात्र सत्य है। गोपीचरित्र सौदर्य, प्रेम और आनद की शाश्वत कथा है। सागर और सरिता की भाति कृष्ण और गोपियो का मिलन निर्बंध और निस्सीम है। गोपियो का मन कृष्ण मे लगा है, तन की सुधि नही है, फिर लोक की चिंता कौन करे। गोपिया कृष्ण के प्रेम के कारण उत्पन्न होनेवाले यश-अपयश से भयभीत नही है। प्रेमपुलकित गोपियो की स्वच्छद प्रेमलीला की अभिव्यजना झूलन और वसतलीला मे हुई है। गोपिया फाग मे सज-धजकर कृष्ण के साथ होली खेलती हैं। ब्रज की होली प्रसिद्ध है। आज भी ब्रजवासी स्त्री-पुरुष स्वच्छद भाव से होली खेलते हैं। सूरदास ने अपने समय के जनजीवन मे प्रचलित वसतोत्सव को ही कृष्ण और गोपियो के वसतोत्सव के रूप मे उपस्थित किया है। यह लोकजीवन के यथार्थ की कलात्मक अभिव्यक्ति है। फाग खेलने मे गोपियो का बाह्याभ्यतर रागरजित दिखाई पडता है। इस होली मे मदमाती रगराची, बावरी तथा यौवनगर्वीली गोपियो की स्वच्छद प्रकृति का सूरदास ने वर्णन किया है।

गोपियो के शील और आचरण मे रागानुरागा भक्ति का चरम उत्कर्ष

दिखाई पडता है। सभी गोपियो मे कृष्ण के प्रति आसक्ति है। स्नेहशीला गोपियों मे वात्सल्यासक्ति है, कुमारियो मे कातासक्ति, ब्रजागनाओ मे तन्मयासक्ति और कृष्ण के मथुरा-प्रवासकाल मे सभी गोपियो मे परम विरहासक्ति का उत्कर्ष दिखाई पडता है। गोपियो के चरित्र की आध्यात्मिक व्याख्याए भी हुई हैं। कहा जाता है कि प्रतीकात्मक अर्थ मे कृष्ण आत्मा हैं तथा गोपिया उनकी विभिन्न वृत्तिया हैं। सूरदास ने गोपियो को भागवत की भाति ही श्रुतिरूपा कहा है। श्रुतिया दो प्रकार की हैं—अनन्यपरा और अन्यपरा। अनन्यपरा श्रुतिया वे हैं जो साक्षात रूप से ब्रह्म से पर्यवसित होती हैं। अन्यपरा श्रुतिया वे हैं जिनका तात्पर्य तो प्रत्यक्षत अन्य देवताओ से है, किंतु परपरा से उनका तात्पर्य और अतर्निहित तात्पर्य परब्रह्म से ही होता है। श्रुतियो की भाति ही गोपिया भी दो प्रकार की हैं—अनन्यपरा और अन्यपरा। अनन्यपरा गोपिया कुमारिया हैं, जो कृष्ण को पति के रूप मे प्राप्त करने के लिए शिव आदि की प्रार्थना करती हैं और अन्यपरा गोपिया ब्रजागनाए हैं, उनका परकीया-रूप मे वर्णन हुआ है। यद्यपि सूरदास ने गोपियो को श्रुतिरूपा कहा है किंतु उन्होने गोपियो के चरित्र-निर्माण मे भागवतादि पुराणो तथा वैष्णव आलकारिको से स्वतत्र दृष्टिकोण से काम लिया है। भागवत की गोपिया व्यक्ति न होकर प्रतीक ही प्रतीत होती हैं, किंतु सूरसागर की गोपियो मे वैयक्तिकता है और उनका मानवीय रूप अभिव्यक्त है। गोपियो के शील-निरूपण मे मानवीयता और अलौकिकता का समन्वय सूर की प्रतिभा की देन है।

गोपियो के जीवन मे प्रेम का सुख अल्पकालिक है, किंतु प्रेम की वेदना असीम है। कृष्ण से वियुक्त विरहिणी गोपियो की कथा को सूर ने अधिक मनोयोगपूर्वक गाया है। गोपिया कृष्ण के साथ गोकुल मे सयोग के आनद-सागर मे अवगाहन कर रही थी कि इसी बीच वियोग का दारुण समाचार मिला। जीवन के इस असभावित परिवर्तन ने उन्हे असीम विरहाग्नि मे झुलसने के लिए छोड दिया। गोपिया कृष्ण के मथुरा जाने की खबर से हतप्रभ और चित्रवत खडी हैं। वे कृष्ण के वियोग की आशका से अत्यत व्याकुल हैं। गोपियो को शका है कि कृष्ण के चले जाने के बाद क्या वे जीवित रह सकेंगी (पद स 3583)। गोपिया सोचती हैं कि जिसके एक क्षण का वियोग असह्य था, क्या उसका दीर्घकालीन वियोग सहनशक्ति के बूते की बात है ? कृष्ण अक्रूर के साथ मथुरा चले गए और गोपिया देखती ही रह गईं।

गोपियो को आशा थी कि कृष्ण उनके बचपन के प्रेम को इतना शीघ्र नही भूल जाएगे और किसी न किसी दिन लौटकर आएगे। लेकिन उद्धव के ब्रजागमन के बाद उनकी रही-सही आशा भी समाप्त हो गई। उद्धव ने ब्रज मे गोपियो को योग का सदेश दिया। सीधे-सरल प्रेममार्ग पर चलने वाली गोपिया ज्ञान और

योग की दुर्गम घाटियो मे प्रवेश करना नही चाहती है। गोपियो की वाक्पटुता, विनोदप्रियता और अनन्य प्रेमभक्ति का परिचय भ्रमरगीत मे मिलता है। गोपिया उद्धव से बार-बार यही कहती हैं कि हमारा और कृष्ण का प्रेम चार दिन का नही है, वह तो बचपन का प्रेम है, वह भला कैसे टूट सकता है (पद स 4000)। गोपियो के हृदय मे कृष्ण के बालसाहचर्यगत प्रेम की जड इतनी गहराई तक पहुच गई है कि वे उसे उखाडकर फेंक नही सकती। गोपियो का सपूर्ण व्यक्तित्व कृष्णमय हो गया है, इसलिए कृष्ण से उनका अलगाव असभव है। उद्धव-गोपी-सवाद मे उद्धव के तर्क शास्त्रीय है, जबकि गोपियो के तर्क मे प्रेम का पुट और ग्रामीण भाषा की सहजता है। गोपियो ने उद्धव के सामने तर्कातीत तक रखा, जो ऊपर से सरल दिखाई पडता है किंतु भीतर से गूढ और शास्त्रसम्मत भी है। गोपियो के तर्क का आधार है उनका मन, मन की भावनाए। गोपिया अपने मन के भावो को महत्त्व देती है, किसी बाहरी आदेश, उपदेश और साधना को नही। गोपिया बार-बार उद्धव से अपने मन की बात कहती हैं। उनका मन जिस बात को नही मानता, उसे वे मानने से इनकार करती है। गोपियो की ओर से उद्धव के योग तथा ज्ञान के उपदेश का एक ही उत्तर है—'ऊधो मन माने की बात।' यह मन माने की बात मनमानी बात भी है और मानसिक स्वीकृति की बात भी। साथ ही उद्धव को यह भी सकेत है कि आप जिस योग की बात कर रहे हैं, उसका मूल उपादान चित या मन ही है, जो हमारे पास नही है, वह कृष्ण के पास है, इसलिए आपका योग बहुमूल्य होकर भी हमारे लिए निरर्थक ही है। गोपियो का प्रेम नि स्वार्थ है। उनकी कामना है कि कृष्ण जहा रहे सुख से रहे, चिरजीवी हो, लेकिन अपने हृदय मे हम लोगो को स्थान दें, हमारे प्रेम को तोडें नही। मथुरा से कृष्ण जब द्वारिका चले गए तो कृष्ण से सयोग की आशा ही मर गई। कुरुक्षेत्र मे कृष्ण ने गोपियो का शरीर छूकर प्रतिज्ञापूर्वक कहा, 'मैं चाहू तब भी गोकुल की लीला, गोपियो का प्रेम मेरे हृदय से दूर नही हो सकता।' कुरुक्षेत्र मे गोपिया कृष्ण के इस सयोग से सतुष्ट नही है क्योकि गोपिया द्विभुजी मानव कृष्ण से प्रेम करती थी और कुरुक्षेत्र मे कृष्ण का चतुर्भुज रूप दिखाई पडता है।

गोपियो के व्यक्तित्व और व्यवहार के माध्यम से सूरदास ने योग, ज्ञान और निर्गुण साधना के ऊपर भावाश्रित भक्ति को प्रतिष्ठित किया है, मानवीय भावो और वृत्तियो के दमन के बदले सहज जीवन और जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियो को महत्त्व दिया है। सूरदास मानवीय भावो के विकास को कुठित करने वाली हर बात का विरोध करते हैं और मानवीय भावो की सहज अभिव्यक्ति को सभव बनाने वाली हर बात का समर्थन करते है। सूरदास मानव जीवन की सहजता, स्वतत्रता, विविधता और पूर्णता के गायक हैं। गोपियो के व्यक्तित्व और व्यवहार

से मानवीय प्रेम की सहजता, स्वच्छदता और उदात्तता सिद्ध होती है, इसलिए गोपियो से सूर की गहरी सहानुभूति है। गोपियो से सूर की जितनी सहानुभूति सयोग के सुख की अवस्था मे है, उससे अधिक वियोग के दुख की दशा मे है। यह कवि की गहरी मानवीय सवेदनशीलता का प्रमाण है। सूर की गोपियो का मानवीय रूप ही सार्थक है, उन्हे आध्यात्मिक प्रतीक मानना उनकी मानवीय सार्थकता को कम करना है।

यशोदा

यशोदा के शील-निरूपण मे सूरदास की सघन वात्सल्यासक्ति की अभिव्यक्ति हुई है। यशोदा ममता की मूर्ति हैं, उनमे मातत्व का चरम उत्कर्ष है। यशोदा का मातृत्व दिक्काल निरपेक्ष है, विश्वजनीन है। यशोदा के व्यक्तित्व मे अतीत, वर्तमान और भविष्य की माताओ का स्नेहशील हृदय समाहृत है, प्रतिबिबित है। यशोदा का मातृ हृदय मा की आशा, आकाक्षा, प्रेम, करुणा, ममता, माया, आनद एव वेदना की समस्त सभावनाओ तथा उपलब्धियो का अक्षय कोष है। यशोदा के व्यक्तित्व मे मातृत्व का सार्वभौम और शाश्वत स्वरूप सहज ही उद्भासित हो गया है।

यशोदा को जीवन के उत्तरार्ध मे पुत्ररत्न की उपलब्धि हुई है। यह दीर्घकालीन तपस्या का फल है, इसलिए कृष्ण यशोदा के असीम आनद और अनत ममता के आलबन हैं। यशोदा ने बालक कृष्ण के अभिराम मुख का प्रथम दर्शन किया तो आनदातिरेक से हृदय आप्लावित हो गया, वाणी अवरुद्ध हो गई। यशोदा इस पुत्र-सुख को अपने तक सीमित नही रखती। उन्होने नद को बुलाकर कहा कि देवताओ की कृपा से पुत्र प्राप्ति हुई है, इसलिए तुम पुत्र का मुख-दर्शन कर आनद-लाभ करो (पद स 631)। इसमे यशोदा की आस्तिक भावना तथा आदर्श पत्नीरूप की अभिव्यक्ति है। पति-पत्नी नद-यशोदा इस आनद-सागर मे साथ-साथ अवगाहन कर रहे है, दोनो खुशी मे सब कुछ लुटा देना चाहते हैं। वास्तव मे उनको आज जो प्राप्त हुआ है, उसके आगे शेष सारी दुनिया मूल्यहीन है, तुच्छ है। यशोदा ब्रज की सपूर्ण नारियो को इस आनदोत्सव मे ससम्मान आमन्त्रित करती हैं, इसमे यशोदा की उदारता और विनयशीलता प्रकट होती है। यशोदा कृष्ण के लिए पालना मगाती है, उसमे कृष्ण को झुलाती है, गीत गाती है और आनदमग्न है (पद स 661)। यशोदा अत्यत सरल हृदय की हैं। उन्हे किसी के कपट की आशका ही नही होती। यशोदा के सरल हृदय का ही यह परिणाम है कि वे कृष्ण के अलौकिक कार्यों पर क्षणिक आश्चर्य प्रकट कर पुन कृष्ण की मानवीय क्रीडाओ मे मग्न हो जाती हैं। यशोदा के चरित्र की यह विशेषता सूर की नवीन रचनादृष्टि का फल है, जिससे यशोदा के मातृत्व के साथ सामान्य

मातृत्व का भावात्मक स्तर पर तादात्म्य सभव हो पाता है।

पुत्र के विकास के साथ ही माता की कामनाओ का भी विकास होता है। यशोदा सोचती हैं कि कब कृष्ण घुटनो से चलेंगे, पैरो के बल खडे होगे, कब उनके दूध के दात उगेंगे और कब मैं उनकी मधुर वाणी का रसास्वादन करूगी (पद स 694)। यशोदा कृष्ण के प्रसन्न मुख को देखकर सारी चिंताओ को भूल जाती है। नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाठ, कर्णछेदन आदि सस्कारो मे यशोदा का गृहिणीरूप अभिव्यक्त है। यशोदा कृष्ण की बालछवि पर मुग्ध हैं। बच्चे माता-पिता के मनोहर खिलौने ही हैं। बालक्रीडा मे कृष्ण यशोदा और नद के खिलौने बन गए हैं (पद स 716)। यशोदा कृष्ण को चलना सिखाती है तो नद भी कृष्ण की उगली पकडकर चलना सिखाते हैं। यशोदा और नद दोनो साथ-साथ गार्हस्थ्य जीवन का आनद लाभ करते हैं। कृष्ण कुछ बडे हो गए तो स्फुट वाणी बोलने लगे, यशोदा को मैया, नद को बाबा और बलराम को भैया कहने लगे। यशोदा कृष्ण को बार-बार समझाती हैं कि तुम दूर खेलने मत जाओ अन्यथा किसी की गाय मार देगी (पद स 773)। अत्यत स्नेह से अहित की आशका उत्पन्न होती है। यशोदा कृष्ण के सोने, जागने, उठने, बैठने और खेलने का सदैव ध्यान रखती हैं। कृष्ण जिसकी गोद मे हो, उसके चित्त से क्या वे कभी दूर हो सकते है?

माखनचोरी मे यशोदा का स्नेहस्निग्ध किंतु क्रोधी रूप व्यक्त है। कृष्ण सखाओ के साथ ब्रज मे माखनचोरी करते हैं, गोपियो के साथ छेडछाड करते हैं और गोपिया बार-बार यशोदा से कृष्ण की शिकायत करती है। माता का हृदय पुत्र को कभी दोषी मानने को तैयार ही नही है। यशोदा बार-बार यही कहती हैं कि गोपिया झूठ बोलती हैं, हमारा बालक जो घर पर माखनभरी कमोरी मे उगली तक नही डालता, वह दूसरो के घर चोरी करने क्यो जाता होगा? यशोदा ने कृष्ण को भी डाटा। गोपियो की बार-बार की शिकायत से तग आकर यशोदा ने एक दिन कृष्ण को ऊखल मे बाध ही दिया और हाथ मे 'सटिया' लेकर मारने दौडी। लेकिन थोडी देर बाद कृष्ण के करुण रूप को देखकर उनका हृदय दयार्द्र हो गया। इस प्रकार यशोदा ममता की मूर्ति दिखाई पडती हैं।

गोचारण मे पुत्र के अनिष्ट की आशका से आकुल हृदय की दुर्बलता व्यक्त हुई है। कालीदमन लीला मे मातृ हृदय की ममता प्रकट है। राधा-कृष्ण प्रसग मे यशोदा के उदार चित्त, सवेदनशील मानस एव स्नेहिल हृदय की अभिव्यक्ति हुई है। यशोदा राधा-कृष्ण की प्रेमलीला को जानकर भी अनजान बन जाती है। कृष्ण के शरीर पर राधा की साडी देखकर आश्चर्य प्रकट करती हैं, किंतु शीघ्र ही कृष्ण के भुलावे मे आ जाती है। यशोदा राधा का अपने घर पर शृगार करती हैं और राधा-कृष्ण की भली जोडी को पसद करती हैं। कृष्ण-गोपी प्रेमलीला मे

यशोदा यह विश्वास ही नहीं करती कि उनका बालक कृष्ण गोपियो के साथ प्रेम-लीला करता होगा। यशोदा का हृदय विशाल और गभीर है, उसमे राधा और सभी गोपियो के लिए स्नेह, सौहार्द्र और शुभकामना है। गोवर्धन-पूजा मे यशोदा एक आदर्श गृहिणी के रूप मे सामने आती हैं। वे नद को इद्र की पूजा के लिए प्रेरित करती हैं। इस प्रकार वात्सल्य के सयोग पक्ष मे यशोदा के उदार चित्त और आनदमग्न हृदय का चित्रण हुआ है।

कृष्ण के मथुरागमन के पश्चात यशोदा एक दुखी जननी के रूप मे दिखाई पडती हैं। यशोदा कृष्ण के मथुरा जाने की खबर सुनकर ही बेचैन हैं। वे बार-बार ब्रजवासियो से कृष्ण को रोकने की प्रार्थना करती हैं। यशोदा का विचार है कि मथुरा मे अनेक राक्षस हैं, इसलिए वहा कृष्ण के जाने मे अनिष्ट की आशका है। अक्रूर यशोदा को क्रूर ही दिखाई देते हैं। यशोदा स्वय कृष्ण से मथुरा न जाने के लिए बार-बार विनय करती है।

व्याकुल चित्त, निराश मन और व्यथित हृदय लेकर जब नद कृष्ण को मथुरा मे छोडकर ब्रज लौटते हैं तो यशोदा का मातृ हृदय विह्वल हो उठता है। यशोदा बार-बार नद को कोसती हैं कि तुम कृष्ण के बिना मथुरा से कैसे लौट आए? यशोदा नद पर व्यग्य करती हैं। कहती हैं 'तुम्हारी वात्सल्यानुभूति दशरथ की भाति तीव्र नही है (पद स 3750)। तुमने दौडकर कृष्ण का चरण क्यो नही पकड लिया।' वेदना के आधिक्य से यशोदा बार-बार मूर्च्छित हो जाती हैं। यशोदा और नद कृष्ण की बाललीलाओ की स्मृति मे ही अपना जीवन बिताते हैं। कृष्ण की बाललीलाओ की स्मृति से बार-बार यशोदा का मातृ हृदय विह्वल और विकल हो जाता है। कृष्ण के वियोग मे यशोदा की वेदना दीनता मे बदल गई है। यशोदा अब मा की अधिकारी स्थिति से धाय की दीन स्थिति को स्वीकार करती है। यशोदा को तो कृष्ण का सपर्क और सान्निध्य चाहिए, मा या धाय कुछ भी बनकर।

वियोगकाल मे प्रिय के गुण और दोषो का बार-बार खयाल आता है। इस वियोगकाल मे ही व्यक्ति को अपने दोष भी दिखाई पडते हैं। यशोदा कृष्ण की ब्रजलीलाओ के समय के अपने व्यवहारो पर पश्चाताप करती हैं। यशोदा के निस्सीम, नि स्वार्थ वात्सल्य और दीनता की पराकाष्ठा वहा दिखाई पडती है जब यशोदा देवकी के पास यह सदेश भेजती हैं कि मैं तुम्हारे पुत्र की धाय मात्र हू। यशोदा अत्यत विनय और दीनता के साथ देवकी को कृष्ण के खाने-नहाने की आदतो के विषय मे बताती हैं। यशोदा को इस बात की सर्वाधिक चिंता है कि कृष्ण खाने-पीने मे मथुरा मे सकोच करते होगे (पद स 3794)।

उद्धव के ब्रज आने पर यशोदा को भी अन्य गोपियो की तरह यह भ्रम हो गया कि कृष्ण ही आ रहे हैं। कितनी सुखद होगी वह भ्रम की मनोदशा? यशोदा

का हृदय कृष्ण के आगमन की सूचना से आनद से भर आता है। उद्धव के मथुरा लौटते समय यशोदा ने जो संदेश दिया उसमे मातृ हृदय की अथाह गहराई अभिव्यजित हुई है। यशोदा का सदेश है कि आखो से दूर होते ही कृष्ण ने अपने माता-पिता को हृदय से दूर कर दिया। 'मैं कृष्ण के ब्रज लौटने की आशा मे जीवित हू।' माता सदा पुत्र की मगलकामना करती है, उसका प्रेम त्यागमय है। माता पुत्र से अपने कृत्यो का प्रतिदान नही मागती। यशोदा ने उद्धव से कृष्ण के लिए आशीर्वाद भेजा और कहा कि कृष्ण जहा रहे, सुखी रहे और करोडो वर्ष जीए।

यशोदा के शील-निरूपण के सबध मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह मत सत्य है कि 'सूरदास जहा पुत्रवती जननी के प्रेमपेलव हृदय को छूने मे समर्थ हुए हैं, वहीं वियोगिनी माता के करुण विगलित हृदय को भी उसी सतर्कता से छू सके हैं।'[23] सयोग में ममतामयी स्नेहशीला मा के हृदय मे आनद का सागर तरगायित होता हुआ दिखाई पडता है और वियोग मे दु खसागर मे डूबती हुई दीन, उदास, दुःखी जननी का करुण चित्र। यशोदा सूरदास की सृजनशक्ति की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हैं।

सूरसागर मे पुरुष और स्त्री दोनो के स्वभाव और शील का निरूपण है। पुरुष पात्रो में केवल कृष्ण का ही व्यक्तित्व मानवीय, अतिमानवीय और अलौकिक स्तरों पर अपनी संपूर्णता मे उद्घाटित है। बलराम, नद, वसुदेव, उद्धव, अक्रूर, तथा कस आदि का चरित्र विशेष मुखर नहीं हो पाया है। सूरसागर मे स्त्री पात्रो की प्रधानता है। इसमे नारी के अनेक रूपो का व्यापक चित्रण है। सूरसागर मे आदर्श गृहिणी, माता, पुत्री, बालिका, किशोरी, प्रेमिका और पत्नी आदि के यथार्थ और सभावित रूपो की अभिव्यक्ति हुई है। नारी के विभिन्न रूप, स्वभाव और व्यवहार का जैसा विशद चित्रण सूरसागर मे हुआ है वैसा हिंदी साहित्य मे अन्यत्र बहुत कम दिखाई देता है। यही कारण है कि कुछ लोग सूरसागर को स्त्री-चरित्रप्रधान काव्य मानते हैं।

किसी रचनाकार की सृजनशीलता का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष अविस्मरणीय मानव चरित्रो का निर्माण भी है। जिन रचनाओ के मानव चरित्र जातीय स्मृति और व्यापक मानवता की स्मृति के अविभाज्य अग बन गए हैं, वे कृतिया कालजयी बन गई हैं। सूरदास की रचनाशीलता के कालजयीपन का एक कारण कृष्ण, राधा और यशोदा के अविस्मरणीय चरित्रो की रचना भी है। प्रत्येक रचना मे निर्मित मानव चरित्र अपने समय और समाज के मनुष्य की वास्तविकता और सभावना के प्रतिनिधि होते हैं। सूरदास द्वारा निर्मित मानव चरित्र भी ऐसे ही हैं। मानव समाज और मानव चेतना के इतिहास मे परिवर्तनो के बीच से विकसित होने वाली निरतरता मे इतिहास के सार्थक तत्त्वो की रक्षा होती है। जिन

मानव चरित्रो मे अपने समय और समाज के व्यापक मानवसत्य की अभिव्यक्ति होती है, वे चरित्र मानव समाज और मानव चेतना के इतिहास की निरतरता मे जीवित रहते हैं। सूरदास के कृष्ण, राधा और यशोदा के चरित्रो मे कालबद्ध मनुष्य और कालातीत मनुष्यता की जो एकता है, उसमें व्यक्त मानवसत्य आज के मनुष्य को भी प्रभावित करता है, उसकी मनुष्यता के विकास मे सार्थक सिद्ध होता है।

सूरदास जिस सामती समाज मे रचना कर रहे थे, उसमे मनुष्य से अधिक व्यवस्था के बधनो का महत्त्व था। उनकी रचना मे सामती व्यवस्था के बधनो से मुक्त मनुष्य या सामती व्यवस्था के बधनो से मुक्ति के लिए बेचैन मनुष्य का चरित्र उभरता है। वे अपनी रचना मे सामती व्यवस्था के बधनो को तोडते हुए स्त्री पुरुष के प्रेमसबध के सत्य को अभिव्यक्त करते हैं। इसमे सूरदास का सामत-वाद विरोधी और मानववादी दृष्टिकोण प्रकट हुआ है। सूरदास की राधा और गोपियो का चरित्र मनुष्यविरोधी व्यवस्था के बीच मनुष्यता की रक्षा के प्रयत्न का साक्षी है। सार्थक मानव चरित्रो का निर्माण मानववादी दृष्टिकोण का रचनाकार ही कर सकता है। ऐसे रचनाकार की रचनादृष्टि का लक्ष्य मनुष्य होता है, मनुष्य का अतर्जगत और बाह्यजगत होता है। ऐसा रचनाकार मानव चरित्रो के माध्यम से ही सामाजिक यथार्थ की अभिव्यजना करता है। सूरदास का रचना ससार विभिन्न मानव चरित्रो के भावो और कर्मों से निर्मित ससार है, वे इन चरित्रो के माध्यम से ही अपने समाज की वास्तविकता, चेतना और आकाक्षा की अभिव्यक्ति करते हैं। पूजीवादी व्यवस्था के अमानवीकरण के प्रभाव के कारण आजकल साहित्य मे सार्थक मानव चरित्रो के निर्माण को पुरानेपन का लक्षण मानकर उसकी उपेक्षा हो रही है। सूरसाहित्य के मानव चरित्रो के प्रभाव-शाली चित्र आज की मानवविरोधी प्रवृत्तियो से मानवीयता की रक्षा का दायित्व-बोध जगाने मे समर्थ हैं। आज के जमाने मे सूरसाहित्य की सार्थकता का एक आयाम यह भी है।

सदर्भ

1 राहुल साकृत्यायन, 'दर्शन दिग्दर्शन', इलाहाबाद, 1961, पृ 416

2 हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'पोद्दार अभिनदन ग्रथ', (मथुरा, सवत 2010) पृ 635

3 राहुल साकृत्यायन, 'दर्शन दिग्दर्शन', पृ 411

4 हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'पोद्दार अभिनदन ग्रथ', पृ 637
5 हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'सूरसाहित्य', (बबई, 1961), पृ 15-16
6 राय गोविंद चद, 'वैदिक युग मे लक्ष्मी का स्वरूप', नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 63, अक 3-4, पृ 257
7 वही, पृ 259
8 वही, पृ 259
9 मुशीराम शर्मा, 'भारतीय साधना और सूर साहित्य', पृ 161
10 शशिभूषण दासगुप्त, 'श्री राधा का क्रमिक विकास', पृ 116
11 प बलदेव उपाध्याय, 'भारतीय वाङ्मय मे श्री राधा', पृ 45
12 मुशीराम शर्मा, 'भारतीय साधना और सूर साहित्य', पृ 168
13 पी के गोडे, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 63, अक 3-4, पृ 298
14 हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', (पटना, तृतीय सस्करण, 1961), पृ 117
15 राधाकमल मुखर्जी, 'दि फ्लावरिंग आफ इडियन आर्ट', (बबई, 1964), पृ 192
16 वही, पृ 192
17 कृष्णदेव शर्मा (स) 'विद्यापति और उनकी पदावली', प्रथम सस्करण 1962, पृ 85
18 वही, पृ 73
19 वही, पृ 356
20 वही, पृ. 306
21 वही, पृ 102
22 हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'मध्यकालीन धर्म-साधना', (इलाहाबाद, तृतीय सस्करण 1962), पृ 134
23 हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'सूर साहित्य', पृ 162

प्रेम की काव्यानुभूति

सूरदास प्रेम के कवि हैं। जिस प्रेम के वे गायक हैं उसका प्रसार मानव-जीवन से लेकर प्रकृतिजगत और ईश्वर तक है। उनके काव्य में मानवीय प्रेम की अपार व्यापकता और विविधता है। यही मानवीय प्रेम ईश्वरीय प्रेम या भक्ति के रूप मे भी व्यक्त हुआ है। सूर का भक्तिमार्ग प्रेममार्ग ही है। प्रेम सूर की काव्यानुभूति, जीवनानुभूति और भक्ति की अनुभूति का केंद्रीय तत्त्व है, इसलिए प्रेम की कुछ विस्तृत चर्चा जरूरी है।

मनुष्य का अतर्जगत वासनाओ, भावनाओ और अनुभूतियो से सपन्न होता है। वह समाज और सस्कृति के विकास से क्रमश समृद्धतर होता है। भावनाओ की तीन दशाए होती हैं—प्रकृत, सस्कृत और विकृत। काव्य मे भावनाओ की इन तीनो दशाओ की अभिव्यजना होती है। रागत्मक स्तर पर मानव मात्र के मन मे, आशिक ही सही, परतु एक मूलभूत एकता होती है। कला और साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त यही रागात्मक एकता कलाओ की सार्वभौमिकता और शाश्वतता का एक कारण है। सपूर्ण कलाए मनुष्य के रागजगत के विकास, परिमार्जन और उसकी सामाजिक प्रकृति के उद्घाटन के सतत प्रयास का परिणाम हैं। व्यक्ति की अतस्सज्ञा मे स्थित शेष सजीव सृष्टि के साथ रागात्मक ऐक्य ही चेतना के स्तर पर व्यक्त होकर प्रेम का स्वरूप धारण करता है। आचार्य रामचद्र शुक्ल के शब्दो मे 'वासनात्मक अवस्था से भावात्मक अवस्था मे आया हुआ राग ही वास्तव मे अनुराग या प्रेम है।'[1] इसमे यह स्पष्ट है कि प्रेम राग का ही विकसित रूप है। यद्यपि प्रेम राग का ही विकसित रूप है किंतु व्यक्ति का शेष जगत के साथ प्रकट भावात्मक सबंध प्रेम के कारण सभव होता है। इसलिए प्रेम को मूल मानवीय भाव कहा गया है। प्रेम को मौलिक मानवीय भाव कहने का तात्पर्य यह नही है कि क्रोध, घृणा, भय आदि भाव मौलिक भाव नही हैं, इसका केवल यही अर्थ है कि प्रेम ही वह मूल भाव है जिसके कारण मनुष्य मे मनुष्यता सुरक्षित रहती है। प्रेम के कारण व्यक्ति का चित्त उदार होता है और करुणा, दया, सहानुभूति आदि की ओर प्रेरित और प्रवृत्त होता है। प्रेम जीवन-

दायिनी शक्ति है जो व्यक्ति और समाज के मानसिक और नैतिक विकास के लिए अनिवार्य है। व्यक्ति के मन मे प्रेम का उदय होते ही द्वेष का शमन हो जाता है, हिसा की प्रवृत्ति सयमित हो जाती है और आत्मशक्ति सर्जनोन्मुख हो जाती है।

प्रेम एक अत्यत जटिल भाव है, जिसका विकास अनेक तत्त्वो के योग से होता है। हर्बर्ट स्पेंसर ने प्रेम के स्वरूप-निर्धारण मे निम्नाकित तत्त्वो के योग का उल्लेख किया है[2] (1) काम (सेक्स) की शारीरिक प्रवृत्ति, (2) सौदर्यानुभूति, (3) अनुराग, (4) श्लाघा और सम्मान, (5) सुहृदयता, (6) आत्मसम्मान, (7) स्वत्व-अनुभूति, (8) वैयक्तिक बधनो से उन्मुक्त कार्य-स्वातत्र्य और (9) सहानुभूति का उत्कर्ष। इन सभी तत्त्वो की एकता से प्रेम का स्वरूप निर्मित होता है। हर्बट स्पेसर द्वारा विवेचित प्रेम के ये तत्त्व व्यापक होते हुए भी प्रेम के सपूर्ण स्वरूप की व्याख्या मे असमर्थ है। इनमे वात्सल्य का अभाव है, जो प्रेम का एक प्रबल रूप है और कभी-कभी दापत्य प्रेम को भी सुदृढ करने मे सहायक होता है। रसेल के अनुसार सभी मगलकारी भावनाए वात्सल्यानुभूति के प्रबल प्रवाह या उदात्तीकरण का परिणाम है।[3] भारतीय सस्कृति मे लोक जीवन से लेकर आध्यात्मिक साधना तक वात्साल्यानुभूति का प्रसार है। प्रेम की धारणा मे वात्सल्य का विशेष महत्त्व है।

प्रेम एक स्थायी, सगठित और जटिल भाव है। इसके भावात्मक स्वरूप मे बौद्धिक तत्त्व की प्रधानता होती है। भाव के रूप मे यह परिष्कृत सूक्ष्म अनुभूति है, किंतु मनोवेग के रूप मे यह जटिल सक्रिय शक्ति है। मनोवेग भावो और कामनाओ की सुसगठित पद्धति है। मनोवेग के रूप मे प्रेम का स्वरूप स्थिर, व्यापक, सुव्यवस्थित, गभीर और विवेकसपन्न है। प्रेम अपनी जटिलताओ और सूक्ष्मताओ के कारण ही एक अर्थ मे प्रधान भावावेग (मास्टर पैसन) बन जाता है।

प्रेम के कारण इच्छाओ और भावनाओ का द्वद्वात्मक तनाव शमित हो जाता है तथा उनमे सामजस्य स्थापित हो जाता है। प्रेम दो भावो के बीच गतिशील होता है —आनद और मगलकामना। प्रेमी को प्रेम से आनद की अनुभूति होती है और प्रेमी प्रिय की मगलकामना मे प्रवृत्त होता है। आचार्य शुक्ल के अनुसार, प्रेम की गति रजन और पालन की ओर होती है और करुणा की रक्षण की ओर।[4] रसेल के अनुसार, प्रेम के दो ध्रुव हैं—आनद और मगलविधान।[5] मगलविधान मे पालन के अतिरिक्त सरक्षण की भी प्रवृत्ति और शक्ति होती है, क्योकि मगलविधान केवल कामना तक ही सीमित न रहकर कर्म का भी प्रेरक होता है। प्रेमी प्रिय वस्तु के पालन और सरक्षण मे भी प्रवृत्त होता है। प्रेम करुणा, सहानुभूति आदि मनोभावो का मूल स्रोत है, इसलिए उसमे स्वभावत

रजन, पालन और सरक्षण की प्रवृत्तिया सयुक्त रूप से विद्यमान होती हैं।

प्रेम के मगलविधायक पक्ष का लोकजीवन मे समाज के अस्तित्व के लिए विशेष महत्त्व है। मानवीय सबधो मे प्रेम के दो व्यक्त रूप हैं—वात्सल्य और दापत्य। वात्सल्य मे यद्यपि बालक के सौदर्य की अनुभूति से उत्पन्न आनद निहित होता है, किंतु सौदर्यविहीन बालक के माता-पिता मे भी वात्सल्य-स्नेह का अभाव नही होता। वात्सल्य मे केवल मगलकामना ही प्रधान नही होती है, किंतु उसका अत्यत घनीभूत रूप अवश्य वर्तमान होता है। भारतीय भक्ति-दर्शन और काव्य ने वात्सल्य के दो रूप है। एक मे भक्त बालक बनकर भगवान से वात्सल्य-स्नेह की कामना करता है तथा दूसरे मे वह बालक-रूप भगवान पर स्वय वात्सल्य-स्नेह की वर्षा करता है। वास्तव मे मगलकामना के बिना प्रेम निष्ठुर और स्वार्थी होगा। आनदविहीन मगलभावना स्वय बुझ जाती है तथा व्यक्ति में श्रेष्ठता की भावना आ जाती है। प्रेम मे अपने अह का विसर्जन और दूसरे के अस्तित्व की स्वीकृति आवश्यक है। इसमे मानसिक और आत्मिक स्तर पर समानता का बोध आवश्यक है, अन्यथा प्रेम दासता मे बदल जाता है। दूसरे की अनुभूति, भावना और इच्छा का सम्मान प्रेम के लिए आवश्यक है। प्रेम मे अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व का प्रसार तथा दूसरे के व्यक्तित्व का समाहार अनिवार्य हो जाता है।

प्रेम व्यक्ति के सामाजिक सबधो का आधारभूत तत्त्व है। समाज के ज्ञान और उसके बीच अपनी स्थिति का बोध प्रेम के कारण ही सभव होता है। प्रेम के कारण ही समाज का सगठित स्वरूप निर्मित होता है। फायरबाख के अनुसार, मनुष्य के अस्तित्व के आधार और उसके जीवन मे मानवीयता के विकास के लिए बुद्धि, प्रेम और इच्छा—इन तीनो शक्तियो की सहज एकता आवश्यक है।[6] प्रेम एक सामाजिक भाव (सोशल इमोशन) है। प्रेम जोडने और मिलाने की शक्ति है, इसलिए सामाजिक सबधो का वह आधार है। प्रेम मे गतिशीलता है, वह सदा विकासशील है, वह दृढ से दृढतर होता है।

प्रेम शक्ति का स्रोत है, लेकिन प्रेम से उद्भूत शक्ति जब व्यक्ति को लोकसग्रह के कार्य मे प्रवृत्त करती है तभी उसका उज्ज्वल रूप प्रकट होता है। बर्ट ने प्रेम को सभी वृत्तियो से उद्भूत होने वाली सामान्य कार्य-प्रेरक शक्ति कहा है।[7] व्यक्ति मे जीवन की कामना जितनी तीव्र होती है प्रेम की भावना भी उतनी ही प्रबल होती हैं। इसलिए प्रेम परिवार, जाति, समाज और राष्ट्र की एकता और स्थिरता का आधार तत्त्व है। इसका प्रसार व्यक्तिप्रेम से लेकर देशप्रेम तक है। हैवलाक एलिस का मत है कि दूसरे के बिना अपनी स्थिति नही है, हम अपने अस्तित्व की अस्वीकृति के बिना दूसरे के अस्तित्व तथा उसके ससर्ग से उत्पन्न भावनाओ को अस्वीकृत नही कर सकते।[8] अत प्रेम जीवन के अस्तित्व

से जुडा हुआ है। अगर प्रेम भ्रम है, तो जीवन भी भ्रम ही है।

सौदर्यबोध की दृष्टि से विचार करने पर भी प्रेम की सार्थकता असदिग्ध है। प्रेम मे भावनाओ तथा अनुभूतियो के पारस्परिक तनाव को दूर कर उनमे सामजस्य-स्थापना की शक्ति है और अनुभूतियो के सामजस्य से ही लालित्यबोध का उद्भव होता है। सौदर्य एक अनुभव है और इस अनुभव मे निहित रागात्मक अश प्रेमजन्य ही होता है। प्रेम सर्जनात्मक भाव है। वह जीवन और काव्य मे सृजन की प्रेरक शक्ति है। रवीद्रनाथ टैगोर ने ठीक ही लिखा है कि प्रेम चेतना की पूर्णता है। प्रेम केवल एक भाव ही नही है, वह एक सत्य है, वह स्थायी आनद का स्रोत है, जो सभी प्रकार के सृजन के मूल मे अतर्निहित होता है। प्रेम चेतना का श्वेत प्रकाश (सात्विक विकास) है।[9] प्रेम अनुभवकर्ता की सौदर्यानुभूति को शक्ति और गति प्रदान करता है। विश्वसाहित्य का अधिकाश प्रेम की प्रेरणा से निर्मित है। प्रेम मूल काव्यभाव है और वह करुणा आदि भावनाओ का स्रोत भी है।[10] कलाओ के सृजन मे सवेदना के रूप मे प्रेम का विशेष उपयोग हुआ है। विश्व-भर मे काव्य, चित्र, सगीत, नृत्य, मूर्ति और वास्तुकला के सृजन की प्रेरणा और विषयवस्तु के रूप मे प्रेम का महत्त्व है। यह कला के इतिहास से सिद्ध है। भारतवर्ष मे प्रेम का उज्ज्वल स्वरूप अपने लौकिक और आध्यात्मिक दोनो रूपो के विविध पक्षो के साथ कला-रचना का केद्रबिंदु रहा है। भारतीय कलाओ मे प्रेम के यथार्थवादी, रोमाटिक और रहस्यवादी—सभी रूपो की सम्यक अभिव्यक्ति हुई है।

ईश्वरीय प्रेम के लिए मानवीय प्रेम की अनुभूति और उसके स्वरूप का बोध आवश्यक है। व्यक्ति, समाज और सपूर्ण सृष्टि के साथ व्यक्त लौकिक प्रेम ही ईश्वरोन्मुख होकर भक्ति का रूप धारण कर लेता है। प्रेम जोडने और मिलाने की शक्ति है और यही शक्ति भक्त और भगवान के बीच सक्रिय होती है। ईश्वरीय प्रेम मे भक्त भगवान के साथ सयुक्त होकर पूर्ण हो जाता है। फिशर ने प्रेम की परिभाषा करते हुए लिखा है कि प्रेम एक अनुभूति है, जिसमे आकर्षण और समर्पण का भाव होता है जो उस वस्तु (या व्यक्ति) की आवश्यकता से उत्पन्न होती है और उसी की ओर उन्मुख होती है, जिसमे व्यक्ति के आनद की आशा निहित रहती है।[11] ईश्वर असीम, अनत और सर्वव्याप्त है, व्यक्ति ससीम और लोकबद्ध है। लेकिन असीम और ससीम, सर्वोच्च सत्ता और आत्मा का योग प्रेम से भी सभव है। प्रेम के लिए द्वैत आवश्यक है। प्रेमी प्रिय मे अपनी आत्मा को ही खोजता और पाता है। प्रेमानद मे प्रेमी अपनी आत्मा का प्रिय की आत्मा से सयोग करता है। आत्मा प्रेम के सतत विकास पथ पर परमात्मा के सयोग की कामना से गतिमान है। टैगोर ने लिखा है कि मानव-आत्मा नियम से प्रेम की ओर, अनुशासन से मुक्ति की ओर और नैतिक स्तर से आध्यात्मिक स्तर

की ओर सदा गतिमान है।[12] ईश्वरोन्मुख प्रेम वैयक्तिक प्रेम से निर्वैयक्तिक प्रेम होता है, इसमे आत्मबोध और आत्मविसर्जन दोनो का योग होता है। वैयक्तिक प्रेम भी ईश्वरोन्मुख होकर विश्वप्रेम बन जाता है, क्योकि प्रेमी सपूर्ण विश्व मे अपने प्रिय की सत्ता की अनुभूति करता है।

भक्तिकाव्य मे धर्म का जो रूप है उसका आधार भय नही, प्रेम है। आशा तथा आस्था इस प्रेम के दो सहायक तत्त्व हैं। यहा प्रेम का रूप रहस्यवादी और लीलात्मक दो प्रकार का है। रहस्यवादी प्रेमभावना मे प्रेम की अनुभूति विशुद्ध आत्मिक स्तर पर होती है क्योकि इसमे एक पक्ष अव्यक्त होता है। प्रेम की यह अनुभूति सहज नही होती। रहस्यवादियो के माधुर्य भाव या कातारति मे कुछ आलोचको ने दापत्य वासना (सेक्स इंस्टिक्ट) खोजने की कोशिश की है। ईश्वरीय प्रेम मे मानवीय भावनाओ की आग नही होती और न व्यक्ति को ऐंद्रिक सवेदनाओ के तनाव की स्थिति मे गुजरना पडता है, इसलिए रहस्यवादियो की प्रेमानुभूति काम-भावना नही है। माधुर्य भाव की ईश्वरोन्मुख प्रेमानुभूति का मानवीय प्रेमानुभूति से स्वरूपगत साम्य और आलबनगत विभेद हैं। सीमन दी बुये (जानी-मानी फ्रासीसी लेखिका) ने मानवीय प्रेमानुभूति और ईश्वरीय प्रेमानुभूति का अतर और सबध निरूपित करते हुए लिखा है कि मानवीय प्रेम और ईश्वरीय प्रेम के एकत्व का कारण यह नही है कि दूसरा पहले का उदात्तीकृत रूप है, बल्कि ईश्वरीय प्रेम मानवीय प्रेम का ज्ञानातीत निर्विशेष परम तत्त्व की ओर प्रयाण है।[13] मानवीय प्रेम और ईश्वरीय प्रेम मे अतर यह है कि ईश्वरीय प्रेम मे प्रेम की गति इद्रिय सवेदनाओ से आत्मिक स्पदन की ओर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर, भौतिक अनुभवो से आध्यात्मिक अनुभूतियो की ओर और मानवीय उल्लास से आध्यात्मिक आह्लाद की ओर होती है। रहस्यवादी प्रेम-पद्धति मे पुरुष द्वारा अनुभूत और अभिव्यक्त कातारति मे बौद्धिक प्रक्षेपण या कल्पनात्मक अनुभूति का योग है, किंतु नारी की कातारति मे स्वाभाविकता और अनुभूति की सहजता होती है। आचार्य हज रीप्रसाद द्विवेदी ने लौकिक प्रेम और ईश्वरोन्मुख प्रेम मे अतर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'पहला ससारविषयक होने के कारण जडोन्मुख है, दूसरा विशुद्ध भगवानविषयक होने के कारण चिन्मुख है।[14]

भक्तिदर्शन के अनुसार माधुर्यभाव और रति के काम और प्रेम मे स्वरूपगत भेद नही है, केवल विषय मात्र का भेद है। चैतन्य के मतानुसार आत्मेंद्रिय सुखकामना काम है और कृष्ण सुखकामना प्रेम। ब्रज की गोपियो की प्राति प्रियानुकूल तात्पर्या या कृष्णसुख विषयक होने के कारण विशुद्ध प्रेम है। गोपियो की कातारति मे काम और प्रेम का अभेद है। प्रेम नि स्वार्थ होता है, उसमे समर्पण का भाव प्रधान है, काम मे स्वार्थ प्रबल होता है। प्रेम सदा वृद्धिमान, स्थायी और

उत्कर्षित होता है, जबकि काम ह्रासोन्मुख और क्षणिक होता है। प्रेम का प्रतिफल आत्मानद मे होता है और काम का लक्ष्य इद्रियसुख तक ही सीमित है। यही कारण है कि प्रेम को प्रकाश और काम को अधकार कहा गया है।

सगुण भक्तिकाव्य मे प्रेम का लीलात्मक स्वरूप होता है। इसके भाव और रूप को माधुर्य कहा जाता है और यही साद्र माधुर्यभाव प्रेम मे परिणत हो जाता है। प्रेम के लीलात्मक रूप की अत प्रकृति मानवीय प्रेमानुभूति के समान ही है। प्रेमाभक्ति का आधार मनुष्य की सहज रागात्मिका वृत्ति है। यहा सगुण स्वरूप कृष्ण भक्तो के दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य आदि भावो के आलबन हैं और यही उनकी लीला की अनुभूति का विषय है। आचार्य शुक्ल ने भक्ति मार्ग को 'शुद्धभावमार्ग' या प्रेममार्ग है तथा भक्त की भावदशा को काव्य की रसदशा के समान कहा है।[15] प्रेम सपूर्ण मध्यकालीन भक्ति-साहित्य का केंद्रीय तत्त्व है, प्रेम ही भगवान की सपूर्ण लीला का कारण तत्त्व है। मध्यकालीन भक्ति-साहित्य मे प्रेम के मानवीय और ईश्वरीय दोनो रूपो की अत्यत व्यापक, गभीर और वैविध्यपूर्ण अभिव्यजना है।

सूरसागर मे प्रेमतत्त्व

सूरदास का काव्य प्रेम का काव्य है, उसमे सौंदर्य, माधुर्य, दीप्ति, उल्लास और आनद का चरम उत्कर्ष अभिव्यजित है। सूरसाहित्य मे राग का विस्तार है और मानवीय राग की सीमा मे ही ईश्वरीय राग भी समाहित है। अभिव्यक्त राग आतरिक शाति और दमित राग आतरिक अशाति का कारण बन जाता है। सूरसाहित्य मे रागों का कृष्णार्पण है। उसमे प्रेम जीवन के धर्म और धर्म के जीवन के रूप में व्यक्त हुआ है। यहा प्रेम मानव मात्र की समता और लोक-जीवन तथा आध्यात्मिक चेतना की एकता का आधार है।

सूरसागर में कृष्ण की सपूर्ण लीलाओ का कारणतत्त्व प्रेम ही है (पद स० 2635)। प्रेम के स्तर पर ऊच-नीच, धनी-गरीब, स्त्री-पुरुष आदि मे कोई भेद नही है। प्रेम ही भक्ति का आधार है (वही)। प्रेम मे पूर्ण तादात्म्य काम्य है, प्राण, मन, बुद्धि और चित्त के स्तर पर ऐक्य ही प्रेम की सिद्धावस्था है (पद स० 2460)। मन की प्रेमदशा की चरम अवस्था को सूरदास अनिर्वचनीय मानते हैं (पद स० 2463)। प्रेमानुभूति की सिद्धावस्था मे, सयोग मे वियोग और वियोग मे सयोग की मानसिक दशा का उद्घाटन कर सूरदास ने प्रेम की जटिल भावदशा की सफल व्यजना की है। सूरसागर मे प्रेम सबधी अनेक रूपक है। प्रेम वृक्ष है, जिसका बीज हृदय में अकुरित है और जड पाताल मे है। उसकी छाया विश्वव्याप्त है, मधुर वचन ही उसकी सुन्दर पत्रावली है, नेत्र-सचार मुकुल हैं, विशिष्ट गुण ही आकर्षण के पुष्प हैं। अनुरागमय साहचर्य और सहयोग ही

प्रेम का जीवन है। कृष्ण से सयोग ही इसका फल है और आनद इसका रस है (पद स० 2380)। एक दूसरे पद मे प्रेम प्रवाह है। कृष्ण सिधु हैं। गोपिया आदोलित, उमगी, उमडी नदिया हैं, वे सयोग के लोभ की विशाल लहरें है और बेकरार कटाक्षपात के तीव्र गतिशील धार से बाधक करार ध्वस्त हो जाता है। प्रेम के निर्बंध प्रवाह मे किसी प्रकार का बधन स्वीकार्य नही है। सयोग-काल मे धैर्य की नाव अनावश्यक है, क्योकि शीघ्रातिशीघ्र सयोग की आतुरता है। गोपिया कृष्ण से मिली, सरिताए सिधु मे समाहित हो गईं और फिर वियोग की आशका के लिए स्थान ही नही है, क्योकि सागर अकस्थ सरिताए पुन वियुक्त होकर प्रत्यावर्तित नही होती हैं (पद स० 2381)। सूरदास ने अनेक रूपको के माध्यम से प्रेम के स्वभाव और गोपी-कृष्ण लीला की विभिन्न स्थितियो को व्यक्त करने का प्रयास किया है। सूर और उनकी गोपियो को प्रेम की निर्बंध और स्वच्छद प्रकृति का पूर्ण ज्ञान है (पद स० 4535)। गोपियो से कृष्ण का प्रेम हठात आयोजित नही है, उसमे सौंदर्याकर्षण, साहचर्य और सहयोग है (पद स० 4536)। गोपियो का कृष्ण से प्रेम सदा एक समान और निरतर वृद्धिमान है। सच्चा प्रेम सदा वृद्धिमान और एक समान होता है, सच्ची प्रीति मे कपट, दुराव या जटिलता के लिए स्थान नही है (पद स० 4539)। प्रेम नित्य नूतन होता है। वह पुराना नही पडता (पद स० 4469)। सच्चा प्रेम प्रतिदान नही आत्मदान पर आधारित होता है। प्रिय के हृदय मे प्रेम की स्थिरता की कामना निरतर बनी रहती है। गोपियो की यही कामना भ्रमरगीत मे व्यक्त हुई है (पद स० 4676)।

सूरदास का दृढ विश्वास है कि प्रेमविहीन जीवन निरर्थक है, प्रेम ही जीवन का साध्य है (पद स० 4217)। गोपिया उद्धव की प्रेमविहीनता, हृदयहीनता, नीरसता पर व्यग्य करती हैं। वे कहती हैं, 'तुम बडे भाग्यशाली हो, क्योकि प्रेम से तुम्हारा स्पर्श नही हुआ है। तुमने प्रेम-नदी मे कभी पैर नही रखा और तुम्हारी आखें रूपासक्ति मे डूबी नही हैं। हम गोपिया ही भोली हैं इसलिए प्रेम-मय हैं, प्रेम मे एकरस, एकरूप हैं' (पद स० 4578)। प्रेम एक साधना है जिसमे आत्मसमर्पण और आत्मदान की भावना प्रबल होती है। प्रेम मे आत्मबलिदान अनिवार्य है (पद स० 3909)। जब प्रेम का उदय होता है तो उसमे बाधक भाव समाप्त हो जाते हैं (पद स० 3908)। प्रेम मे दो अस्तित्वो के पूर्ण ऐक्य, तादात्म्य और तद्रूपता के कारण व्यक्ति का पूर्णता की ओर प्रस्थान ही सूरदास के प्रेम का आदर्श है (पद स० 3910)। वियोग प्रेम की साधना का काल है। प्रमियो के लिए आत्मचेतना और आत्मप्रसार का काल है। वियोग मे प्रेमियो के चित्त का लोकचित्त से तादात्म्य स्थापित होता है और इस प्रकार प्रेम का लोक-हितकारी सर्जनात्मक रूप प्रकट होता है। वियोग-काल मे जो प्रेम निष्क्रियता

और जडता की स्थिति मे व्यक्ति को डालता है, वह समाज और व्यक्ति दोनो के लिए निरर्थक है (पद स० 4628)। कर्म की ओर प्रेरित करने वाला प्रेम ही सूरदास को प्रिय है। प्रेम मे विरह आवश्यक है, क्योकि वियोग की वेदना मे विदग्ध प्रेमी ही सयोग के सुख की समृद्धि का पूर्ण अनुभव कर सकता है (पद स० 4032)। प्रेम पथ का पथिक कभी दुख की परवाह नही करता। विरह में प्रेम पलता है, पुष्ट होता है (पद स० 4605)। वियोग मे सयोग की स्मृति और आशा ही जीवन-सबल है।

सूरदास के काव्य मे प्रेम के तीन प्रकार हैं—मानवीय, ईश्वरीय और प्राकृतिक। मानवीय प्रेम मे वात्सल्य, सख्य और दापत्य के विविध पक्षो की संपूर्ण सभावनाओ का उद्घाटन सूरसागर मे हुआ है। इस मानवीय प्रेम के आलबन श्रीकृष्ण ही हैं, इसलिए यह प्रेम चिन्मुख और दिव्य है। प्रेम के लौकिक और परमार्थिक स्वरूप का जैसा सुदर समन्वय सूरसागर मे हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। सपूर्ण सूरसागर मे प्रेम का मानवीय पक्ष व्यक्त है, किंतु कही भी उसका आध्यात्मिक पक्ष तिरोहित नही है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—लीलागान मे सूरदास का प्रिय विषय था प्रेम। माता का प्रेम, पुत्र का प्रेम, गोपियो का प्रेम, प्रिय और प्रिया का प्रेम, पति और पत्नी का प्रेम, इन बातो से ही सूरसागर भरा है।[16] सूरसागर मे मानवीय प्रेम और उसके आध्यात्मिक रूप के अतिरिक्त प्रकृति प्रेम के भी दर्शन होते हैं। कृष्ण की सपूर्ण लीला प्रकृति की गोद मे—जमुना के किनारे, कदब तले, करील के कुजो मे और वृदावन के वनो मे सपन्न हुई है। सच तो यह है कि कृष्णलीला मे प्रकृति सर्वत्र एक सजीव सहयोगी तत्त्व के रूप मे कार्य करती हुई दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त प्रकृति के कण-कण मे उस ईश्वर की छाया विद्यमान है जिसके प्रेम मे सूरदास की आत्मा निमग्न है। अत सारी प्रकृति कृष्णमय होने के कारण प्रेम का आलबन है। प्रकृति प्रेम मे सौंदर्यानुभूति और साहचर्य के कारण प्रेम की प्रतिष्ठा हुई है। मानवीय प्रेम की प्रकृति, प्रकृति-प्रेम से कुछ भिन्न प्रकार की है, इसलिए उसमे रूपलोभ, साहचर्य और सहयोग के सहारे प्रेमलीला चलती है।

सूरदास की भक्ति प्रेमाभक्ति है जिसका आधार श्रीकृष्ण का सगुण, सरूप सौंदर्य हैं। यह अनुभूति का विषय है और प्रेमोद्भव का कारण। प्रेम के लिए गुण और रूप का आधार आवश्यक है। निर्गुण और अमूर्त से पूर्ण प्रेम सभव नही है। निर्गुणभक्ति मे प्रेम की प्रगाढता नही, आभास ही सभव है। यही कारण है कि गोपिया बार-बार निर्गुण निराकार अरूप को अस्वीकार करती हैं और उसे अपनी प्रेमभावना तथा साधना के लिए अनुपयोगी मानती है। सूर और उनकी गोपियो का मत है कि जिसका चित्त श्रीकृष्ण के रूप-माधुर्य की अनुभूति से आप्लावित है उसे ज्ञान की बौद्धिक प्रक्रिया से गुजरने की क्या आवश्यकता है

(पद स० 4523) ? ज्ञान मे चित्त की बोधवृत्ति प्रधान होती है और भक्ति मे रागवृत्ति। एक शुष्क मानसिक ऊहापोह है, दूसरे मे सरस चित्त का उल्लास। निर्गुण अधकार है जिसमे कुछ भी दिखाई नही देता, किंतु सगुण तो साक्षात्कार का विषय है, प्रकाशमय है (पद स० 4523)। प्रेम मे शरीर और आत्मा दोनो का पूर्ण सयोग होता है। नैन, बैन और हृदय का मिलन होता है तब प्रेम की प्रतीति होती है, प्रेम विकसित होता है, आत्मा से आत्मा का सयोग होता है, मन मन को जीतता है। यह सगुण रूप से ही सभव है, निर्गुण निराकार से नही। प्रेम विशुद्ध अनुभूति या अनुभव की वस्तु है, उपदेश की नही, 'सोई जन जानै, गई जिनहि पै बीति।' प्रेम के मर्म को अनुभव करने वाला ही जानता है (पद स० 4524)। प्रेम का मार्ग सहज, सरल और सीधा है, निर्गुण का पथ कटकाकीर्ण, दुरूह, दुर्गम और चक्करदार है। सपूर्ण भ्रमरगीत मे उद्धव और गोपियो के सवाद के माध्यम से ज्ञान और योग के ऊपर प्रेम के विजय की घोषणा हुई है। ज्ञानी उद्धव को भी गोपियो के सर्वातिशयी प्रेम के समक्ष ज्ञान फीका दिखाई देता है। सूरदास का प्रेम-दर्शन अत्यत व्यापक है, जिसमे लौकिक और ईश्वरीय दोनो प्रकार के प्रेम समाहित हैं। सूर का मत है कि प्रेम से ससार की स्थिति है, क्योकि सारा ससार प्रेम के सूत्र मे आबद्ध है। प्रेम पुरुषार्थ है, धर्म साधना का साध्य और साधन दोनो हैं। सच्चे प्रेम का दृढ निश्चय ही सरस जीवनमुक्ति है और प्रेम के एकातिक दृढ निश्चय से ही गोपाल से मिलन सभव है।

> प्रेम प्रेम तै होइ, प्रेम तै पारहि जइयै।
> प्रेम बध्यौ ससार प्रेम परमारथ लहियै।
> साचौ, निहचै प्रेम कौ, जीवनमुक्ति रसाल।
> एकै निहचै प्रेम कौ, जबै मिलै गोपाल ।। (4714)

सूरदास ने मुरली और नेत्र के सबध मे शताधिक पदो की रचना की है और उन पदो मे एकमात्र प्रेम की भावना ही अभिव्यजित हुई है। मुरली और नेत्र सबधी ये पद प्रेमरस से सराबोर हैं। सूरदास ने मुरली और नेत्र को वस्तु के रूप मे और व्यक्ति के रूप मे भी चित्रित किया है। व्यक्ति-रूप मे इनको स्वतत्र प्राणवत व्यक्तित्व प्रदान किया है तथा इनके कार्यकलाप, स्वभाव, भावना, आचरण और भगिमाओ का कलात्मक वर्णन किया है। सूर ने मुरली को 'सभागी, स्याम सुहागिनी सौति (गोपियो की), प्रिय-अधरसुधा विलासिनी, गीत समुद्रतरी, आपुस्वारथिनी नारि' कहा है तो नेत्र (गोपियो के) को कृष्ण के 'दास, चर, आपस्वारथी, अनुरागी, नमकहरामी, ढीठ, बीर और रूपलोभी' कहा है। वस्तु रूप मे मुरली और नेत्र गोपियो के चित्त मे कृष्ण-प्रेम की प्रतिष्ठा के कारण तत्त्व हैं। मुरली की स्वरलहरी से गोपियो के मन को कृष्णमय करने मे अमूर्त दूतत्व का कार्य पूरा होता है। कृष्ण की भावनाए मुरली की स्वरलहरी के सहारे गोपियो

के मन का स्पर्श करती हैं और उनका (गोपियो का) मन कृष्णमय, प्रेममय हो जाता है। नेत्रो द्वारा गृहीत कृष्ण की रूपमाधुरी गोपियो की अनुभूति का विषय बनती है और इस सौंदर्यानुभूति से आह्लादित चित्त कृष्णोन्मुख होता है, उसमे प्रेम के अकुर फूटते हैं। कृष्ण की मुरली का सगीत प्रेम का सचारक और पोषक है तथा सौदर्यवाहक नेत्र (गोपी और कृष्ण) मन मे प्रेम की तरगें उत्पन्न करने वाले हे।

सूरसागर का भाव-जगत प्रम जगत ही है, इसलिए उसकी भावानुभूति को प्रेमानुभूति माना जा सकता है। सूरसाहित्य मे यद्यपि व्यक्ति का बाह्य जगत नितात उपेक्षित नही है, किंतु सूर ने व्यक्ति के अतजगत की गहराई और विस्तार को अधिक उद्घाटित किया है। सूर की दृष्टि व्यक्ति के मानसलोक पर अधिक केंद्रित है, वस्तुलोक पर कम, वहा व्यक्ति चेतना का अतदर्शन प्रधान है, बाह्य परिवेश गौण, आत्मा की शक्ति का विलास अधिक है, व्यावहारिक जीवन की क्रियाशीलता गौण। व्यक्ति के मानसलोक के सहारे सूरदास ने लोकमानस की भी अभिव्यक्ति की है, क्योकि व्यक्ति की चेतना का निर्माण उसके सामाजिक परिवेश के अनुरूप ही होता है। सूरसागर मे व्यक्ति का सपूर्ण जीवन अपने भावात्मक विकासक्रम मे व्यजित है। उसमे व्यक्ति के कोमल बालरूप, मनोहर किशोर रूप और आकर्षक यौवन की छवि है। सूरसागर मे सयोग का अपार सुख है तो वियोग की अथाह वेदना भी है। सूरदास ने प्रेम की अनुभूति के सभी वास्तविक और सभावित रूपो का चित्रण किया है। प्रेम की व्यापकता और गहराई की अभिव्यक्ति करने वाला ऐसा दूसरा कवि हिंदी साहित्य मे नही है। सूरसागर मे मुख्यत शात, दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य—इन पाच भावो की अभिव्यक्ति हुई है।

सूरदास भक्त कवि हैं, इसलिए उनके काव्य मे प्रेम के लौकिक रूप और आध्यात्मिक रूप का सामजस्य है, वह लोकअनुभव और शास्त्रचिंतन का समन्वित रूप है।

शात और दास्य

सूरसागर मे विनय के पदो मे शात और दास्य भाव की व्यजना हुई है। शात रस के निर्वेद और शम—दो भाव हैं, इसलिए शात रस निर्वेदमूलक और शममूलक होता है। शात भाव भक्ति का आरभ है। शात भाव ही भक्त कवियो की रचना-प्रक्रिया मे भक्ति मे परिणत हो जाता है। शात भाव मानस की स्थिर अवस्था का द्योतक है और भक्ति के लिए स्थितप्रज्ञता आवश्यक है। चचल चित्त शात भाव के बोध और भक्ति-साधना मे बाधक है। सूरदास ने विनय के पदो मे भक्त के चित्त की सुस्थिरता की ओर सकेत किया है और उसका विकासक्रम भी निर्देशित

किया है। प्रथमत भक्त मन को ससार से विमुख कर भगवान की ओर उन्मुख करता है, भगवान मे उसकी आसक्ति बढती है और ससार से धीरे-धीरे अनासक्त होता है। इस प्रकार ससार से विमुखता निर्वेद का परिणाम है। दूसरी अवस्था मे ससार से विमुख और भगवदोन्मुख भक्त का चित्त धीरे-धीरे शात, स्थिर और सयमित होता है। मनोवेगो का ताप शमित हो जाता है और यही चित्त की शातावस्था है। तीसरी अवस्था मे शात स्थिर चित्त ऐश्वर्यमय भगवान के चरणो मे अपनी रति विकसित करता है, भगवान की कृपा की आकाक्षा से आत्मीयता-स्थापन हेतु दास्य सबध जोडता है। सूरदास के विनय के पदो मे जो शात और दास्य भाव की व्यजना है, वह कोरा उपदेश नही है, उसमे सरस चित्त की आत्माभिव्यक्ति है।

निर्वेद की मन स्थिति

सूरदास ने सासारिक प्रपचो मे लिप्त व्यक्ति की मन स्थिति का उद्घाटन किया है। ससार मे आसक्त व्यक्ति की इद्रियासक्ति, विषयासक्ति, कर्मविवशता और लोभ की मन स्थिति ही उसे ईश्वर से विमुख करती है (पद स 162)। झूठी माया के वशीभूत होने से व्यक्ति की दृष्टि ससार तक ही सीमित रहती है और ईश्वर का विस्मरण हो जाता है (पद स 291)।

मायाजन्य ससार व्यक्ति को मोह मे डालता है और व्यक्ति इस मोह मे पडकर जीवन के उदात्त पक्ष को भूल जाता है। मायाजन्य ससार मे व्यक्ति की आसक्ति एक धोखा है

> धोखें ही धोखें डहकायौ।
> समुझि न परी, विषय-रस गीध्यौ, हरि-हीरा घर माझ गवायौ।
> ज्यो कुरग जल देखि अवनि कौ, प्यास न गई चहू दिस धायौ।
> जनम-जनम बहु करम किए है, तिनमे आपुन आपु बधायौ।
> ज्यो सुक सेमर सेव आस लगि, निस-बासर हठि चित्त लगायौ।
> रीतौ पर्‌यौ जबै फल चाख्यौ, उडि गयो तूल, तावरौ आयौ।
> ज्यो कपि डोरि बाधि बाजीगर, कन कन कौ चौहटै नचायौ।
> सूरदास भगवत-भजन बिनु काल-व्याल पै आपु डसायौ। (326)

इस पद मे सासारिक विषयो मे आसक्त व्यक्ति की स्थिति का निर्देशन है जिसमे (1) अज्ञान, (2) विषयासक्ति, (3) ईश्वरतत्त्व की हानि, (4) तृष्णा, (5) कर्म-विवशता, (6) जीवनभ्राति, (7) लोभ, और (8) मृत्युभय आदि प्रमुख है। इन तत्त्वो की ओर सकेत करते हुए ससार मे लीन व्यक्ति की दयनीय दशा का वर्णन भक्त कवि ने किया है। यह ससार धोखा है, इस बोध से ही व्यक्ति मे निर्वेद का उदय सभव है।

सूरदास ने एक दूसरे पद मे इस ससार मे लीन व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्थिति का बोध जाग्रत करने का प्रयास किया है

जा दिन मन पछी उडि जैहैं।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं।
या देही कौ गरब न करियै, स्यार-काग-गिध खैहैं।
तीननि मे तन कृमि, कै विष्टा, कै ह्वै खाक उडेहै।
कह वह नीर, कहा वह सोभा, कह रग रूप दिखेहै।
जिन लोगनि सौ नेह करत है, तेई देखि घिनैहै।
घर के कहत सबारे काढो, भूत होई घरि खैहै।
जिन पुत्रनिहि बहुत प्रतिपाल्यौ देवी-देव मनैहैं।
तेई ले खोपरी बास दै सीस फोरि बिखरैहै।
अजहू मूढ करौ सतसगति, सतनि मैं कछु पैहै।
नर-बपु धारि नाहि जन हरि कौ, जम की मार सो खैहै।
सूरदास भगवत भजन बिनु वृथा सु जनम गवैहै। (86)

इस पद के मुख्य तत्त्व है—(1) मृत्यु की भयानकता का बोध, (2) शारीरिक मोह का विखडित रूप, (3) मृत्योपरात सासारिक प्रेम की हानि, (4) सत्सग महिमा। मृत्योपरात सासारिक प्रेम की हानि एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है जिसकी ओर कवि ने सकेत किया है मृत्यु के उपरात समाज अपने अत्यत प्रिय को भी त्याग देता है, घृणा करता है। मृत्यु के बाद परिवार और समाज व्यक्ति के साथ जो व्यवहार करता है उसके पूर्वाभास से व्यक्ति पारिवारिक और सामाजिक सबधो की असारता का अनुभव करता है। इस प्रकार एक मनोवैज्ञानिक सत्य के सहारे, मृत्यु की भयानकता की अनुभूति और ससार की निस्सारता के बोध से सूरदास ने व्यक्ति चित्त मे निर्वेद जगाने का प्रयास किया है। विनय के पदो मे ससार की निस्सारता, पाप की चेतना और मृत्यु की भयानकता का बोध ही व्यक्त हुआ है।

सूरदास व्यक्ति चेतना को उद्बुद्ध करते हैं, उसके मन मे निर्वेद की भावना जगाते है, साथ ही भगवान की भक्तवत्सलता (पद स 3), करुणाशीलता प्रेममयता (पद स 4), उदारता (पद स 8), कृपालुता, सहृदयता, और सुहृदयता, की ओर भी सकेत करते हैं, जिससे ससारविमुख व्यक्ति ईश्वरोन्मुख हो सके। कवि ने अपनी दास्य भावना की मुखर व्यजना की है। उसे हरिविमुख होने से असतोष एव विकलता है (पद स 27), उसे अपनी विषयासक्ति का पश्चाताप है (पद स 65), उसे अपने पाप का बोध है इसलिए ईश्वर के सम्मुख होने मे लज्जा की अनुभूति होती है (पद स 96)। वह अपनी दयनीय दशा का निवेदन करता

है (पद स 97) और अपना दैन्य भी प्रकट करता है (पद स 23)। भक्त के हृदय मे जब भगवतरति पूर्णत स्थापित हो जाती है, भगवान मे उसकी आस्था दृढ हो जाती है, तब भगवान के सामने वह न केवल अपना दैन्य ही निवेदित करता है, बल्कि वह भगवान की कृपा को अपना अधिकार समझता है। भक्त को अपनाना भगवान का कर्तव्य हो जाता है। भक्त अपनी पापचेतना के साथ भगवान की भक्तवत्सलता के सामने एक चैलेंज के रूप मे उपस्थित होता है। पतित और पतितपावन, अधम और अधम-उद्धारक की होड है, प्रतिद्वद्विता है। भक्त की दृढता और धृष्टता विनोद से युक्त होकर भगवान के सम्मुख उपस्थित होती है।

भक्त की दास्य भावना मे जब दृढता आ जाती है तो वह भगवान से भक्ति की माग करता है। सूर की इस दृढता और धृष्टता मे ओज और विनोद का सयोग है

आजु हौं एक-एक करि टरिहौ।
कै तुमही कै हमही, माधौ, अपन भरोसे लरिहौं।
हौं तौ पतित सात पीढिनि कौ, पतितै ह्वै निस्तरिहौ।
अब हौ उघरि नच्यौ चाहत हौ, तुम्हे बिरद बिन करिहौ।
कत अपनी परतीति नसावत, मैं पायौ हरि हीरा।
सूर पतित तबही उठिहै, प्रभु जब हसि दैहौ बीरा॥ (134)

सूरदास में विनोदप्रियता एक विशेष तत्त्व है जो उनके काव्य मे सर्वत्र व्याप्त है। वह शात, दास्य, वात्सल्य, सख्य और दापत्य प्रेम की सभी अवस्थाओ मे विद्यमान है। विनोद व्यक्ति की आतरिक वेदना को आवृत करने का एक साधन भी है।

सूरदास के विनय के पद भाव और विचार दोनो दृष्टियो से कबीर आदि निर्गुण सतो के पद-साहित्य से प्रभावित हैं, किंतु सतसाहित्य का स्पष्ट प्रभाव सूरदास की रहस्यानुभूति मे है। रहस्यानुभूति मे विस्मय मुख्य भाव है। सगुण भक्त कवियो मे इस रहस्यानुभूति का अभाव ही है। आचार्य रामचद्र शुक्ल के अनुसार, अज्ञात या परोक्ष तथ्य की व्यजना की अन्योक्ति पद्धति निर्गुण सतो की बानी की विशेषता है जिसका एकाध झोका व्यक्तिगत साधना मे लीन रहने वाले सूरदास को भी लगा था। आचार्य शुक्ल ने अन्योक्ति द्वारा परोक्ष या अज्ञात तथ्य की व्यजना को कृत्रिम और काव्य सत्य के विरुद्ध माना है।[17] वस्तुत ज्ञानमय चिह्नो या प्रतीको के माध्यम से ब्रह्म की उपासना और उसकी अभिव्यजना कबीर आदि निर्गुण सतो की बानी की ही विशेषता नही है, बल्कि इसका मूल उपनिषदो मे उपलब्ध है। रहस्यानुभूति से अनुप्रेरित काव्य को कृत्रिम और काव्यसत्य के विरुद्ध मानने पर विश्व के सत साहित्य के बहुलाश का अवमूल्यन हो जाएगा और

फिर मन को गुदगुदाने वाला काव्य ही काव्य रह जाएगा, आत्मशक्ति को जाग्रत करने वाला काव्य अकाव्य घोषित कर दिया जाएगा। यह काव्य के मूल्याकन के इतिहास की एक बडी ट्रेजेडी होगी। आचार्य शुक्ल का यह मत सही है कि जीवन-यथार्थ मे विच्छिन्न रहस्यानुभूति काव्य-रचना का स्वाभाविक क्षेत्र नही है, लेकिन जहा रहस्यानुभूति मे सच्ची तन्मयता होती है, वहा कविता का उत्कर्ष दिखाई देता है। एक बात यह भी ध्यान देने की है कि रहस्यवादी कविता मे केवल आलबन अलौकिक होता है, अनुभूतिया नहीं, अनुभूतिया लौकिक जीवन की ही होती हैं। सूर की कविता मे रहस्यानुभूति की भी व्यजना है। लेकिन यह सूर की काव्य-रचना का स्वाभाविक क्षेत्र नही है।

सूरदास के विनय के पदो मे वैराग्य-भावना की प्रधानता है, ससार की असारता और मिथ्यात्व की चर्चा है। यह सूर की भक्तिभावना का प्रस्थान बिंदु है। भक्ति आदोलन की विचारधारा मे वैराग्य और ससार की असारता की बातें धार्मिक चिंतन की जगत सबधी मिथ्या चेतना की उपज हैं। धार्मिक विचारधारा की उलटी विश्वचेतना मे वास्तविक जगत अवास्तविक बन जाता है और काल्पनिक ईश्वर वास्तविक बताया जाता है। सूर के विनय के पदो मे दैन्य और वेदना के भाव हैं। ये भाव एक ओर जीवन की वास्तविकता की उपज हैं और दूसरी ओर जीवन की वास्तविकता से पलायन के परिणाम भी। सूर के विनय के पदो मे बार-बार ससार की असारता की चर्चा के माध्यम से उस युग के विलासी सामती समाज की वास्तविक जीवन-दशाओ का भी चित्रण हुआ है। फिर भी, विनय के पदो मे सूरदास की कविता का उत्कर्ष नही है, उनमे भक्ति आदोलन और भक्तिकाव्य की एक सामान्य प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति हुई है।

वात्सल्य

प्रम मे आत्मदान और आत्मीयता के सहारे जिस आत्मविभोरावस्था की उपलब्धि होती है, उसकी पराकाष्ठा वात्सल्य मे प्रकट होती है। बालक माता-पिता की आत्मा का दृश्य रूप ही होता। बालक के रूप मे माता-पिता अपनी आत्मा को समूर्तित देखते हैं और वह दोनो के प्रेम का घनीभूत रूप होता है। पुत्र माता-पिता का आत्माश होता है—'आत्मना जायते पुत्र ।' माता-पिता की आत्मा की पूर्णता के लिए, व्यक्तित्व की समृद्धि, भावनाओ की सपुष्टि, इच्छाओ की सतुष्टि और प्रेम की परिपुष्टि के लिए बालक का होना जरूरी है। माता-पिता का बालक के प्रति स्नेह दापत्य जीवन का जीवनरस बन जाता है। महाकवि भवभूति ने लिखा है कि सतान निश्चय ही प्रेम की पराकाष्ठा है और सतान माता-पिता के परस्पर-प्रेम का प्रधान हेतु भी होता है।[18] माता-पिता के स्नेह का आलबन होने के कारण पुत्र आनद का एक ऐसा सूत्र बन जाता है जिसमे दपति

का अत करण जुडा होता है। बालक की प्रत्येक क्रिया और चेष्टा से माता-पिता का हृदय आनदमग्न होता है। महाकवि कालिदास ने लिखा है

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवच प्रवृतीन्।
अकाश्रयप्रणयिनस्तन यान्वहन्ती धन्यास्तदगरजसा मलिनीभवन्ति ॥[19]

(अभिज्ञान शाकुतलम् 7/17)

अर्थात् वह भाग्यवान धन्य है जिसकी गोद मे बैठकर यह स्वभाव से हसमुख कली के समान कुछ-कुछ झलकते हुए दातो वाला और तुतला-तुतलाकर बातें करने वाला बालक अपने अग की धूल से उसके अग को मलिन वरता होगा। बालक के निश्छल, निर्विकार, पवित्र एव भोले स्वभाव और मोहक स्वरूप से असीम उल्लास का जन्म होता है।

वात्सल्य मे मगलविधान, रक्षण और आनदानुभूति का योग होता है। प्रेम के ये तीन विधायक तत्त्व वात्सल्य मे अपनी उत्कर्षित अवस्था मे होते हैं। वात्सल्य प्रेम की ऐसी अवस्था है जिसमे नि स्वार्थ, कामनारहित, स्नेह का प्रकाश होता है। वात्सल्य मे सौंदर्यानुभव का तत्त्व होता है, किंतु उसमे पालन और रजन की प्रवृत्ति ही प्रमुख होती है। वात्सल्य का क्षेत्र सेवा, त्याग और आत्मविसर्जन का क्षेत्र है। यहा प्रेम मे प्रतिदिन की चिंता नही रहती। वात्सल्य का भाव प्राणी मात्र मे होता है। जिसने अपने भाव जगत को इतना विस्तृत कर लिया है कि उसमे सारा विश्व समाहित हो जाए, उसकी विश्व के कण-कण से आत्मीयता स्थापित हो जाती है। प्राणी मात्र के लिए उसके हृदय मे अक्षय स्नेह होता है।

भारतीय सस्कृति मे सयुक्त परिवार समाज-व्यवस्था की एक अत्यत आवश्यक आधारभूत इकाई है। बालक परिवार मे सृष्टि के विकासक्रम की एक नई कडी है। भारत के प्राचीन सामाजिक दार्शनिको ने धार्मिक, सामाजिक एव सास्कृतिक दृष्टियो से सतान की महत्ता प्रतिष्ठित की है। बालक माता-पिता के दापत्य प्रेम का फल है। माता-पिता के पारस्परिक अस्तित्वबोध और अस्तित्व-विलयन के फलस्वरूप नवीन सत्ता का अभ्युदय सतान के रूप मे होता है, इसलिए जीवन को समग्रता मे ग्रहण करने वाले कवि या कलाकार के लिए वात्सल्य भाव की अनुभूति और अभिव्यक्ति आवश्यक है। भारतीय सस्कृति के गायक अनेक कवियो ने वात्सल्य की अभिव्यजना की है। भारतीय सस्कृति के आधार काव्य रामायण मे वाल्मीकि ने बालकाड के अठारहवें सर्ग मे रामादि की बाल-लीलाओ का चित्रण किया है। अश्वघोष के 'बुद्धचरित' के प्रथम सर्ग मे गौतम बुद्ध का बाल्यकाल वर्णित है, किंतु उसमे मानवीय भावाकुलता कम और आध्यात्मिक या दिव्य आभा का आलोक ही अधिक दिखाई पडता है। उसमे माता-पिता का चित्त आनद और भय दोनो ही भावो से भरा है, पुत्रोपलब्धि का आनद

और पुत्र मे अमानुषी शक्तियो के लक्षण से भय। बालक गौतम के मनोहर रूप और अलौकिक शक्तिसपन्नता से माता-पिता का हृदय राग और विराग के बीच स्थित है। गौतम बुद्ध की आखो का मनोहर वर्णन अश्वघोष ने किया है।[20]

तस्याक्षिणी निर्निमिषे विशाले स्निग्धे च दीप्ते विमले तथैव।
निष्कम्पकृष्णायतशुद्धपक्ष्मे द्रष्टु समर्थे खलु सर्वभावाम् ॥ 1/38 ॥

अर्थात उसकी आखें निर्निमेष होकर देखती हैं, निर्मल और विशाल हैं, चमकीली और स्निग्ध भी, स्थिर और खूब लबी काली पपनियो वाली। उसकी आखें सब कुछ देख सकती हैं।

बुद्धचरित मे अश्वघोष के वात्सल्य-वर्णन मे गौतम बुद्ध के जन्म के कारण, स्वरूप की अलौकिकता, उनके स्मृतिजन्य ज्ञानी स्वभाव और बालक के दिव्य स्वरूप, कर्म, वातावरण, प्रभाव एव लक्षण की कृष्ण के जन्म की स्थिति से सामानता दिखाई पडती है।

कालिदास ने रघुवशम् के तृतीय सर्ग मे रघु की बाललीलाओ और दिलीप के स्नेहस्निध वात्सल्य भाव का मोहक वर्णन किया है

रथागनाम्नोरिव भावबन्धन बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम्।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयो परस्परस्योपरि पर्यचीयत ॥ 3/24 ॥

राजा और रानी मे चकवा और चकई के समान गाढा प्रेम था। वह प्रेम यद्यपि एकमात्र पुत्र रघु मे बट गया था, फिर भी उनके परस्पर प्रेम मे कमी नही हुई, उलटे वह बढता गया।

उवाच धात्र्या प्रथमोदित वचो ययो तदीयामवलम्ब्य चागुलिम्।
अभूच्च नम्र प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुद तेन ततान सोऽर्भक ॥3/25॥

जब बालक रघु कुछ बडे हुए तब धाय ने उन्हे जो कुछ सिखाया, वे उसे अपनी तोतली बोली मे बोलने लगे, उसकी उगली पकडकर चलने लगे और सिर झुका कर बडो को प्रणाम करना भी सीख गए। राजा दिलीप अपने पुत्र की ये बाल-लीलाए देखकर फूले नही समाते थे।

तमकमारोप्य शरीरयोगजै सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृत त्वचि।
उमान्तसमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञता ययौ ॥3/26॥

जब राजा उसे गोद मे उठाते तब उनका शरीर छूने से ऐसा जान पडता था मानो उनके शरीर पर अमृत की फुहारें बरस रही हो। उस समय आखें बन्द करके वे बहुत देर तक यह आनद लेते ही रह जाते थे।

कुमारसभवम् के प्रथम सर्ग मे कालिदास ने बालिका पार्वती की अग-सुषमा, बाल-क्रीडाए और सहज मेधा का मनोहर वर्णन किया है तथा ऐसी चद्रकला-सी सतत वृद्धिमान कमनीय कन्या के सान्निध्य से पार्वती के माता-पिता के हृदय मे उमडते हुए वात्सल्य की भावधारा का भी वर्णन किया है। कुमारसभवम् के

एकादश सर्ग मे लिखा है कि कुमार (कार्तिकेय) के सभवोपरात पुत्र के प्रथम दर्शन से ही शिव और पार्वती के हृदय मे वात्सल्य के अबाध प्रवाह से आनदातिरेक मे आखें छलछला उठी। स्नेहाकुल पार्वती वात्सल्य मे बेसुध हो रही थी, रोम-रोम स्नेह छलक रहा था और आकुल नेत्रो से कुमार के रूपरस का पान कर रही थी। पुत्रवती जननी के वात्सल्य निमग्न हृदय का चित्रात्मक वर्णन कालिदास ने किया है

निसर्गवात्सल्यरसौघसिक्ता सान्द्रप्रमोदामृतपूरपूर्णा।
तमेकपुत्र जगदेकमाताभ्युत्सगिन प्रस्नविणी बभूव ॥11/23॥

माता-पिता की वात्सल्यानुभूति और उसके मानसिक शारीरिक प्रभावो का कालिदास ने आकर्षक वर्णन किया है। बालक कुमार की ललित बाललीलाओ पर माता-पिता विमुग्ध हैं। कुमार की बाल चेष्टाओ का वर्णन कालिदास इस रूप मे कर रहे हैं

तत कुमार स मुदा निदानै स बाललीलाचरितैर्विचित्रै।
गिरीशगौर्योर्हृदय जहार मुदे न हृद्या किमु बालकेलि ॥11/40॥
क्वचित्स्खलद्भि क्वचिदस्खलद्भि क्वचित्प्रकम्पै क्वचिदप्रकम्पै।
बाल स लीला चलनप्रयोगैस्तयोर्मुद वर्धयति स्म पित्रो ॥ 11/42॥
अहेतुहासच्छुरिताननेन्दुर्गु हागृणक्रीडनधूलिधूम्रः।
मुहुर्वदन्किंचिदलक्षितार्थं मुद तयोरकगतस्ततान॥ 11/43 ॥

कालिदास के इस बालस्वभाव, बालक की ललित क्रीडा और नैसर्गिक वात्सल्य के कलात्मक वर्णन का प्रभाव निश्चय ही परवर्ती भारतीय कवियो पर पडा होगा। इसमे बालक के स्वभाव, क्रीडा, चेष्टा और रूप-लावण्य के कलात्मक अकन तथा माता और पिता के वात्सल्यपूर्ण स्नेहस्निग्ध आनदातिरेक मे डूबे हृदय की प्रत्येक गतिविधि का उद्घाटन करके कालिदास ने सूरदास जैसे वात्सल्य के रससिद्ध कवियो के लिए ऐसी परपरा का सूत्रपात किया है, जिसका विकसित रूप सूरसागर मे प्रकट हुआ है।

भास के बालचरित नाटक मे कृष्ण की बाललीलाए वर्णित हैं तथा भवभूति के उत्तररामचरित मे भी वात्सल्य की सुगधि व्याप्त है। विष्णु पुराण और भागवत पुराण मे श्रीकृष्ण की बाललीला गाई गई है। अपभ्र श के कवि पुष्पदत के उत्तरपुराण मे नारायण की बाललीला का मनोहर वर्णन है। इस प्रकार वाल्मीकि से प्रारभ होने वाली भारतीय कविता मे वात्सल्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति की एक परपरा का निर्माण हुआ और उस सपूर्ण परपरा को आत्म-सात कर सूरदास ने सूरसागर मे वात्सल्य के सयोग और वियोग दोनो पक्षो की सम्यक व्यजना करके उसके रसत्व को पूर्णत' प्रतिष्ठित कर दिया। सयोग काल के वात्सल्य का वर्णन पूर्ववर्ती अनेक कवियो ने किया है, किंतु वियोग

काल के वात्सल्य भाव की अभिव्यजना सूरदास की देन है। इस प्रकार सूरदास ने वात्सल्य के दोनो पक्षो की सफल अभिव्यजना करके भारतीय काव्य और काव्यशास्त्र की परपरा को एक नवीन दिशा और एक नया आयाम दिया।

सूरदास भक्तकवि हैं और काव्य उनके लिए श्रीकृष्ण की लीलागान का एक साधन है। श्रीकृष्ण का प्रेममय स्वरूप ही सूर की भक्तिभावना का केद्रबिंदु है। वल्लभ सप्रदाय मे वासल्यासक्ति का विशेष महत्त्व है, क्योकि इसमे 'जीव की शुद्धावस्था मे पाप-पुण्य निर्लिप्त सच्चिदानद कृष्णचद्र की शिशु मूर्ति ही भक्तिभावना का विषय बनती है।'[21] वल्लभ सप्रदाय और सूरदास की प्रेमभक्ति के आराध्य गोपालकृष्ण हैं, उनकी बालमाधुरी तथा ब्रजलीला ही भक्त की अनुभूति के विषय हैं, क्योकि यही कृष्ण का प्रेममय स्वरूप है। गोपालकृष्ण के बालस्वरूप की आराधना, सेवा तथा बाललीलाओ के गान का वल्लभ सप्रदाय मे विशेष महत्त्व है, इसलिए भक्त सूरदास की भावना और कल्पना मे बाल गोपाल की छवि बसी हुई है। श्रीकृष्ण की बालमाधुरी और ललित बालक्रीडाओ की सहज अनुभूति से सूरदास का मानसलोक आलोकित है, इसलिए सूरदास वात्सल्य रस के सिद्ध कवि बन सके है। दूसरी बात यह है कि सूरदास कोमल भावनाओ के कवि हैं, प्रेम के कवि है, अत वात्सल्य और दापत्य रति को ही उन्होने अपने काव्य का मुख्य विषय बनाया है। वात्सल्य भावो मे कोमलतम है, इसलिए सूर की मनोवृत्ति उसमे विशेष रमी है। इस प्रकार आराध्य के रूप मे श्रीकृष्ण की शिशुमूर्ति का मानस मे प्रत्यक्षीकरण तथा वात्सल्य की 'सकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता' के कारण सूरदास वात्सल्य की सफल अभिव्यजना मे सक्षम हो सके है।[22] अनुभूति की सच्चाई के बिना अभिव्यक्ति मे सौंदर्य नही आ सकता और इन दोनो के अभाव मे कविता नही हो सकती।

सूरदास के वात्सल्य-वर्णन के दो पक्ष हैं—(क) सयोग वात्सल्य, और (ख) वियोग वात्सल्य। सयोग वात्सल्य के मुख्य अग हैं—(1) रूप-वर्णन, (2) क्रीडा, चेष्टा और मुद्राओ का वर्णन, (3) बाल स्वभाव का वर्णन, (4) सस्कारो का वर्णन, और (5) मातृहृदय का प्रकाशन।

'सस्कृति सौंदर्यबोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।'[23] सौदयबोध के विकास मे सास्कृतिक परपरा और व्यक्ति-चेतना का योगदान होता है। सूरदास ने श्रीकृष्ण की जो बालछवि निर्मित की है, उसमे उनकी सास्कृतिक चेतना और आत्मचेतना के दर्शन होते हैं। श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी का बिबात्मक वर्णन सूर की आत्मानुभूति का परिणाम है। श्रीकृष्ण का जन्म ही सौदर्य-सिंधु का अनत प्रवाह है, जिनमे सपूर्ण ब्रजमडल निमग्न है (पद स 647)। श्रीकृष्ण का रूप-लावण्य सर्वत्र रूपपिपासु नेत्रो के लिए अमृत है, पालने मे, यशोदा की गोद मे, आगन मे और धूल-धूसरित धरा पर। वे सोते, जागते, खेलते, नाचते

हर समय सारे ससार के लोचनो के सर्वस्व है। प्रारभ मे सूरदास ने बाल श्रीकृष्ण के महज सौदय का वणन किया है, क्योकि पहले तो माता-पिता के लिए बालक का अस्तित्व ही सुखद है। मा यशोदा और पिता नद श्रीकृष्ण के नैसर्गिक सौदर्य पर मुग्ध हैं। पालने मे सोते समय या करबट बदलते समय सदा उनके रूप-रस का पान करते हुए नही थकते है। बालक श्रीकृष्ण का सूरदास प्रथम आलकारिक वर्णन करते हैं

> ललन हौं या छबि ऊपर वारी।
> बाल गोपाल लागौ इन नैननि, रोग-बलाई तुम्हारी।
> लट लटकनि, मोहन, मसि बिंदुका तिलक भाल सुखकारी।
> मनौ कमल-दल सावक पेखत, उडत मधुप छवि न्यारी।
> लोचन ललित, कपोलनि काजर, छवि उपजति अधिकारी।
> सुख मैं सुख औरे रुचि बाढति, हसत देत किलकारी।
> अलप दसन, कलबल करि बोलनि, बुधि नहि परत विचारी
> विकसित ज्योति अधर बिच, मनौ बिधु मैं विज्जु उज्यारी।
> सुन्दरता को पार न पावत रूप देखि महतारी॥
> सूरसिधु की बूद भई मिलि मति गति दृष्टि हमारी॥ (709)

इस पद मे मा के मन की अनेक भावनाओ, आकाक्षाओ और हलचलो का चित्रण है। लगता है सूरदास मा के हृदय-नेत्रो से बालक कृष्ण को देख रहे है। वे इस प्रथम आलकारिक वर्णन मे अलकारो का प्रयोग सचेत होकर करते हैं, क्योकि ऐसा न हो कि अलकारो से श्रीकृष्ण का नैसर्गिक सौदर्य ढक जाए। जब सूरदास श्रीकृष्ण के बालक रूप का बिंबात्मक चित्रण प्रारभ करते है तो एक से एक मनोहर चित्र निर्मित होते जाते है (पद स 716)। एक पद मे कवि ने श्रीकृष्ण का गतिशील बिंबात्मक चित्र खीचा है ·

> सोभित कर नवनीत लिए।
> घुटुरुनि चलत रेनु-तनु मडित, मुख दधि लेप किये।
> चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन तिलक दिए।
> लट लटकनि मनु मत्तमधुप-गन मादक मधुहि पिए।
> कठुला कठ ब्रज केहरि नख, राजत रुचिर हिए।
> धन्य सूर एको पल इहि सुख, का सत कल्प जिए॥ (717)

इस पद मे बालक का रूप है और उसकी ललित चेष्टाए भी है।

खीझे हुए श्रीकृष्ण का मनोहर वर्णन सूर ने किया है, जिसमे रूप-सौदर्य और भाव-सौदर्य दोनो का सयोग है। यहा सूरदास एक के बाद एक स्थिर और गतिशील बिंबो की रचना करते हुए श्रीकृष्ण के सौदर्य का प्रत्यक्षीकरण सभव बनाते हैं

खीझत जात माखन खात।
अरुन लोचन, भौंह टेढी, बार बार जभात।
कहु रुनझुन चलत घुटुरुनि धूरि धूसर गात।
कबहु झुकि कै अलख खीचत, नैन जल भरि जात।
कबहु तोतर बोल बोलत, कबहु बोलत तात।
सूर हरि की निरिखि सोभा, निमिष तजत न मात॥ (718)

इस प्रकार सूरदास ने श्रीकृष्ण की बाल-छवि के अनेक मनोहर चित्रो का निर्माण किया है। इन शब्दचित्रो को देखकर कहा जा सकता है कि कविता मुखरचित्र है।

बालक कृष्ण की क्रीडा और विविध मनमोहक चेष्टाओ का जो मर्मस्पर्शी वर्णन सूरदास ने किया है, उससे उनकी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति एव बाल स्वभाव की सच्ची पहचान का प्रमाण मिलता है। बालक की सहज क्रीडाओ, चेष्टाओ और मुद्राओ से निर्मित मोहक रूप माता-पिता के आनद को निस्सीम बना देता है। श्रीकृष्ण धीरे-धीरे बडे हो रहे हैं, आगन मे घुटनो के बल चलना सीख रहे हैं, वे मणिमय आगन मे अपना प्रतिबिंब देखकर हसते और किलकारी मारते हैं और पीछे देखकर बार-बार मा को पुकारते हैं। (पद स 719) कृष्ण अपने मुख-प्रतिबिंब को पकडने के लिए घुटनो के बल दौड रहे हैं, किसी प्रकार स्फुट वाणी मे बोल रहे हैं और सकेत से मक्खन मागते हैं। बाल कृष्ण की ये चेष्टाए यशोदा के वात्सल्य-स्नेह को अत्यधिक प्रगाढ बनाती हैं

बाल विनोद खरो जिय भावत।
मुख प्रतिबिंब पकरिबै कारन हुलसि घुटुरवन धावत।
अखिल ब्रह्माड खड की महिमा सिसुता माहि दुरावत
सब्द जोरि बोल्यौ चाहत हैं, प्रकट बचन नहिं आवत।
कमल नैन माखन मागत है करि करि सैन बतावत।
सूरदास स्वामी सुख सागर, जसुमति प्रीति बढावत। (720)

श्रीकृष्ण कुछ अधिक बडे हो गए हैं और अब स्वय कुछ गाने का प्रयास करते हैं, स्वय नाचते हैं, प्रसन्न होते हैं। कभी-कभी वे कजरी और धौरी गायो को पुकारते हैं, कभी नद को बुलाते हैं और कभी मणिमय खभो मे अपना प्रतिबिंब देख उसे दूसरा बालक समझकर नवनीत खिलाते हैं। यशोदा छिपकर श्रीकृष्ण की इन बाललीलाओ को देखकर अत्यत हर्षित होती है (पद स 795)।

सूरदास ने बालक कृष्ण की बाल चेष्टाओ का ही वर्णन नहीं किया है, उनके रूप लावण्य का ही चित्रण नही किया है, उन्होने बालक श्रीकृष्ण के अत सौंदर्य या अतर्भावनाओ की रमणीयता का भी उद्घाटन किया है, जिससे बालक के नैसर्गिक स्वभाव की व्यजना हुई है। बालको मे ईर्ष्या, स्पर्धा, या प्रतिद्वद्विता की

भावना प्रबल होती है। वह माता-पिता के स्नेह का अपने को एकाधिकारी समझता है, उस क्षेत्र मे दूमरे का प्रवेश उसके लिए असह्य है। कृष्ण सहर्ष माखन खा रहे है, इसी बीच घडे के स्वच्छ जल मे अपना प्रतिबिंब देखकर और उसे दूसरा बालक समझकर बुरा मान जाते है। बालक को क्रोध आता है तो माता-पिता से ही वह अपने विरोधी की शिकायत करता है। कृष्ण ने रुष्ट होकर नद के पास जाकर उनसे शिकायत की कि किसी दूसरे बालक ने मेरा माखन खा लिया। नद ने कृष्ण को हृदय से लगाया और घडे के पास कृष्ण को गोद मे लिए पहुचे तो कृष्ण ने देखा कि वह दूसरा बालक नद की गोद मे बैठा हुआ है। कृष्ण को नद के स्नेह पर ही शका हुई और वे मा यशोदा के पास पहुचे और कहा, 'मैं तुम्हारा बेटा हू, नद बाबा का नही, उन्होने दूसरे लडके को अपनी गोद मे ले लिया है और मेरा अनादर किया है।' यशोदा कृष्ण के साथ घडे के पास पहुची और घडे को हिला दिया, प्रतिबिंब खडित हो गया और कृष्ण प्रसन्न हो गए

माखन खात हसत किलकत हरि, पकरि स्वच्छ घट देख्यौ।
निज प्रतिबिंब निरखि रिस मानत, जानत आन परेख्यौ।
मन मे माष करत, कछु बोलत, नद बाबा पै आयौ।
वा घट मे काहू कै लरिका, मेरौ माखन खायौ।
महर कठ लावत, मुख पोछत चूमत तिहि ठा आयौ।
हिरदै दिए लख्यो वासुत कौ, तातै अधिक रिसायौ।
कह्यो जाइ जसुमति सौ ततछन, मै जननी सुत तेरौ।
आजु नद सुत और कियौ, कछु कियौ न आदर मेरौ। (774)

बालहठ अत्यत जटिल और कठिन होता है, उसके समक्ष तो राजहठ भी तुच्छ हो जाता है। मा ने रोते हुए कृष्ण को मनाने के लिए चद्रमा दिखाया तो कृष्ण उसे खाने के लिए मागने और रोने लगे। यशोदा को लेने के देने पडे। कहा चली थी कृष्ण को मनाने और बदले मे कृष्ण का हठ उन्हे अधिक परेशान करने लगा। यशोदा ने कृष्ण को खाने के लिए घी, मक्खन, दही आदि दिया और यह भी कहा कि चदा खेलने की चीज है, खाने की नही, लेकिन कृष्ण क्यो मानने लगे। उन्हे तो चद्रमा ही चाहिए (पद स 806)। यशादा ने कृष्ण को नई दुलहिन देने का प्रलोभन दिया, फिर भी कृष्ण न माने

मैया, मैं तो चद खिलौना लैहो।
जैहो लोटि घरनि पर अबही, तेरी गोद न ऐहौ।
सुरभी कौ पय पान न करिहौ, बेनी सिर न गुहैहो।
ह्वै हौ पूत नद बाबा कौ, तेरौ सुत न कहैहौ।

हसि समुझावति, कहति जसोमति, नई दुलहिया दैहौं। (811)

इस पद मे बालहठ, बालस्वभाव, धृष्टता, कौतुकप्रियता और उत्सुकता की ललित व्यजना है। बालहठ से उत्पन्न परेशानी मे भी आनदानुभूति करती हुई मा के ममता मिश्रित चातुर्य का भी वर्णन है।

अनुभूति के स्तर पर तन्मयता सूर की कविता की सबसे बडी विशेषता है। सूरदास वर्ण्यविषय के साथ तादात्म्य स्थापित करके उसकी अभिव्यक्ति करते हैं। वे जब बालक कृष्ण की लीलाओ, चेष्टाओ और मनोभावो की व्यजना करते हैं तो स्वय बालक बने प्रतीत होते है और जब मा यशोदा की अनुभूतियो की अभिव्यक्ति करते हैं तो मातृहृदय से युक्त जान पडते हैं। सूर की गहरी अनुभूति और तन्मयता के कारण उनकी कविता मे 'तदाकार परिणति' की अद्भुत क्षमता है।

समवयस्क बालको की मित्रमडली मे सहज भावो का प्राकृत रूप और सरल बुद्धि का भोला विकास दिखाई पडता है। बच्चे एक दूसरे को चिढाते हैं और एक बच्चा खीझकर मा से उसकी शिकायत करता है। खेल मे बलराम ने कृष्ण को भी खिझाया। कृष्ण यशोदा से शिकायत करते हैं कि वह कृष्ण को ही डांटती है, बलदेव पर कभी क्रोधित नही होती। यशोदा ने कृष्ण की मनोकामना पूरी की और कहा कि बलदेव जन्म का ही धूर्त है (पद स 833)। यशोदा कृष्ण के मुख से रसभरी बातें सुनकर और कृष्ण की मोहक मुद्रा देखकर प्रसन्न ही होती है। बालक की अतर्भावनाओ का सौदर्य और बालस्वभाव की विशेषताओ का वर्णन माखनचोरी के प्रसग मे हुआ है। कृष्ण माखनचोरी के लिए एक गोपी के घर मे घुसे तो मणिमय खभे मे अपना प्रतिबिब देखकर पहले डरे और फिर साहस करके उसे मित्र बना लिया। कृष्ण को डर है कि कही उस बालक द्वारा इनकी चोरी प्रकट न हो जाए। कृष्ण ने कहा कि हम लोगो की जोडी अच्छी है, आज से हम लोग चोरी का सामान आधा-आधा बाट लिया करेंगे। कृष्ण अपने उस मित्र को (प्रतिबिब को) मक्खन खिलाते हैं तो प्रतिबिब से टकराकर मक्खन जमीन पर गिर पडता ह्। कृष्ण सोचते हैं कि शायद इसे पूरा चाहिए, हिस्सा नही। लेकिन यह तो बुरी बात है। माखनचोरी के इस प्रसग मे कृष्ण के सहज आचरण, स्वभाव और भोले चातुर्य पर किस सहृदय का स्नेह नही उमड पडगा

> आजु सखी मनि-खभ निकट हरि, जह गोरस का गो री।
> निज प्रतिबिब सिखावत ज्यो सिसु, प्रगट करै जनि चोरी।
> अरध विभाग आजु तै हम तुम, भली बनी है जोरी।
> माखन खाहु कतहि डारत हौ, छाडि देहु मति भोरी।
> बाट न लेहु, सबै चाहत हौ, यहै बात है थोरी। (885)

एक दिन कृष्ण माखनचोरी मे पकडे गए। जब मा यशोदा के सामने उपस्थित किए गए तो कृष्ण ने कहा, 'मैंने माखन नही खाया है।' 'लेकिन मुह मे जो लगा

है वह क्या है ?' 'हा याद आया इन सभी सखाओ ने मिलकर बलपूर्वक मेरे मुह मे माखन लगा दिया है। मा तू ही देख, माखन तो सीके पर बहुत ऊचाई पर रखा है। मैं भला छोटा बालक अपने हाथो से उसे कैसे पा सकता हू ?' 'लेकिन आपके मुह मे माखन लगा है, हाथ मे माखन से भरा दोना है। यह कैसा है, कहा से आया है ?' कृष्ण बडे चतुर है, उन्होने तुरत मुह पोछ लिया और दोने को पीठ पीछे छुपा लिया। अब कहा हैं माखनचोरी के चिह्न ? यशोदा कृष्ण की इस बालबुद्धि और भोले तर्कों पर मन ही मन अत्यत प्रसन्न है (पद स 953)। माखनचोरी के प्रसग मे बालक के भोले स्वभाव, सरल वाक्चातुर्य और मनोमुग्धकारी आचरण से विनोद, हास्य और स्नेह का मोहक वातावरण प्रस्तुत हुआ है।

सूरदास लोक-सस्कृति के कवि हैं। लोक-सस्कृति विशेषत लोक-सस्कारो मे प्रकट होती है। लोक-सस्कारो मे लोकजीवन के कलारूप—काव्य, सगीत, नृत्य और चित्र—पलते हैं। लोक-सस्कारो मे ही लोकजीवन का सच्चा भावात्मक इतिहास व्यक्त होता है। सूरदास का काव्य भावनात्मक उल्लास और आत्मशक्ति के विकास के स्तर पर विश्वजनीन है, सास्कृतिक स्तर पर सपूर्ण भारतीय सस्कृति के मौलिक उपादानो का उसमे उपयोग है, लेकिन क्षेत्रीय सस्कृति या ब्रज सस्कृति का तो वह विशाल कोश ही है। ब्रज के लोकजीवन के विभिन्न सस्कारो और उनमे व्यक्त कलाओ को अत्यत परिष्कृत बनाकर सूरदास ने अपने काव्य का अविभाज्य अग बना लिया है। ब्रज के लोकजीवन, लोकचेतना और लोकमेधा का कलात्मक उपयोग सूरसागर मे है। भारतीय हिंदू का जीवन जन्म से मृत्यु पर्यंत सस्कारो मे आबद्ध है। सस्कार दो प्रकार के होते हैं—(क) शास्त्र प्रतिपादित मुख्य सस्कार, और (ख) लोकगृहीत गृहकर्म या क्षेत्रीय सस्कार। सूरदास ने अपने आराध्य श्रीकृष्ण को प्रत्येक दृष्टिकोण से लोकजीवन के निकट लाने का प्रयास किया है, जनसामान्य के जीवन से सहज तादात्म्य स्थापन का प्रयास किया है। यही कारण है कि कृष्ण का जीवन भी सस्कारों मे बधा हुआ है। इन सस्कारो मे आबद्ध श्रीकृष्ण से जनसामान्य का सहज आत्मीय सबध स्थापित हो जाता है।

सूरदास ने वात्सल्य-वर्णन मे शास्त्रीय सस्कारो और क्षेत्रीय प्रचलित सस्कारो का उपयोग किया है। शास्त्रीय सस्कारो मे नामकरण (पद स 703), अन्नप्राशन (पद स 707), और कर्णबेध का वात्सल्य के अतर्गत समावेश है। कृष्ण के जन्मोत्सव का कवि ने अत्यत ऐश्वर्यमय और भव्य वर्णन किया है। सूरसागर मे वर्णित कृष्ण-जन्मोत्सव का बाणभट्ट के हर्षचरित मे वर्णित हर्ष के जन्मोत्सव से साम्य है।[24] सभवत सूरसागर और हर्षचरित के जन्मोत्सव-वर्णन मे साम्य का कारण मध्यकालीन सस्कृति की एकरूपता और परपरागत शास्त्रीय

सस्कारो की समानता है। सूरदास के जन्मोत्सव के विशद वर्णन का एक कारण वल्लभ सप्रदाय की सेवाभावना भी है, जिसमे नित्यसेवा और वर्षोत्सव सेवा मुख्य है। वर्षोत्सव मेवा मे कृष्ण के जन्मोत्सव का भी आयोजन होता है। ब्रज मे कृष्ण के जन्म के बाद प्रत्येक क्षण उत्सव और आनद से भरपूर है। ब्रज के क्षेत्रीय सस्कारो मे नारच्छेदन का प्रेममय झगडा है (पद स 633), छठी का उत्सव है, ढाढी और ढाढिनी के नृत्य, सगीत एव बधाई गान का वर्णन है (पद स 649)। इसके साथ ही गृहकर्म का उत्सव भी वर्णित है (पद स 659)। कृष्ण ने प्रथम बार करवट बदली तो माता पिता की अभिलाषाए ही करवट बदलने लगी। उस करवट बदलने का भी एक उत्सव सूरसागर मे वर्णित है (पद स 686)। कृष्ण एक वर्ष के हुए तो वर्षगाठ का आनदोत्सव सपन्न हुआ (पद स 712)। इस वर्षगाठ के उत्सव मे लोकजीवन की सुगधि है, स्नेह का मधुर वातावरण और हार्दिक उल्लास का परिवेश है, इसमे आधुनिक जन्मदिन के उत्सव की औपचारिकता नही है।

सूरदास ने सस्कारो के वर्णन मे लोकगीतो का सहारा लिया है। लोकगीत मे ही लोकजीवन का सच्चा चित्र व्यक्त होता है। विभिन्न सस्कारो के अवसरानुकूल क्षेत्रीय लोकगीत भारतवर्ष मे सर्वत्र प्रचलित है। श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव के समय मगलगान, सोहिलौ या सोहर आदि लोकगीतो का प्रयोग है। इस जन्मोत्सव मे ही सौभाग्यवती तथा कुमारी गोपिकाए गारी गाती हैं (पद स 644)। सूरदास का वात्सल्य-वर्णन पूर्णत गीतमय है। सूरदास के वात्सल्य-वर्णन का सबसे महत्त्वपूर्ण अग है मातृहृदय का प्रकाशन। मातृहृदय की इच्छाओ, आशाओ और कोमलतम भावनाओ की जैसी सूक्ष्म और सजीव व्यजना सूरसागर मे हुई है, वह अद्वितीय है। यशोदा कृष्ण की ललित लीलाओ मे असीम आनद की अनुभूति करती हैं। यशोदा कृष्ण को पालने मे झुला रही है। बच्चे को सुलाने के लिए 'जोई सोई' कुछ गा रही हैं। माताए लोरी मे जैसे तैसे कुछ जोडकर ही गाती है, कोई शास्त्रीय सगीत नही गाती। सभव है, यशोदा गा रही हो—'मेरे लाल को आउ निदरिया, काहे न आनि सुवावै। तू काहे नहिं वेगिहिं आवै तोको कान्ह बुलावै।' गीत सुनते-सुनते कृष्ण की नीद से बोझिल आखे कभी मुद जाती है और कभी अधर फडक उठता है। यशोदा कृष्ण को सोया जानकर गाना बद कर देती हैं तो कृष्ण अकुला उठते हैं और यशोदा फिर लोरी गाने लगती है

> जसोदा हरि पालनैं झुलावै।
> लहरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै।
> मेरे लाल कौ आउ निदरिया, काहे न आनि सुवावै।
> तू काहैं नही वेगिहिं आवै, तोको कान्ह बुलावै।

कबहु पलक हरि मूदि लेत हैं, कबहु अधर फरकावै ।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि करि सैन बतावै ।
इहि अतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरै गावै ।
जो सुख सूर अमर मुनि दुरलभ, सौ नद भामिनि पावै ।। (661)

वात्सल्य का स्नेह ही उस सुख का कारण है जो देवताओ और मुनियो को भी दुर्लभ है। यह पद मातृहृदय का दर्पण और बालक की मनोदशा तथा मोहक मुद्राओ का मुखर चित्र है। इस पद मे कवि की सूक्ष्म अवलोकन शक्ति, गहरी अनुभूति और भावात्मक तादात्म्य की व्यजना है। यशोदा कृष्ण को चलना सिखा रही है। हर माता अपने बालक को चलना सिखाती है। कभी यशोदा कृष्ण को अपना हाथ पकडा देती है तो कृष्ण डगमगाते पैरो से चलने का प्रयास करते हैं। मा कृष्ण के मुख-सौदर्य का अपलक रसपान कर आनदमग्न होती हैं। कभी-कभी पुत्र की हिताकाक्षा से प्रेरित होकर कुल देवताओ से विनय करती है। इस प्रकार सयोग वात्सल्य मे पुत्रवती जननी के स्नेह स्निग्ध हृदय के समग्र भाव-ससार की अभिव्यक्ति सूरदास ने की है।

वियोग वात्सल्य

सयोग वात्सल्य मे बालक कृष्ण का मनोरजनकारी रमणीय रूप है, उनकी सहज बाललीलाए, चेष्टाए एव विभिन्न स्वाभाविक मुद्राए हैं, बालक की मनोवृत्ति और मनोदशाओ का वर्णन है तथा आनदमग्न ममतामयी मा का वात्सल्यपूरित पावनस्वरूप है। लेकिन वियोग वात्सल्य मे करुणामयी त्यागमूर्ति माता का वात्सल्य-विह्वल हृदय अभिव्यक्त हुआ है। सयोग वात्सल्य का वर्णन कालिदास आदि मे भी उपलब्ध है, लेकिन वियोग वात्सल्य की रसात्मक अभिव्यजना सूर दास की कवित्व शक्ति की निजी विशेषता है।

कृष्ण के मथुरागमन के पश्चात यशोदा के भावविह्वल मातृहृदय का सौदर्य दिखाई पडता है। ब्रजवासियो के सर्वस्व कृष्ण के मथुरा जाने के समाचार से यशोदा का चित्त विह्वल हो उठा। यशोदा अपने प्राणो से भी अधिक प्रिय कृष्ण और बलराम को मथुरा मे असुरो के बीच जाने देने के लिए तैयार नही हैं। कृष्ण यशोदा के एकमात्र धन है, उन्हे वह बार-बार देखकर प्रसन्न होती हैं। कृष्ण से एक पल का भी वियोग असह्य है। यशोदा ने कृष्ण, बलराम और नद आदि से मथुरा न जाने के लिए प्रार्थना की। सपूण ब्रज मे कोई भी ऐसा हितैषी उन्हे नही दिखाई पडता जो कृष्ण को मथुरा जाने से रोक ले। यशोदा का दैन्य और दुख अनिर्वचनीय है (पद स 3592)। यशोदा ने कृष्ण से मथुरा न जाने का आग्रह किया। मा की असह्य व्यथा से निकले एक-एक शब्द उसके हृदय की व्याकुलता का दर्शन करा रहे हैं

मोहन इतौ मोह चित धरिये।
जननी दुखित जानि के कबहु, मथुरा गवन न करियै।
यह अक्रूर क्रूर कृत रचिकै, तुमहि लैन है आयौ।
तिरछे भए करम कृत पहिले, विधि यह ठाट बनायौ।
बार-बार जननी कहि मौसौ, माखन मागत जौन।
सूर तिनहिं लैबे को आए, करि हैं सूनौ भौन ॥ (3594)

यशोदा की निरीहता और दुख से सारा ब्रजमडल दुखी है। यशोदा ने बलराम से भी प्रार्थना की और फिर सभी ब्रजवासियो से कहा कि कृष्ण को मथुरा जाने से रोको, सकोच से काम नही चलेगा, इन्हे अक्रूर के साथ न जाने दो, कृष्ण के ब्रज से जाते ही ब्रज की शोभा विनष्ट हो जाएगी (पद स 3608)। जब कृष्ण मथुरा जाने को तत्पर हो गए तो यशोदा एक पल के लिए कृष्ण का मुख देखना चाहती हैं

मोहन नैकु बदन तन हेरौ।
राखौ मोहिं नात जननी कौ, मदनगुपाल लाल मुख फेरौ। (3609)

मथुरा से नद के लौटने के बाद यशोदा का चित्त अत्यत व्याकुल है। यशोदा ने नद को धिक्कारा और तरह-तरह से व्यग्य किया। नद-यशोदा के दापत्य जीवन का एकमात्र सहारा कृष्ण अब उनके पास नही है, इसलिए कृष्ण की स्मृति ही उनके जीवन का सबल है। यशोदा को अब कृष्ण का दर्शन दुर्लभ ही लगता है (पद स 3781)। यशोदा की अभिलाषा है कि नद किसी प्रकार कृष्ण को एक बार ब्रज ले आए (पद स 3783)। यशोदा ने नद की हृदयहीनता पर व्यग्य किया और कहा

सराहौ तेरौ नद हियौ।
मोहन सौ सुत छाडि मधुपुरी, गोकुल आनि जियौ।
कहा कह्यौ मेरे लाल लडेतै, जब तू बिदा कियौ।
जीवन प्रान हमारे ब्रज की, बसुधौ छीनि लियौ।

सूरदास प्रभु स्यामलाल धन, लै पर हाथ दियौ। (3704)

सूरदास ने स्मृति के सहारे वियोग वात्सल्य का वणन किया है। कृष्ण के उपयोग तथा उपभोग की वस्तुओ को देखकर यशोदा का चित्त बार-बार व्याकुल हो जाता है और कृष्ण की स्मृति उद्बुद्ध हो जाती है

यद्यपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि मेरे, मोहन के मुख जोग।
निसि बासर छतिया लै लाऊ, बालक लीला गाऊ।
वैसे भाग बहुरि कब ह्वै है, मोहन मोद खवाऊ।

जा कारन मुनि ध्यान धरैं, सिव अग विभूति लगावैं।
सो बालक लीला धरि गोकुल, ऊखल साथ बधावै।
बिदरत नही ब्रज्र को हिरदै, हरि वियोग क्यो सहिए। (3785)

प्रिय के वियोग के बाद बार-बार व्यक्ति को अपने दोष और प्रिय के गुणो का खयाल आता है। यशोदा ने कृष्ण को माखनचोरी और माटी-भक्षण के लिए डाटा था। उन बातो की स्मृति से बार-बार उनका मन विकल हो जाता है।

नद कृष्ण को मथुरा छोड आए। इस बात के लिए यशोदा नद को फटकारती है और उनकी हृदयहीनता पर व्यग्य करती हैं। यशोदा खीझकर नद से कहती हैं कि तुम अपने ब्रज के साथ सुख से रहो और मैं मथुरा जाकर कृष्ण मे मिलूगी

नद ब्रज लीजै ठोकि बजाइ।
देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी, जह गोकुल के राइ।
नैननि पथ कहौ क्यो सूझ्यौ, उलटि दियो जब पाइ। (3787)

आचार्य शुक्ल के शब्दो मे इस पद मे उद्विग्नता, व्यग्य तथा 'गहरी उत्सुकता और अधीरता के बीच विरक्ति (निर्वेद) और तिरस्कार मिश्रित खिझलाहट का अनूठा मेल है।'[25] यशोदा की दीनता एक पथिक के द्वारा मथुरा सदेश भेजने मे प्रकट है। यशोदा को कृष्ण का सान्निध्य चाहिए, चाहे मा के रूप मे या धाय के रूप मे। यशोदा मथुरा मे वसुदेव की दासी बनकर भी कृष्ण के निकट रहना चाहती हैं

हौ तो माई मथुरा ही पै जैहौ।
दासी ह्वै वसुदेव राइ की, दरसन देखत रैहौ।
राखि राखि एते, दिवसनि मोहिं, कहा कियौ तुम नीकौ।
सोऊ तो अक्रूर गए लै, तनक खिलौना जी कौ। (3789)

यशोदा की अतिम अभिलाषा और लालसा केवल कृष्ण के दर्शन की है। यशोदा का मातृहृदय यह मानने को तैयार ही नही है कि कृष्ण की सेवा उनके अतिरिक्त कोई और कर सकता है। यशोदा ने अत्यत विनय और दीनता के साथ देवकी के पास सदेश भिजवाया

सदेसौ देवकी सौ कहियौ।
हौ तो धाइ तिहारे सुत की, मया करत ही रहियौ।
जदपि टेव तुम जानति उनकी, तउ मोहिं कहि आवै।
प्रात होत मेरे लाल लडैते, माखन रोटी भावै।
तेल उबटनो अरु तातौ जल, ताहिं देखि भजि जाते।
जोइ जोइ मागत सोइ सोइ देती, क्रम क्रम करि कै न्हाते। (3794)

सयोग मे यशोदा का हृदय स्नेह, आनद, अभिलाषा, आक्रोश, विस्मय, खीझ और

गव से पूरित है, हर्षातिरेक तो उनके रोम-रोम से प्रकट होता दिखाई पडता है। वियोग मे दैन्य, विवशता, विकलता, स्मृति, अधीरता, विरक्ति, उदासीनता और तीव्र लालसा आदि भावो से यशोदा का हृदय भरा हुआ है।

सूरदास निश्चय ही वात्सल्य रस के रससिद्ध कवि है। वात्सल्य भाव से जुडी अनेक प्रकार की अनुभूतियो और सवेदनाओ के चित्रण मे सूर की सर्जनात्मक कल्पना का प्रमाण मिलता है। इस वात्सल्य के प्रसग मे कवि की व्यापक मानवीय सवेदनशीलता, मानव जीवन के मार्मिक रूपो तथा भावो से गहरी सहानुभूति और जीवन के रागपक्ष से उसके लगाव की अभिव्यक्ति हुई है। सूर की काव्यानुभूति मे वात्सल्य भाव के जो रूप है, वे एक विशेष सदर्भ से जुडे होने पर भी व्यापक जनजीवन मे मौजूद वात्सल्य की अनुभूति के समान है, इसलिए सूरदास के वात्सल्य चित्रण मे साधारणीकरण की असाधारण क्षमता है। सूर के बाल कृष्ण के रूप, व्यवहार, लीला, चेष्टा और विभिन्न भाव दशाओ मे प्रत्येक सहृदय पाठक सामान्य बच्चे के जीवन और व्यवहार को प्रतिबिंबित पाता है सूर के कृष्ण की विशिष्टता को भूलकर पाठक उसे सामान्य बच्चे के रूप मे देखता है। यही नही, सूर की यशोदा के मातृहृदय से हर मा अपने हृदय का तादात्म्य कर सकती है। सूरदास के वात्सल्य वर्णन मे मनुष्य के बचपन के सभी वास्तविक और सभावित पक्षो की अभिव्यक्ति हुई है। बाल मनोविज्ञान के अध्येताओ के लिए सूर का वात्सल्य वर्णन अक्षय भडार है। मनुष्य के बचपन और बचपन की मनुष्यता का सूर से बडा दूसरा कवि विश्व साहित्य मे अब तक पैदा नही हुआ है।

सख्य भाव की अभिव्यक्ति

मानव जीवन के विकास क्रम मे वात्सल्य के बाद प्रेम का दूसरा रूप सख्य मे प्रकट होता है। बधुत्व, मित्रता और सुहृदयता आदि सख्य के ही विभिन्न पक्ष है। सूरदास ने मानव प्रेम के इस रूप पर भी ध्यान दिया है। सूर के काव्य मे सख्य का एक पक्ष विशुद्ध मानवीय है और दूसरा भक्ति से जुडा हुआ है। सूरसागर के गोचारण-प्रसग मे सख्य भाव की अभिव्यजना हुई है। कृष्ण बाल्यावस्था को पार कर किशोरावस्था प्राप्त करते है। अब वे अन्य समवयस्क किशोर ग्वालो के साथ वृदावन मे गोचारण के लिए जाते हैं। कृष्ण रैता, पैता, मना, मनसुखा और हलधर आदि के साथ गोचारण मे जाना चाहते हैं और वशीवट के नीचे ग्वालो के साथ खेलना चाहते है। यशोदा कृष्ण को गोचारण मे जाने से मना करती है, किंतु बलराम के सरक्षण मे कृष्ण गोचारण में जाते हैं। गोचारण मे कृष्ण का गोपाल रूप अत्यत आकर्षक है। कृष्ण के घर से छाछ आने पर कृष्ण गिरिश्रृग पर चढकर सुवल, श्रीदामा आदि को बुलाते हैं और सभी गोप बालक

एक साथ प्रेम से भोजन करते हैं। यह है सख्य का उत्कर्ष जहा श्रीकृष्ण ग्वाल सखाओ से सहजीवन और समानता का व्यवहार करते हैं। सखाओ मे क्रीडा के समय सख्य और समानता का भाव व्यक्त हुआ है। जब खेलने मे कृष्ण एक बालक से हार जाते हैं तो उस पर अपने बडप्पन का रोब जमाना चाहते है। इससे सखाओ मे क्षोभ उत्पन्न होता है। क्रीडा मे हार जाने के बाद कृष्ण जब बुरा मान जाते है तो श्रीदामा क्षुब्ध होकर कहते हैं

> खेलत मैं को काको गुसैया।
> हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैया।
> जाति पाति हमतें बड नाही, नाही बसत तुम्हारी छैया।
> अति अधिकार जनावत याहें जातें अधिक तुम्हारे गैया।
> रुहठि करै तासौं को खेलै, रहे बैठि जह तह सब ग्वैया।
> सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउ दियौ करि नद दुहैया। (863)

ग्वाल सखाओ के बीच गोचारण मे समता का भाव है। कृष्ण मुरली बजाकर सखाओ का मनोरजन करते हैं और दानलीला मे उन्हे अपना सहयोगी बनाते हैं। वे गोचारण मे बकासुर, अघासुर, धेनुक आदि का वध करते है, कालीदमन करते हैं, दावानल पान करते हैं और गोवर्धन धारण भी करते है। अपने इन सभी अलौकिक कर्मो और अद्भुत पराक्रम से कृष्ण व्रजवासियो और ग्वाल सखाओ का रक्षण भी करते हैं। इसलिए गोचारण मे जहा समता का भाव है वहा सखाओ मे सख्य है, अटूट और प्रगाढ। जहा उनका अलौकिक कर्म से सपन्न रक्षक रूप है वहा सखाओ मे विनय की भावना दिखाई पडती है। सूरदास यह ध्यान रखते हैं कि उनके कृष्ण व्रजवासी गोपाल होकर भी परम ब्रह्म हैं, इसलिए प्रत्येक प्रेम-मयी लीला मे कृष्ण का दिव्य स्वरूप भी प्रकट होता है।

गोचारण मे प्रकृति के उन्मुक्त परिवेश के बीच मनुष्य के सहज स्वच्छद जीवन के आदिम रूप की झलक मिलती है। मानव समाज का आदिम जीवन सामूहिक था, जिसमे वह सामूहिक प्रयास से अपना पालन-पोषण और बाह्य आक्रमण से आत्मरक्षण करता था। यह सामूहिक जीवन प्रेम और समता पर आधारित था। वैदिक ऋषि जब कहता है—'समानी प्रपा सह अन्नभाग सामने योक्त्रे वो युनज्मि' (अथर्ववेद), तब वह प्रेम और सहयोग के सूत्र मे आबद्ध होकर साथ-साथ जल पीने, अन्न ग्रहण करने तथा सत्कर्म मे प्रवृत्त होने का ही सदेश देता है। गोचारण मे यही आदर्श चरितार्थ होता दिखाई देता है। उन्मुक्त प्राकृतिक परिवेश का प्रेममय सामूहिक जीवन काव्य और अन्य कलाओ के लिए सामत काल मे आकर्षण बिंदु रहा है। आदिम कविता मे समूह की भावनुभूति और मनोदशाओ की व्यजना ही प्रधान है और उसमे समूह का प्राकृतिक जीवन ही व्यक्त हुआ है। यूरोप मे आज भी वर्जिल की पशुचारण कविताओ (पेस्टोरल्स

पोयम्स) के सहज भावलोक मे वर्तमान बौद्धिक जीवन की जटिलता से ऊबा और आक्रात व्यक्ति, क्षणिक ही सही, सुख और शाति का अनुभव करता है।

ब्रजभाषा का गोचारण काव्य अतीत को पूर्णत आत्मभूत करने का रागात्मक प्रयास है। सूरदास ने गोचारण मे गोप ग्वालो के सामूहिक प्राकृतिक जीवन को महत्त्व दिया है। इसमे गोचारण की भावना और जीवन-पद्धति दोनो की व्यजना है। गोचारण मे कृष्ण का सामान्य जीवन है। यहा वे सखाओ के बीच समान स्तर पर दिखाई पडते हैं। वे नद के मणिमय आगन से निकलकर प्रकृति की गोद मे अन्य ग्वाल सखाओ के साथ समान आचरण करते हैं। गोचारण मे ही गोपाल ने गोवर्धन पूजा की हैं। सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य कवि परमानददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, नददास तथा कृष्णदास आदि ने भी गोचारण-सबधी पदो की रचना की। गोचारण के पदो मे भी वृदावनलीला की महत्ता व्यक्त हुई है, जो वल्लभ सप्रदाय मे विशेष महत्त्वपूर्ण और समादृत है। गोचारण के पदो मे सूरदास का प्रकृतिप्रेम व्यक्त हुआ है। सूरदास के काव्य मे प्रकृति मानव जीवन मे सक्रिय सहयोगी है, केवल भावो को जगाने का साधन नही है। सूरसागर मे प्रकृति के कोमल और रौद्र दोनो रूपो की अभिव्यक्ति हुई है। काव्य मे प्रकृति चित्रण का लक्ष्य केवल सौंदर्यानुभूति या सौंदर्यबोध को जगाना नही है, उसमे प्रकृति और मनुष्य का आत्मीय सबध भी व्यक्त होता है। सूरसागर के गोचारण-प्रसग मे प्रकृति का जहा आलबन रूप मे चित्रण है वहा कवि की निरीक्षण शक्ति का प्रमाण मिलता है। प्रात काल का वर्णन आलकारिक होते हुए भी मनोरम है। सूरदास ने प्रकृति के कोमल स्वरूप का ही वर्णन नही किया है, उसके भयानक विस्मयकारी अद्भुत रूप की भी बिंबात्मक व्यजना की है।

शृगार का स्वरूप

काव्यशास्त्र मे जिसे शृगार रस कहा जाता है, वही भक्तिशास्त्र मे मधुर रस या उज्ज्वल रस माना जाता है। माधुर्य भाव दापत्य रति या प्रीति या प्रेम का ही दूसरा रूप है। दोनो मे भेद आलबन का ही होता है। मानवजीवन का रति-भाव ही अपने विशिष्ट रूप मे माधुर्यभाव बन जाता है। भक्तकवि सूरदास के काव्य मे रतिभाव और माधुर्यभाव का ऐसा समन्वित रूप है कि दोनो अभिन्न बन गए हैं। सूर की काव्यानुभूति मे प्रीति का जो रूप है वह रति की सामान्य जीवनानुभूति और माधुर्य की विशिष्ट अनुभूति की एकता का परिणाम है। रति मानव के भावलोक का सर्वाधिक व्यापक एव तीव्र भाव है। यह सृजन की शक्ति है, जीवन शक्ति है, प्राणवत्ता का लक्षण एव परिणाम है। युग-युगातर से रति काव्यसृजन का केंद्रीय विषय रहा है। लोक मे जो कुछ उज्ज्वल और उदात्त है,

वह सब रति का विषय है। निश्चय ही लोकजीवन की उदात्तता रति के सुसस्कृत स्वरूप पर निर्भर है। रति सभी मानवीय सबधो का आधार है और इसकी गति लोकजीवन से लेकर दिव्य साधना तक है। पुरुष और प्रकृति, नर और नारी के पूर्ण एकात्म, रागात्मक सयोग की अभिव्यक्ति रति मे होती है। नर-नारी का मनोदैहिक प्रेमयोग मानव समाज का अति प्राचीन, किंतु नित्य नवीन सत्य है। वह प्रेमयोग मानव-मन की सौदर्य भावना, अनुभूति एव बोध का केंद्रबिंदु रहा है। इस प्रेमयोग मे नर-नारी के मानस की निर्वैयक्तिकता एव हृदय की गहन भावात्मकता के सयोग से अर्धनारीश्वर रूप विकसित होता है। नारी के आत्म-समर्पण तथा पुरुष मे आत्मप्रसार से रति की चरम अवस्था सिद्ध होती है।

भारतीय काव्यसर्जना का प्रस्थान बिंदु ही काममोहित क्रौंच युगल के बलात अलगाव से सवेदनशील कवि की पीडित आत्मा की मुखरता है। प्रेम कविता भारतीय काव्य-परपरा मे दो धाराओ मे प्रवाहित हुई है। महाकाव्य और नाटको मे सपूर्ण जीवन के बीच जीवन की गति की प्रधान प्रेरक शक्ति के रूप मे रति की व्यजना हुई है। खडकाव्य, मुक्तक और गीतिकाव्य मे मानव मन को शीघ्रता, तीव्रता और गहनता से प्रभावित करने वाली भावना के रूप मे रति की व्यजना हुई है। प्रेम कविता की इस मूल परपरा का भक्ति से सयोग होने पर दिव्य प्रेम-भावना से अनुप्राणित काव्यरचना की एक नवीन परपरा का विकास हुआ है। सूरसागर मे प्रेम-व्यजना की ये तीनो परपराए अविभाज्य रूप से समन्वित हैं।

सूर की कविता मे प्रेमकाव्य की भारतीय परपरा का नया रूप विकसित हुआ है। सूर की भक्तिभावना, सकल्पनात्मक अनुभूति और चरम तन्मयता के समन्वित प्रभाव के कारण उनकी प्रेमानुभूति मे महाकाव्यो की उदात्त समग्रता, मुक्तको की तीव्र प्रभावशीलता और लोकगीतो की सहजता का सगम है।

सूरसागर का गोपीकृष्ण-प्रेम स्वछद प्रेम है। इस प्रेम की दूसरी विशेषता है उसका सहज क्रमिक विकास। गोपीकृष्ण-प्रेम के स्वाभाविक विकास क्रम को सूर ने अत्यत सतर्कता से चित्रित किया है। गोपीकृष्ण-प्रेम की एक अन्य विशेषता है इसका व्यापक प्रसार, जिसमे प्रेम के लौकिक और दिव्य—दोनो रूपो का समावेश हो जाता है। आचार्य रामचद्र शुक्ल के अनुसार प्रेम की प्रतिष्ठा दो प्रकार से होती है—(1) सुदर रूप के अनुभव और (2) साहचर्य।[26] सुदर रूप के अनुभव से मन मे आकर्षण उत्पन्न होता है और साहचर्य के कारण मन रमता है, मनोवृत्तिया उस ओर प्रवृत्त होती हैं। लेकिन प्रेम के पोषण और विकास मे एक सहायक तत्त्व सहयोग भी है। इससे प्रेम के स्वाभाविक विकास का अवसर मिलता है। प्राकृतिक वस्तुओ के प्रति प्रेम की प्रतिष्ठा के लिए रूप-लोभ और साहचर्य या केवल साहचर्य ही पर्याप्त है, किंतु मानव-मानव के बीच प्रेम की प्रतिष्ठा मे सहयोग का तत्त्व आवश्यक है, अन्यथा सहयोग या सहयोग

की आशा के अभाव मे प्रेम दासता मे बदल जाता है या वह केवल एक मनो-कामना बनकर रह जाता है। प्रेम मे मिलन की उत्सुकता और आतुरता दोनो मे हो, तभी अनुराग का सम्यक विकास सभव है। महाकवि कालिदास ने लिखा है

> अनातुरोत्कण्ठितयो प्रसिद्ध्यता समागमेनापि रतिन मा प्रति ।
> परस्परप्राप्तिनिराशयोर्बर शरीरनाशोऽपि समानुरागयो ॥
>
> 'मालविकाग्निमित्रम्' ॥3।15॥

अर्थात जहा एक मिलन के लिए व्याकुल हो और दूसरा मिलना ही न चाहता हो, वहा उनका मिलना न मिलना बराबर है। पर जहा दोनो मिलने के लिए अधीर हो और दोनो एक-दूसरे के मिलने से हाथ धो बैठे हो वहा प्राण भी दे देना पडे तो बुरा नही है।

सूरसागर का प्रेमलोक दीप्ति, माधुर्य और कोमलता की स्निग्ध भूमि है। आचार्य रामचद्र शुक्ल के शब्दो मे, यहा बाहर नैनाभिराम रूपरेखा-विकसित वर्ण-वैचित्र्य, दीप्ति, विभूति-प्रभूत, चमक-दमक, शीतल स्निग्ध छाया, कलकठ स्वर, स्पदित सौरभ-समन्वित समीर, स्मित आनन, चपल भ्रूविलास, हास-परि-हास, सगीत सज्जा, वीणा की झकार इत्यादि है तो भीतर सौदर्य के मादक अनुभूति प्रेमोल्लास, स्वप्न, स्मृति, विस्मृति, व्रीडा-क्रीडा, दर्शन-पिपासा, उत्कठा, मुग्धता इत्यादि है।[27] सूरसागर मे प्रेम अपनी सपूर्ण सभावनाओ और विशिष्ट-ताओ के साथ अभिव्यक्त है।

श्रीकृष्ण की सपूर्ण प्रेमलीला का प्रेरक तत्त्व है उनका अलौकिक सौदर्य। कृष्ण का विमोहक सौदर्य गोपियो के आकर्षण का मूल प्रेरक तत्त्व है और इस आकर्षण से ही कृष्ण मे गोपियो की आसक्ति बढी है। कृष्ण के सौंदर्य मे प्रबल आकर्षण है, कृष्ण लोकमानस को अपनी ओर आकर्षित करते हैं और गोपिया स्वत कृष्ण की ओर आकृष्ट हो जाती हैं। सौंदर्य ही गोपीकृष्ण की प्रेमलीला की मूल शक्ति है। कृष्ण का सौंदर्य सुदरता के मदिर मे रूप-रत्न की ज्योति है (पद स० 754)।

श्रीकृष्ण के सौंदर्य के आलोक से गोपियो का मानस आलोकित है। गोपिया कृष्ण के रूप-लावण्य पर मुग्ध हैं, प्रेम विवश हैं। कृष्ण माखनचोरी के साथ-साथ गोपियो का चित्त भी चुराते हैं और गोपियो के हृदय मे क्रमश प्रेम विकसित होता है (पद स 893)। कृष्ण का गोपी विमोहन स्वरूप क्रमश विकासशील है। श्रीकृष्ण के एक-एक अग के सौदर्य मे आकर्षण की अद्भुत शक्ति है और उनके अग-अग का रमणीय रूप प्रत्येक क्षण नवीन होता जाता है। गोपिया उस असीम सौंदर्य को अपने चित्त मे सीमित करना चाहती हैं।

व्रज की सपूर्ण गोपी-कृष्ण-प्रेमलीला का आधार श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी और वेणु-माधुरी मे स्थित है। इस लीला में मुरली सक्रिय सहयोग देती है। रूप

और नाद के सहारे ही उल्लास और आह्लाद से भरपूर प्रेमसगीत की धारा प्रवाहित हुई है। रूपदर्शन मे मन की बोध वृत्ति और रागात्मिका वृत्ति की तृप्ति की असीम शक्ति है और नाद स्वर-झकृति के सहारे आत्मा से आत्मा के सयोग का कारण बनता है। नाद चचल चित्त को स्थिर कर एकनिष्ठ बनाता है। ब्रज की प्रेमलीला मे रूप और नाद दोनो का सहयोग है। मुरलीधर ने जो रूप और स्वर की साधना की, उसका गोपियो पर अमिट प्रभाव पडा

बसी री बन कान्ह बजावत।
आनि सुनौ स्रवननि मधुरे सुर, राग मध्य लै नाम बुलावत।
सर स्रुति तान बधान अमित अति सप्त अतीत अनागत-आवत।
जुरि जुग भुज सिर, सैंष सैल, मथि बदन पयोधि, अमृत उपजावत।
मनौ मोहिनी वेष धारि कै, मन मोहन मधु पान करावत।
महा मनोहर नाद, सूर, थिर चर मोहै, कोउ भरम न पावत। (1266)

प्रेम के पथ मे बुद्धि बाधक ही है। भावात्मक सबधो मे बुद्धि के प्रवेश से विकृति उत्पन्न होती है। प्रेम मे पूर्ण आत्मसमर्पण वाछित है, आत्मविभोरावस्था काम्य है। गोपियो के मन को इस आत्मविभोरावस्था मे लाने का कार्य मुरली द्वारा होता है (पद स० 1264)। मुरली के मुखरित होते ही बुद्धि, मर्यादा, चिंता और लोकलाज आदि प्रेम के बाधक तत्त्व तिरोहित हो जाते हैं।

गोकुल मे कृष्ण की प्रेमलीला अनेक धाराओ मे प्रवाहित हुई है, किंतु उसमे मुख्य धारा राधा-कृष्ण-प्रेम की है, जिसमे प्रेम की सभी धाराए समाहित हो जाती हैं। राधा-कृष्ण रूपराशि है, दोनो का अनुरागी चित्त एक-दूसरे की ओर उन्मुख है। यमुना के पुलिन पर दोनो की भेंट हुई, आखें मिली, मन मिले और देखते ही देखते दोनो एक हो गए, दोनो एक-दूसरे पर रीझ गए

खेलत हरि निकसे ब्रज खोरी।
कटि कछनी पीताबर बाधे, हाथ लए भौरा, चक डोरी।
मोर-मुकुट, कुडल स्रवननि बर दसन-दमक दामिनि छवि छोरी।
गए स्याम रवि तनया के तट, अग लसति चदन की खोरी।
औचक ही देखी तह राधा, नैंन विसाल भाल दिए रोरी।
नील वसन फारिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी।
.. ..
सूर स्याम देखत ही रीझें नैन-नैन मिलि परी ठगोरी। (1290)

राधा और कृष्ण के मन मे प्रेम अकुरित हुआ, दोनो के मन मे प्रेम का प्रथम प्रकाश हुआ, दोनो ने इस प्रथम स्नेह को जान लिया। यह पहला प्रेम राधा-कृष्ण के बीच की पुरातन प्रीति है, पुरातन नेह (पद स० 2306)। यह प्रकृति-पुरुष का शाश्वत अनुराग है। यहा गुप्त प्रीति का प्राकट्य है, गूढ़ प्रेम ही अनुकूल

परिस्थितियो मे प्रकट हुआ है। यह कोई नितात नवीन घटना घटित नही हुई है। यह सम प्रेम है, तुल्यानुराग है, जहा दोनो एक-दूसरे की भावनाओ की गहराई एव तीव्रता का अनुभव करते हैं और दोनो मे मिलन की उत्कठा तथा आतुरता है (पद स० 1292)।

राधा-कृष्ण के अतर मे जो प्रेम अकुरित हुआ वह निरतर मेल-मिलाप और साहचर्य से विकसित हो रहा है। राधा प्रेम-विवश है, चित्त विह्वल हैं, मन कृष्ण मे अनुरक्त है। राधा का मन लोकलाज और प्रेम की आतुरता के द्वद्व से व्याकुल है (पद स० 1296)। मौन मुखर होकर अब नोक-झोक मे बदल गया है (पद स० 1299)। वृदावन के कुजो मे सयोगलीला चलती है (पद स० 1308)। इस कामकेलि मे भावना की उष्मा है और आत्मिक उल्लास भी (पद स० 1309)। राधा कृष्णमयी और कृष्ण राधामय हैं, दोनो की प्रेम-दशा लोकोत्तर है। गोकुलवासी गोपाल और वृषभानुजा का प्रेम गोदोहन मे भी व्यक्त हुआ है। राधा गोदोहन के बहाने कृष्ण से अनेक बार मिलती हैं और हरि-रसवश हो जाती है (पद स० 1347)। सूरदास ने प्रेम नामक मनोभाव की स्वाभाविक गति की जितनी भगिमाओ का अकन किया है, वे काव्यशास्त्र या कामशास्त्र मे अनुपलब्ध होने पर भी जीवन मे सहज सभाव्य हैं। काम मोहित राधा की मनोव्यथा का दर्शन गारुडी प्रसग मे होता है।

कृष्ण और गोपियो की प्रेमलीला मनोभूमि से निकलकर सपूर्ण ब्रजभूमि मे व्याप्त हो गई है। वृदावन मे, जमुना तट पर, गोकुल की गलियो मे, कभी पन-घट पर, कभी दही बेचने के बीच, कृष्ण और गोपियो के बीच नोक-झोक, रीझ-खीझ, व्यग्य-विनोद, हास-परिहास और लीला-विलास नित्य चल रहा है। गोपियो मे कृष्ण के दर्शन की उत्सुकता, प्रेमातुर चित की चचलता, प्रेममग्न हृदय की आनदमयता, आत्मविभोर अवस्था की जडता और प्रेमोन्माद की पग-पग पर प्रत्येक पद मे व्यजना हुई है। पनघटलीला और दानलीला मे गोपीकृष्ण की प्रेम-लीला क्रमश विकसित हुई है। दानलीला मे गोपिया श्यामरस-मतवाली हैं। श्यामरस प्रेमरस ही है और श्रृगाररस भी। श्रृगाररस का रग श्याम ही माना गया है। सूरदास ने इस श्रृगाररस को ही महारस कहा है (पद स० 2242)। गोपिया प्रेमरस स्निग्ध हैं, हरिरस निमग्न हैं। गोपियो का शरीर, इद्रिया, मन, बुद्धि, चित्त तथा आत्मा सब प्रेममय है, कृष्णमय है। उन्हें अपनी सुधि नही है इसलिए वे दानलीला मे गोरस के बदले हरिरस ही बेच रही हैं। सपूर्ण आत्म-समर्पण और पूर्ण तन्मयता का ऐसा उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है। गोपियो का यह सर्वस्व कृष्णार्पण ही प्रेम की सिद्धावस्था है। गोपियो की आत्मा प्रेमज्योति से आलोकित है, उनकी वास्तविक प्रेमलीला चेतना के स्तर पर चलती है, शरीर तो उसकी अभिव्यक्ति का एक साधन मात्र है (पद स० 2258)। गोपियो के लिए

सपूर्ण जगत कृष्णमय है और जो कुछ कृष्णमय नही है या कृष्ण-प्रेम मे बाधक है, वह व्यर्थ है ।

गोपिया कृष्ण को पति के रूप मे प्राप्त करने की अभिलाषा रखती है, इसलिए वे शिव का पूजन करती है, सूर्य की अर्चना करती हैं । ग्वालिने प्रेम विवश है, लेकिन अभी उनके मन मे झिझक है, सकोच है। वे प्रयास करने पर भी लोक-लाज के भय से मुक्त नही है। उनके मन पर अनेक अनावश्यक लौकिक आवरण हैं । चीरहरण द्वारा कृष्ण ने उनके सकोच, लोकलाज और मानसिक आवरणो को हटाने का प्रयास किया है । गोपिया अनावृत निर्द्वंद्व मन से कृष्णासक्त हो, इसीलिए चीरहरण-लीला की योजना है । रासलीला कृष्ण का रासेश्वरी राधा तथा अन्य गोपियो से सामूहिक सयोग है, महामिलन है। यह सच्चिदानद से गोपियों के भावदेह का सयोग है, जहा नरदेह की सार्थकता समाप्त हो जाती है । प्रेम की यह सामूहिक परिणति सूर की भावानुभूति, कला और भक्ति की चरम उत्कर्षित अवस्था है । रासलीला के लिए उत्सुक, कृष्ण के सयोग के लिए अधीर गोपियो का अटपटा श्रृगार उनकी प्रेम-विकलता के आवेग का ही सूचक है । रासलीला के लिए उत्सुक गोपियो के श्रृगार मे विभ्रम हाव दर्शनीय है

> करत श्रृगार जुवती भूलाही ।
> अग-सुधि नही, उलटे बसन धारहि, एक एकहि कछू सुरति नाही ।
> नैन अजन अधर आजही हरष सो, स्रवन ताटक उलटे सवारै ।
> सूर-प्रभु सुखद ललित बेनधुनि, बन सुनत, जली बेहाल अचल न धारै
> (1616) ।

रासलीला मे कृष्ण के अतर्ध्यान होने पर गोपियो की विकलता और दैन्य का भी वर्णन है । जलक्रीडा मे ललित और विलासमय हाव-भावो का चित्रण है (पद स० 1778) । इसमे मन के साथ-साथ शरीर की भी ललित मुद्राओ का चित्रण है ।

प्रेम के सयोग पक्ष मे 'युगल समागम', 'दपतिविहार' तथा 'खडिता प्रकरण' आदि मे सूरदास जयदेव और विद्यापति से प्रभावित प्रतीत होते हैं । राधा मे कृष्ण के प्रेमजनित हर्ष और गर्व की व्यजना है । कृष्ण के बहुनायकत्व और गोपियो के परकीयत्व पर भी जयदेव और विद्यापति की छाया परिलक्षित होती है । सूरदास ने कृष्ण के बहुनायकत्व को विस्तार दिया है, पर परकीयत्व का सकेत है (पद स० 2538) । विद्यापति मे परकीया-प्रेम का विस्तार अधिक दिखाई पडता है । सूरदास ने सयोग मे 'आलिगन, चुबन, परिरभन, कुचयुग चारु परस्पर हासी' का भरपूर वर्णन किया है, किंतु यह विरह मे सिद्ध होने वाली प्रेम साधना का एक सोपान ही है। मान, अनुहार और मिलन का आयोजन भी सूरसागर मे परपराबद्ध ही है। सूरदास के रतिचित्रण मे जयदेव के गीतगोविंद

की प्रतिध्वनि है । सहज रति और विपरीत रति के शब्दचित्रो पर जयदेव और विद्यापति की परपरा का प्रभाव है ।

सूरदास के सयोग वर्णन मे विद्यापति की भाति कामशास्त्र की शास्त्रीयता नही है, उसमे स्वाभाविकता अधिक है, किंतु सयोग-वर्णन की पद्धति एव शारीरिक मुद्राओ के अकन की समानता दिखाई पडती है। जयदेव और विद्यापति के सयोग वर्णन मे शरीर का विलास अधिक है, किंतु सूरदास के सयोग-वर्णन मे मन की सूक्ष्म गतिया अधिक प्रकट हैं। रतिकेलि के अनतर रतिचिह्नो से विभूषित राधा के दो शब्दचित्रो की तुलना से यह बात स्पष्ट होगी । सयोग के बाद की राधा का एक शब्दचित्र सूर ने इस रूप मे निर्मित किया है

लटैं उघरारी कही छूटि छूटि आनन पै,
भीजी है फुलेलनि सौ आली हरि सग केलि ।
सौधें अरगजा अरु मरगजी सारी अग,
कहू दरकी कुचनि पर अगिया नवेलि ।
नैंन अरसात अरु बैनहू अटपटात,
जाति ऐंडाति गात गोरि बहियानि झेलि ।
सूर प्रभु प्यारी प्यारे सग करि रग रास,
अरस परस दोऊ अकम धरयौ है मेलि । (2628)

दूसरा चित्र जयदेव का इस प्रकार है

व्यालोल केशपाशस्तरलित मलकै स्वेदलोलौ कपोलौ
स्पष्टा दष्टाधर श्री कुचकलशरुचा हारिता हारयष्टि ।।
काची काचिद्गताशा स्तनजघनपद पाणिनाच्छाद्य सद्य ।
पश्यन्ती चात्मरूप तदीप विलुलित स्रग्धरेय धुनोति ।।
(गीतगोविंदम्, 1216)

इन दोनो शब्दचित्रो को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूरदास का शब्दचित्र गतिशील है, उसमे आगिक मुद्राओ और मन की गति एव दशा की व्यजना हो रही है, लेकिन जयदेव का शब्दचित्र स्थूल उपकरणो से सुसज्जित है । कुछ नग्नता का सहारा लिया गया है । जयदेव और विद्यापति का सयोग-वर्णन प्राय अभिधात्मक ही अधिक है, लेकिन सूर ने सयोग-वर्णन मे व्यजना का विशेष उपयोग किया है। सयोगलीला मे जयदेव की राधा रागमयी (वासना), विद्यापति की राधा अनुरागमयी (भाव) और सूरदास की राधा प्रेममयी (वासना+भाव+मनोवेग+मनोवृत्ति+बुद्धि) हैं। सूर के सयोग-चित्रो मे राधा-कृष्ण के शरीर, प्राण, मन और आत्मा की एकता का वर्णन है । सूरदास मे सयोग शृगार के अतर्गत सभी गोपियो मे और विशेषत राधा मे उत्सुकता, अभिलाषा, सकोच लज्जा, भय, व्याकुलता, आवेग, और गर्व आदि भावो की व्यजना हुई

है। श्रीकृष्ण के प्रेमाधिक्य से उत्पन्न गर्व से गभीर राधा की मनोदशा की व्यजना उसकी शारीरिक दशा और चाल-ढाल से प्रकट हुई है। आचार्य रामचद्र शुक्ल के शब्दो मे 'सूर का सयोग-वर्णन एक क्षणिक घटना नही है, प्रेम-सगीतमय जीवन की एक गहरी चलती धारा है, जिसमे अवगाहन करने वालो को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कुछ नही दिखाई पडता (रामचद्र शुक्ल, सूरदास, 163)।

वियोग-वेदना की अनुभूति

सस्कृत-काव्य-परपरा मे पुरुष और नारी दोनो के विरहाकुल हृदय की अभिव्यक्ति है। कालिदास के काव्य मे विरह का सतुलित रूप वर्तमान है। उनका मेघदूत तो पुरुष की विरह-व्याकुल मनोदशा एव भावोच्छ्वास का ललित निदर्शन है। मध्यकालीन काव्य मे पुरुष-विरह विरल है और नारी की विरहानुभूति तथा विरह-निवेदन की प्रधानता है। मध्यकालीन काव्य मे नारी-विरह निवेदन की प्रधानता का एक कारण है वह विचार-परपरा जिसमे ब्रह्म पुरुष है और नारी माया। ब्रह्म माया, शिव-शक्ति, पुरुष-प्रकृति मे निहित धारणा यह है कि नारी पुरुष की मूर्तिमती कामना है, पुरुष के भोग एव सृजन का साधन है, समर्पण उसका धर्म है और पुरुष से सयोग उसके जीवन का लक्ष्य। साख्य का पुरुष स्वतत्र, निर्बंध, तटस्थ द्रष्टा और भोक्ता है। पुरुष मूलत अनासक्त है, निष्क्रिय है, किंतु प्रकृति के सामीप्य से उसमे भाव-सचरण होता है। प्रकृति नारी है, सुकुमार है, उसमे प्रवृत्ति है, आसक्ति है। अत उसमे वियोग की वेदना की अनुभूति स्वाभाविक है। दूसरा कारण मध्यकाल के भक्ति दर्शन की वह धारणा है जिसके अनुसार सभी भक्त स्त्री-रूप है और कृष्ण ही एकमात्र पुरुष है। यह माधुर्य भाव की उपासना का आधार है। सभी भक्त गोपी-भाव से अपना सर्वस्व कृष्ण को अर्पित करते है, इसलिए वियोग की वेदना भक्तो मे, आत्माओ मे, गोपियो मे, अर्थात् नारी मे अनिवार्यत स्थित है।

नारी-विरह की प्रधानता का तीसरा कारण है नारी की मनोदैहिक रचना तथा जीवन के विकास की परिस्थिति। मनोदैहिक रचना की दृष्टि से पुरुष मे परुषता, पौरुष, शक्ति तथा सरलता है और श्रेष्ठता की भावना भी। नारी मे कोमलता, सौंदर्य, दुर्बलता, पराश्रयिता, भावनाओ की वक्रता तथा व्यवहार मे आकर्षण के लिए विशेष अदाज का होना अनिवार्य है। पुरुष मे सृजन की शक्ति है और नारी मे पोषण की। पुरुष मे मनस्तत्व की निर्वैयक्तिकता प्रधान है और नारी मे भावनाओ की गहनता। एक बुद्धिप्रधान आचरण की ओर उन्मुख है और दूसरी अनुभूति प्रवणता की ओर। एक मे मस्तिष्क की बौद्धिकता प्रबल है और दूसरी मे हृदय का भावात्मक एकात्म्य। एक सकल्प विकल्पात्मक मनु है

और दूसरी सपूर्ण आत्मसमर्पण मे सक्षम श्रद्धा । नारी मे तीव्र सवेदनशीलता है, जिससे उसकी विरहानुभूति बुद्धि के सयम के बाध को तोडकर प्रकट हो जाती है ।

मध्यकाल मे नारी-विरह की प्रधानता का चौथा कारण नारी की सामाजिक स्थिति है । पुरुष जीवन का प्रधान कारक है और नारी पूरक । नारी आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर आश्रित है और सामाजिक दृष्टि से पराधीन । वह पुरुष की सहधर्मिणी होकर भी दासी ही है । ममतामयी मा, समर्पणमयी पत्नी, स्नेहमयी भगिनी आदि अनेक रूपो में उसका एकमात्र धर्म है पुरुष की सेवा । मध्यकाल के सामती समाज मे नारी की परतत्रता एक निर्विवाद सच्चाई है। सामती व्यवस्था मे उसकी स्वतत्रता बधनो मे जकडी हुई है । उसके व्यक्तित्व की कोई स्वतत्र सत्ता नही है । सभ्यता के नाम पर उसका कभी दान किया जाता है और कभी असभ्यतावश उसका अपहरण होता है । वह पुरुष के लिए उपभोग की वस्तु मात्र है । मध्यकाल मे नारी की कोई स्वतत्र स्थिति नही है, इसलिए उसमे प्रार्थना, विनय, दयनीयता आदि का होना अनिवार्य है। मध्यकाल के सामती समाज मे नारी की यह विशेष सामाजिक स्थिति उसके विरह निवेदन मे प्रकट हुई है ।

वैभव एव विलास मे डूबी सामतवादी मनोवृत्ति की भी अभिव्यक्ति नारी-विरह मे दिखाई पडती है । सामतवादी प्रेम की धारणा शौर्यपरक होती है जिसमे नारी का कमनीय कामनी रूप सामतो के अहकार की तुष्टि का साधन बनता है । सामती व्यवस्था मे नारी की दासता अत्यत कठोर होती है, जहा उसका अस्तित्व केवल पुरुष की भावनाओ को जगाना और सुलाना है । यहा नारी की भावनाओ और कामनाओ की चिंता नही होती है । सामतो के अत पुर मे कामिनियो की जो विशाल सेना खडी की जाती है उसमे भावात्मक अभाव की जिंदगी जीने वाली नारियो के लिए केवल विरह-निवेदन ही एकमात्र विकल्प है ।

सूरदास को विप्रलभ श्रृगार की जो काव्य-परपरा परवर्ती सस्कृत काव्य, श्रीमद्भागवत और ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणो से प्राप्त थी, उसमे नारी की विरह-दशा की ही प्रधानता थी। विद्यापति के काव्य, हिंदी के वीरगाथाकाल के सामती शौर्यपरक प्रेमगाथा काव्य और भक्तो की आत्मविरहानुभूति के काव्य से जो परपरा सूर को मिली, उसमे भी नारी-विरह की ही प्रधानता थी, इसलिए सूरदास पर उसका प्रभाव पडना स्वाभाविक था । दूसरी बात यह है कि गोपियो की श्रीकृष्ण मे तन्मयासक्ति एव परमविरहासक्ति का चरम उत्कर्ष अभिव्यजित करना सूरदास का लक्ष्य था, इसलिए सूरसागर मे नारी-विरह की प्रधानता है। किंतु सूरदास ने श्रीकृष्ण को गोपियो के प्रेम का देवता ही नही माना है, बल्कि

एक सच्चा प्रेमी सिद्ध किया है। वियोग की अवस्था मे श्रीकृष्ण का हृदय विकल, चेतना चचल तथा आत्मा पीडित दिखाई पडती है। यह सूरदास की प्रतिभा की विशेषता ही कही जाएगी कि उन्होने साप्रदायिक सिद्धातो, तद्युगीन सामाजिक स्थितियो तथा काव्य-परपरा के दबावो के बावजूद गोपियो के साथ-साथ श्रीकृष्ण की विरहाकुल मनोदशा का भी चित्रण किया है। यद्यपि सूरसागर मे गोपियो के विरहव्याकुल हृदय की गतिविधिया ही मुख्य हैं, किंतु श्रीकृष्ण का विरहविकल मन भी उपेक्षित नही है।

वियोग प्रेम का साधना काल है, जिसमे चेतना का प्रसार होता है। व्यक्ति की चेतना लोक मे फैलकर कण-कण से आत्मीय सबध स्थापित करती हुई दिखाई पडती है। विरह मे प्रेम राशीभूत होकर प्रगाढ हो जाता है, प्रेमानुभूति का घनत्व और उसकी पीडा बढ जाती है

स्नेहानाहु किमपि विरहे ध्वसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसा प्रेमराशीभवन्ति ॥
—उत्तरमेघ । 55 ॥

विरह प्रेम की वह सात्विक अवस्था है जहा प्रेम की गति स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है, प्रेम शरीर से मन, मन से चित्त, चित्त से चेतना और चेतना से आत्मा की ओर गतिशील होता है। यहा प्रेमी शरीर से वियुक्त होकर भी भावना के स्तर पर सदा सयुक्त रहते हैं। सयोग मे प्रेम का क्षेत्र सकुचित होता है, उसमे दो के अतिरिक्त तीसरे के लिए कोई जगह नही होती। वियोग मे विरही और विरहिणी दोनो सारे ससार से सहानुभूति पाने की कोशिश करते हैं। सयोग का काल आत्मबद्धता का होता है, वियोग मे आत्मविस्तार होता है।

सूरदास ने सयोग-शृगार की विशद व्यजना की है लेकिन विरह मे तो उनकी आत्मा स्वय द्रवित होकर रसमय काव्य बन गई है। राधा और गोपियो के विरह के गीतो मे सूर की आत्मा का सगीत सुनाई पडता है। सूरदास ने विप्रलभ शृगार के अतर्गत मानव मन की गहराइयो, जटिलताओ एव विभिन्न दशाओ का जैसा कलात्मक चित्रण किया है, वह अद्वितीय है। सूरदास मानव की अत प्रकृति के सच्चे कलाकार कवि हैं। जिस प्रकार सूरदास को मानव का सहज नैसर्गिक जीवन प्रिय है, उसी प्रकार सयोग और वियोग मे प्रेम नामक मनोभाव की क्रियाशीलता की सहज गति विशेष प्रिय है। यही सूरसागर के प्रेम की विशेषता है। राधा और गोपियो की विरह-व्यजना मे सूरदास की काव्यकला और भक्ति-भावना दोनो का उत्कर्ष दिखाई पडता है। यहा सूर का ध्यान प्रेम के शास्त्रीय स्वरूप पर उतना नही है, जितना लोकजीवन मे प्राप्त उसके सहज, स्वाभाविक रूप पर।

काव्यशास्त्र मे विप्रलभ शृगार के चार भेद हैं (1) पूर्वानुराग, (2) मान,

(3) प्रवास और (4) करुण। इन भेदो मे पूर्वानुराग, मान और प्रवास विरह के कारण का सकेत करते हैं जबकि करुण विरही या विरहिणी की मानसिक दशा का द्योतक है। प्रेम की सयोगावस्था मे वियोग की आशका भी असह्य होती है, फिर प्रिय का दीर्घकालीन प्रवास या उससे उत्पन्न विरह की दशा निश्चय ही कारुणिक होगी। करुण विप्रलभ की अवस्था उसे कहा जा सकता है जब प्रिय के दीर्घकालीन प्रवास के कारण पुनर्मिलन की आशा अत्यत क्षीण या समाप्तप्राय हो गई हो। कठिन विरह भी मिलन की आशा से ही सह्य होता है, लेकिन इस आशा के क्षीण होते ही हृदयद्रावक चिर विरह की वेदना से विरही की दशा कारुणिक हो जाती है।

प्रिय के रमणीय रूप के दर्शन, चित्र-दर्शन या किसी सुहृद से प्रिय के रूप-गुण का वर्णन सुनकर प्रेयसी के चित्त मे जो प्रेमोद्भव होता है, उससे सयोग की प्रबल कामना जाग्रत होती है और सयोग मे विलब से जो मानसिक बेचैनी होती है, वही पूर्वानुराग से उत्पन्न विरह की अवस्था है। इस प्रकार का विरह अचानक उठ खडे हुए तूफान की तरह होता है, उसमे स्वाभाविकता का अभाव होता है। यह बिना परिचय का प्रेम है। सूरदास के काव्य मे अचानक पैदा हुआ प्रेम नही है। यहा बचपन से एक साथ रहने वाले कृष्ण और गोपियो के बीच सौदर्य के आकर्षण और जीवन मे साहचर्य से उत्पन्न प्रेम क्रमश विकसित और पुष्ट होता है।

कृष्ण और गोपियों का प्रेम सौदर्यानुभूति, साहचर्य और सहयोग मे पला और विकसित हुआ है। गोपिया प्रतिदिन कृष्ण के लुभावने रूप-रस का पान करती हैं, उनका मन कृष्ण मे अनुरक्त है। गोपिया कृष्ण से मिलन की कामना ही नही करती, उसके लिए प्रयास भी करती हैं। वे प्रेम-विवश हैं, उनका मन कृष्णमय है, हृदय मे हर्ष, अगो मे पुलक और उत्फुल्लता है। गोपियो मे श्रेष्ठ राधा के मोहक सौंदर्य की ओर कृष्ण भी आकृष्ट हैं और राधा-कृष्ण दोनो मे मिलन की आतुरता है। राधा का मन विशेष व्याकुल है, उनका हृदय भावनाओ के अत सघर्ष से बेचैन है। एक ओर सयोग की प्रबल आकाक्षा और दूसरी ओर सकोच, लज्जा तथा माता-पिता का भय है। राधा की ऐसी मन स्थिति का चित्रण सूर ने किया है

> नागर मन गई अरुझाइ।
> अति बिरह तनु भई व्याकुल, घर न नैकु सुहाइ।
> स्याम सुदर मदन मोहन, मोहिनी सी लाइ।
> चित चचल कुवरि राधा, खान पान भुलाइ।
> कबहु बिहसति, कबहु बिलपति, सकुचि रहति लजाइ।
> मातु पितु को त्रास मानति, मन बिना भइ बाइ। (1296)

सूरसागर के गारुडी-प्रसग मे पूर्वानुराग की विरह-दशा की व्यजना है। गोदोहन के मधुर प्रेम-प्रसगो के पश्चात राधा का मन कृष्ण मे अनुरक्त है, वियोग का एक क्षण भी विकलता का कारण है। मोहक सौंदर्य, बतरस, और मधुर मुस्कान से कृष्ण ने राधा का मन मोह लिया। चित्त को क्षण-भर भी चैन नही है। राधा को श्याम भुजग ने काट लिया है। यह श्याम भुजग काम है और कृष्ण भी। इस कामभुजग के डसने के बाद राधा की मानसिक और शारीरिक दशा अत्यत कारुणिक है। कृष्ण-दर्शन से श्याम भुजग का विष उतरता है। रासलीला के सयोग मे वियोग की जिस स्थिति की व्यजना सूरदास ने की है उसमे रहस्योन्मुखता है। सयोग मे वियोग की यह अवस्था काव्यशास्त्रनिरपेक्ष होकर भी भक्तिशास्त्र के अनुरूप है। श्रीकृष्ण का अकाम, निर्विकार रूप इसमे व्यक्त हुआ है। जब तक गोपिया कृष्णमय है, उनमे पूर्ण आत्मसमर्पण की भावना है तब तक कृष्ण से उनका सयोग है, लेकिन अहकार के जाग्रत होते ही कृष्ण से उनका वियोग अपरिहार्य है। गोपियो मे गर्व के अकुरित होते ही कृष्ण राधा के साथ रासलीला के बीच से अतर्ध्यान हो जाते है (पद स 1703)। गोपिया व्याकुल हैं, विरह-विकल है। राधा के चित्त मे भी गव का उदय देखकर कृष्ण उनसे भी विलग हो गए। कृष्ण तो अविगत, अज, अकल, अकाम हैं, वे भाव के बशीभूत है, इसलिए भावदेह से वे सयुक्त होकर भी राधा से भी नरदेह वियुक्त हो गए। निकट होकर भी दूर है। बहिर्यामी अब अतर्यामी हो गया है। राधा कृष्ण के वियोग मे अत्यत विकल हैं, वेदनाविह्वल हृदय, सजल लोचन, अस्फुट वाणी, दीर्घ नि श्वास से राधा की विरह-दशा व्यजित है

> बाए कर द्रुम टेके ठाढी।
> बिछुरे मदन गोपाल रसिक मोहि, विरह व्यथा तनु बाढी।
> लोचन सजल, बचन नहि आवै, स्वास लेति अति गाढी।
> नद लाल हमसौ ऐसी करी, जल तै मीन धरि काढी। (1721)

मान प्रेम की उत्कटता की वृद्धि का एक उपाय है। मान के विषय मे सूरदास का मत है 'स्याम मान है प्रेम कसौटी, प्रेमहि मान सहायौ।' मान प्रेम की कसौटी है, उसके खरेपन और खोटेपन की पहचान होती है तथा वह प्रेम को प्रगाढ करता है। राधा का प्रथम मान गर्वजनित मान है। सभी सखियो ने राधा-कृष्ण के सच्चे प्रेम की बार-बार प्रशसा की। गोपियो ने कहा कि कृष्ण राधा के बशीभूत हैं, राधा के दर्शन के लिए सदा बेचैन है, दोनो मे पूर्ण एकात्म्य और तादात्म्य है (पद स 2460)। राधा निर्मल नारी हैं, कृष्ण की सच्ची प्रेयसी है, उन्होंने ही श्याम को ठीक तरह से पहचाना है, कृष्ण उनकी प्रेम-तपस्या से उनके क्रीत दास हैं, राधा का सौदर्य सफल है, क्योकि वह प्रिय को प्रिय है (पद सं 2461)। कृष्ण राधा के ही हैं (पद स 2463)। वे दोनो एक प्राण दो तन हैं, उनका प्रेम नया नहीं,

अत्यत प्राचीन है। वे दोनो सहज प्रेमी है। जब ललिता ने कहा कि 'राधा नद-नदन तेरे ही वश मे है, तू परम भाग्यशालिनी है' तो राधा के हृदय मे हर्ष और गर्व का उदय हुआ। कृष्ण मिलने आए तो राधा ने मुह फेर लिया (पद स 2690)। गर्व और प्रेम मे बैर है। जहा गर्व है वहा गोविंद नही रह सकते और न प्रेम ही टिक सकता है। कृष्ण ने राधा मे गर्व देखा तो वहा से दूर हो गए। लेकिन राधा का मन तो सदा कृष्ण के अभाव मे बेचैन रहता है, कृष्ण के वशीभूत है, कृष्ण के रूपरस मे निमग्न है, कृष्ण मे अनुरक्त है। ऐसा मन क्या मान मे स्थिर रह सकता है? जब मन ही अपने हाथो मे नही है तो ऐसा मन मान मे स्थिर कैसे रह सकता है। राधा का मन कृष्ण के लिए व्याकुल हो उठा। विरह की वेदना से उनका मन विकल है, चित्त की सभी वृत्तिया कृष्ण मे लगी है, इसलिए वहा मान का अवसर ही नही है। राधा केवल स्मृति के सहारे जी रही है। राधा की जडता की अवस्था अद्भुत है और सयोग की कामना अत्यत प्रबल।

सूरसागर मे राधा के मान, विरह और सखी को दूती बनाने की पद्धति पर जयदेव के गीतगोविंद और विद्यापति का प्रभाव ज्ञात होता है। सूरसागर मे राधा और माधव के बीच ललिता ने दूतत्व किया है। ललिता ने कृष्ण के सामने राधा के असामान्य सौदर्य का जो आलकारिक वर्णन किया है, उसका विद्यापति के रूप से वर्णन साम्य है। राधा के मानजनित विरह की अवस्था की व्यजना मे सूरदास जयदेव और विद्यापति की परपरा मे ही दिखाई देते हैं। राधा की विरह-दशा का वर्णन सूरदास ने शिव के रूप मे किया है

सिव न, अबध सुदरी, वधौ जिन।
मुक्ता माग अनग, गग नहिं, नवसत साजें अर्थ स्याम घन।
भाल तिलक उडपतिन होइ यह, कबरिग्रथित अहिपति न सहस फन।
नहिं विभूति दधिसुत न कठ जड, यह मृगमद चदन चर्चित तन।
नहिं गज चर्म सु असित कचुकी, देखि विचारि कहा नदी गन।
सूर सुहरि अब मिलहु कृपा करि बरबस समर करत हठ हम सन।

(2736)

जयदेव ने भी विरहिणी राधा का शिव के रूप मे वर्णन किया है

हृदि विलसते हारो नाय भुजगमनायक
कुवलयदलश्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युति ।
मलयजरजो नद भस्म प्रियारहिते मयि
प्रहर न हरभ्रान्त्यानग क्रुधा किमु धावसि ॥

—गीतगोविंद, 3 । 2

विद्यापति ने भी पूर्वानुराग मे विरहिणी राधा का चित्रण इस तरह किया है

कत न बेदन मोहि देसि मदना, हर नहिं बला मोहि जुवति जना।

विभुति भूषन नहि चानननक रेनू, बघछल नहि मोरा नेतक वसनू।
नहि मोरा जटा भार चिकुरक बेनी, सुरसरि नहि मोरा कुसुमक स्रेनी।
चादक बिन्दु मोरा नहि इन्दु छोटा, ललाट पावक नहि सिन्दुरक फोटा।
नहि मोरा कालकूट मृगमद चारु, फनपति नहि मोरा मुकुता हारु।
भनहि विद्यापति सुन देव कामा, एक पए दूखन मोरावामा[28] ॥

सभव है विरहिणी का शिव के रूप मे वर्णन की परपरा जयदेव से भी प्राचीन हो, लेकिन जयदेव और विद्यापति के वर्णन से सूर के वर्णन मे पर्याप्त साम्य है। राधा का दूसरा मान भ्रातिजन्य मान है। राधा ने कृष्ण के हृदय मे अपने प्रतिबिब को ही दूसरी नारी समझकर मान कर लिया (पद स 3030)। कृष्ण राधा के इस मान पर चकित हैं और धीरे धीरे मुस्करा रहे है, जिससे राधा का क्रोध प्रति क्षण बढ रहा है (पद स 3032)। कृ०ण ने बार-बार अपनी सच्चाई की सफाई दी, किंतु राधा को कृष्ण की बेवफाई का विश्वास है, उनकी सच्चाई का नही (पद स 3037)। राधा के इस मान के साथ-साथ कृष्ण की कामदशा का भी सूर ने वर्णन किया है। कृष्ण व्याकुल है, लोचन सजल है। कृष्ण की विरह-दशा असह्य है, कभी वे कुजो मे बैठते है और कभी व्याकुल होकर खडे हो जाते है (बेचैनी)। कभी शरीर की सुधि भूल जाते हैं और कभी शरीर की सुधि आ जाती है (व्याकुलता)। कभी राधा के गुणो का स्मरण करते है (स्मृति) और कभी पीताबर और मुरली इधर-उधर बिखरे दिखाई देते है (जडता) (पद स 3057)।

राधा का तीसरा मान भी भ्रातिजन्य मान है। कृष्ण के बहुनायकत्व का राधा को ज्ञान हो गया है। कृष्ण किसी गोपी का मन चुराते हैं और कभी दूसरी गोपी के साथ रसकेलि करते हैं। राधा ने प्रात काल ही रतिचिह्नो से युक्त कृष्ण को देखा तो उसे कृष्ण की रसिकता ज्ञात हुई। यही राधा के मान का कारण बना (पद स 3159)। चौथी बार राधा ने कृष्ण के बहुनायकत्व से रुष्ट होकर महामान किया (पद स 3354)। एक दूती ने राधा के रूप की प्रशसा की, कृष्ण की व्याकुलता का वर्णन किया और राधा का मान भग न हुआ तो उसने प्रकृति की सयोगात्मक अवस्था की ओर सकेत किया। सारी प्रकृति मिलनोत्सुक है, सयोग ही प्रकृति का स्वभाव है और इस सयोग की ऋतु मे वियोग उचित नही है। यौवन और सौदर्य अस्थायी है, इसकी सार्थकता प्रिय से सयोग मे ही है

यह ऋतु रूसिबे की नाही।
बरषत मेघ मेदिनी के हित, प्रीतम हरषि मिलाही।
जेती बेलि ग्रीष्म ऋतु डाही, ते तरवर लपटाही।
जे जल बिनु सरिता ते पूरन, मिलन समुद्रहि जाही।
जोबन धन है दिवस चारि कौ, ज्यो बदरी की छाही। (3363)

सूरदास के इस पद का शेली की 'प्रेम दशन' नामक कविता से अद्‌भुत साम्य है। दोनो मे 'प्रकृति' मानवीय प्रेम के प्रेरक और मार्गदर्शक के रूप मे प्रस्तुत है। सूर के काव्य मे वर्णित प्रेम स्वच्छदतावादी प्रेम है। सूर का प्रेमदर्शन शेली के प्रेम-दशन के समान स्वच्छदतावादी है।०

प्रवास का चित्रण

प्रिय के प्रवास से प्रिया के प्रेमातुर हृदय मे वेदना का उद्‌भव स्वाभाविक है। ब्रज मे गोपिया प्रेम की सयोगावस्था मे पूर्णतया निमग्न थी। उन्हे वियोग की आशका तक नही थी। किंतु अचानक अप्रत्याशित वियोग बेला उपस्थित हो गई। कृष्ण का प्रवास गोपियो के लिए असह्य था। गोपियो ने सुना कि कृष्ण मथुरा जा रहे है तो वे व्याकुल हो उठी। मन मे उद्वेग है, शरीर जडता की अवस्था मे है। वे हतप्रभ है। प्रेमपूर्ण मन की गति अवरुद्ध है (पद स 3378)। वेदना विकल मन की दैन्यावस्था अत्यत कारुणिक है। गोपिया कृष्ण के दर्शन के लिए उत्सुक है क्योकि पुर्नमिलन की आशा क्षीण ही है (पद स 3520)। गोपियो की व्याकुलता अपार है। जो कृष्ण के प्रेम मे गर्वीली और मदमाती थी, अब वे ही गोपिया अत्यत दीन-हीन दिखाई दे रही हैं (पद स 3581-82)। गोपियो ने कृष्ण को मथुरा जाने से न रोका और न उनका हृदय ही विदीर्ण हुआ, इसलिए ग्लानि और पश्चाताप से वे पीडित है (पद स 2620-24)।

वेदना मे विनोद की व्यजना सूर की अपनी विशेषता है। कृष्ण मथुरा मे जाकर कुब्जा मे अनुरक्त हो गए, यह समाचार गोपियो के लिए अत्यत दुखदाई था। सूरदास ने वियोग मे कुब्जा के प्रसग के सहारे व्यग्य, विनोद, वाक्चातुर्य तथा असूया आदि की अभिव्यक्ति की है। कृष्ण के रूप और कृष्ण के प्रेम की प्रकृति पर गोपिया व्यग्य करती हैं (पद स 3766)। गोपियो ने कृष्ण की रसिकता पर भी व्यग्य किया है। गोपिया सोचती हैं कि कृष्ण-कुब्जा की जोडी अच्छी है,

---

०The fountains mingle with the river
And the rivers with the ocean,
The winds of heaven mix for ever
With a sweet emotion,
Nothing in the world is single,
All things by a law divine
In one another's being mingle—
Why not I with thine ?

—P B Shelley (Love's Philosophy)

क्योकि एक अहीर है तो दूसरी दासी (पद स 3771)। गोपिया कृष्ण की निष्ठुरता के कारण विशेष दुखी हैं।

वियोग मे मानव-मन की अनेक अतर्दशाए होती हैं। सवेदनशील मन अतीत की स्मृति, वर्तमान की वेदना और भविष्य की आशा-अभिलाषा की सूक्ष्म सवेदनाओ के बीच गतिशील होता है। इससे दूसरी अनुकूल मनोवृत्तिया भी सक्रिय होती हैं। विरही मन की गति एव भावदशाओ की सूक्ष्मता की कल्पनात्मक अनुभूति और सफल अभिव्यजना एक प्रतिभासपन्न कलाकार ही कर सकता है। आचार्य रामचद्र शुक्ल के शब्दो मे वियोग की जितनी अतर्दशाए हो सकती है, जितने ढगो से उन दशाओ का साहित्य मे वर्णन हुआ है और सामान्यत हो सकता है वे सभी उसके (सूरसागर) भीतर मौजूद है।[29] विरहसतप्त गोपियो की चित्त-वृत्तियो की गतिविधि, भावनाओ की गहराई, मनोवेगो का आवेग और आत्मा की बेचैनी का सूरदास ने जो वर्णन किया है, वह सब काव्यशास्त्र मे भले ही न हो, किंतु जीवन मे उनकी सभावना सदा बनी हुई है।

काव्यशास्त्र मे विरह की दस दशाओं का उल्लेख है—(1) अभिलाषा, (2) चिंता, (3) स्मरण, (4) गुण कथन, (5) उद्वेग, (6) प्रलाप, (7) उन्माद, (8) व्याधि, (9) जडता और (10) मूर्च्छा। कुछ आचार्यों ने मरण को ग्यारहवी दशा माना है। मूर्च्छा और मरण—इन दो दशाओ के कारण ही विप्रलभ का एक भेद करुण विप्रलभ भी मान लिया गया है, क्योकि मूर्च्छा और मरण की दशाए निश्चय ही कारुणिक हैं। सूरसागर मे वियोग की एक-एक अतर्दशा का अनेक पदो मे और अनेक ढगो से वर्णन हुआ है। इसके अतिरिक्त गोपियो की विकलता, प्रेमाधिक्यजन्य पश्चाताप, कृष्ण की निष्ठुरता का दु ख, दीनता, आत्मग्लानि, अतद्वंद्व, अधैर्य और प्रतीक्षा आदि का वर्णन सूरदास ने किया है।

सूरदास ने गोपियो की विरहानुभूति को अधिक तीव्रता एव गभीरता प्रदान करने के लिए विरह-वर्णन मे अनेक प्रसगो का निर्माण किया है। नेत्रो की गति-विधि और अनुरागी स्वभाव के माध्यम से गोपियो का विरह व्यक्त हुआ है। विरह मे सूरदास ने नेत्रो को सजीव व्यक्तित्व प्रदान किया है और गोपियो के नेत्र ही उनके मन के आचरण के प्रतीक बन गए हैं। गोपियो के नेत्र रसलपट है, कृष्ण के रूपरस-पान से अतृप्त है, सौदर्यलोलुप है, लालची है और कृष्ण के अभाव मे व्याकुल और दीन हैं। गोपियो के नेत्र कृष्ण के वियोग मे दु खी, बेचैन और व्यथित हैं। गोपियो के मन की सारी विकलता, विह्वलता, उद्विग्नता, चिंता, आशा-निराशा इन नेत्रो के माध्यम से ही व्यक्त हुई है।

स्वप्नदर्शन के सहारे भी सूरदास ने गोपियो के विरह की व्यजना की है। जिन गोपियो के शरीर और चेतना का प्रत्येक कण और क्षण कृष्ण के विरह से परिव्याप्त हो, उन्हे क्या सुख की नीद आ सकती है? गोपियो के अतर्मन मे कृष्ण

की जो प्रेममूर्ति स्थित है, वह उनके वियोग मे कभी कभी स्वप्न मे अचेतन से चेतन मानस मे आ जाती है। गोपी जब सयोग की कामना से पुलकित होती है तब तक नीद के टूट जाने से वह स्वप्न की प्रेममूर्ति विखडित हो जाती है और फिर विरह की व्यथा दुगुनी बढ जाती है। मिलते-मिलते बिछुड जाने का यह दुख असह्य है (पद स० 3880)। वियोग मे स्वप्नावस्था का क्षणिक सयोग और वियोग जाग्रत अवस्था के दीर्घकालीन सयोग-वियोग से अधिक दुखद होता है।

गोपियो के प्रेम की सयोगावस्था प्रकृति के उन्मुक्त परिवेश मे व्यतीत हुई थी, प्रकृति ने सयोग-सुख को बढाया और प्रगाढता दी। वियोग में अब वही प्रकृति गोपियो की विरहानुभूति को तीव्र करती है। सूरदास ने सयोग और वियोग मे प्रकृति को गोपियो की सहचरी के रूप मे उपस्थित किया है। वियोग मे प्रकृति गोपियो को कभी सुखद और कभी दुखद जान पडती है। वियोग मे उद्दीपन-विभाव के अतर्गत प्रकृति-वर्णन की परपरा प्राचीन है। प्रकृति का प्रत्येक रूप वियोग मे विरहिणियो की विरह-भावना को उद्दीप्त करता है। ऋतुवर्णन और चद्रोपालभ विरह-वर्णन की परपराभुक्त पद्धति है। इसका निर्वाह सूरदास ने भी किया है। पावस ऋतु मे विरहिणियो का मन अधिक रागमय हो उठता है। आकाश मे मेघखड और बिजली के विलास से, शीतल बूदो की मादक फुहार से मुरझाया मन हरा हो जाता है, सयोग की कामना प्रबल हो जाती है। विरहिणियों की वेदना पावस ऋतु मे तीव्र हो जाती है। प्रकृति और मानव के सबध के अद्वितीय पारखी महाकवि कालिदास ने ठीक ही लिखा है

मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेत ।
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसस्थे।
पूर्वमेघ। 3।

सूरसागर का पावस-प्रसग केवल विरह मे ऋतु वर्णन की परपरा का निर्वाह ही नहीं है। पावस ऋतु ब्रज के लिए विपत्ति का प्रतीक और गोपियो की अविरल अश्रुवर्षा का सूचक भी है। साथ ही आकाश मे छाए श्यामघन घनश्याम की स्मृति जगाते हैं। पावस के मेघ कभी गोपियो को काम की सेना जान पडते हैं (पद स० 3920) और कभी अभिमानी पराजित इद्र के प्रलयकारी मेघ बदले की भावना से ब्रजमडल पर छाए हुए प्रतीत होते हैं (पद स० 3924)। आकाश मे मेघो का उचित समय पर आगमन मेघो की उदारता और परोपकारिता का प्रमाण है। ग्रीष्म के ताप से सतप्त धरती, लता, वृक्ष, पशु-पक्षी को जीवनदान देने के लिए ही मेघ आ जाते हैं। गोपियो को आश्चर्य है कि जड कहे जाने वाले मेघ भी अपने आश्रितो के दुख से द्रवित होकर उनकी सहायता के लिए स्वर्ग से धरती के निकट आ जाते हैं, लेकिन कृष्ण निकट मथुरा मे ही रहकर गोपियो

को भूल गए हैं (पद स० 3927)। इसमे कृष्ण की निष्ठुरता और हृदय-हीनता पर व्यग्य भी है। वर्षाऋतु सयोग की ऋतु है, बादलो का आगमन परदेश से प्रिय के आगमन का सूचक है। गोपियो को लगता है कि मथुरा की ओर पावसऋतु होती ही नही है, अन्यथा क्या कृष्ण का मन सयोग के लिए उत्सुक और आकुल नही होता (पद स० 3929) ? श्यामघन कभी-कभी गोपियो के लिए घनश्याम ही बन जाते हैं तो वे गोपियो को अत्यत प्रिय लगते है। पपीहे की पी-पी की रट गोपियो को सुखद लगती है, उससे गोपियो को सहानुभूति है (पद स० 3954)। जब गोपियो का प्रेमोन्माद बढ जाता है तो पपीहे का स्वर अत्यत दुखदायी प्रतीत होता है।[30] कोयल की कूक गोपियो की हूक, पपीहे का पी उनका दर्द और चातक की चाह उनकी चेतना बन जाती है।

सूरसागर के गोपी-विरह की एक विशेषता यह है कि गोपियो को बचपन से विकसित साहचर्यगत गहरे प्रेम के बाद का वियोग विशेष दु खद प्रतीत होता है। गोपिया बार-बार कहती है कि 'लरिकाई को प्रेम कहौ अलि कैसे छूटत।' प्रेम जितना गहरा होगा, सयोग का सुख जितना अधिक होगा, प्रेम के खडित होने का दर्द और वियोग की वेदना भी उतनी ही अधिक होगी। गोपियो का प्रेम ऊपरी नही है, वह चार दिन का भी नही है, इसलिए अलगाव का दर्द अधिक गहरा है। गोपियो की विरह-व्यजना मे उनकी आत्मा की चीख प्रकट हुई है। गोपियो के विरह की दूसरी विशेषता यह है कि उन्हें श्रीकृष्ण की विहगम प्रीति अन्यायपूर्ण लगती है। गोपियो ने श्रीकृष्ण को सर्वस्व समर्पित कर दिया, लेकिन कृष्ण बदले मे वेदना देकर चलते बने। फिर भी गोपियो को प्रेम के स्थायित्व मे विश्वास है। वे खुद विरह की वेदना मे झुलसने के बावजूद प्रिय का हित ही चाहती हैं। यह गोपियो के प्रेम का त्यागमय रूप है, जिसके सामने कृष्ण छोटे पडते दिखाई देते हैं।

सूरदास शृगार के रससिद्ध कवि हैं। प्रेम के सयोग और वियोग दोनो पक्षो की जैसी सर्वाश्लेषी और मार्मिक अभिव्यक्ति सूर ने की है, वह अन्यत्र दुलभ है। यही कारण है कि आचार्य रामचद्र शुक्ल ने सूरदस को 'भावाधिपति' और सूरसागर को 'रससागर' कहा है।

भ्रमरगीत

भ्रमरगीत नारी की आकुल अतरात्मा और तीव्र सवेदशीलता की शाश्वत कहानी है। मानव समाज के उद्भव काल से ही नारी की सृष्टि पुरुष की इच्छा का परिणाम है। पुरुषप्रधान समाज मे नारी का निर्माण पुरुष की कामना की सतुष्टि के लिए है, उसका कोई स्वतत्र अस्तित्व नही है। पुरुष ब्रह्म हो या आदम, उसके अकेलेपन को दूर करने के लिए ही नारी निर्मित हुई है। पुरुष की वासना और

भावात्मक रिक्तता की पूर्ति ही नारी जीवन का लक्ष्य रहा है। वह पुरुष की सह-चरी नही बन सकी है। पुरुषप्रधान समाज मे प्रारभ से ही नारी मे समपण का भाव और पुरुष मे ग्रहण का भाव माना गया है। सृष्टि मे पुरुष पहला है और नारी दूसरी। नारी जीवन का लक्ष्य, यथार्थ और स्वप्न पुरुष ही है। पुरुष द्वारा निर्मित ईश्वर भी पुरुष ही है और नारी माया, बधन, अधकार आदि है। नारी का अस्तित्व पुरुषसापेक्ष है। उसका प्रत्येक रूप पुरुष से उसके सबध का ही द्योतक है। नारी आत्मबलिदान मे अपने जीवन की सफलता मानती है। पुरुष के समक्ष अपनी पराजय को ही वह विजय समझती है। पुरुष नारी को वस्तु मानता है और वह अपने को वस्तु रूप मे प्रस्तुत करती है।

सामती समाज मे पुरुष और नारी के लिए प्रेम का भिन्न-भिन्न अथ है। इस समाज मे नारी के लिए प्रेम का अर्थ है बिना किसी दुराव-छिपाव या झिझक के पुरुष को आत्मा और शरीर का पूर्ण समर्पण। समर्पण का यह भाव ही उसकी आस्था है, उसका धर्म है। पुरुष के लिए प्रेम का अर्थ है प्रेम की कामना और नारी के समर्पण का ग्रहण। प्रेम मे पुरुष केवल लेना चाहता है और नारी देना चाहती है। प्रेम मे नारी का लक्ष्य है सर्वस्व समर्पण और पुरुष का लक्ष्य है सर्वस्व ग्रहण। नारी पुरुष को अपनी भावना, आचरण और अस्तित्व के लिए सर्वोच्च मूल्य और परम सत्ता मान लेती है। नारी के लिए प्रेम धर्म बन जाता है। प्रेम मे नारी पुरुष के ससार मे, उसके अत्यत समीप रहना चाहती है। वह अपने को पुरुष की छाया मानती है और सदा पूर्ण सयोग की कामना मे लीन रहती है। नारी अपने जगत को पूर्णत पुरुष जगत मे विसर्जित कर लेती है। नारी पुरुष को अपना ईश्वर, आराध्य और स्वामी मानती है। नारी अपनी मनोवृत्तियो को पुरुष की ओर उन्मुख करती है और वह आत्मदान, प्रतीक्षा, आस्था, साधना और आशा निराशाजन्य सुख-दुखात्मक अनुभूति की प्रक्रिया मे ही अपने प्रेम की सफलता मानती है। नारी पुरुष की बेवफाई की शिकायत करके भी उसके अत्य-धिक निकट आने का प्रयास करती है।

पुरुष द्वारा निर्मित प्रेम की आचार-सहिता का प्रतिफलन पुरुष की रस-लोलुप मधुप वृत्ति मे हुई है। पुरुषो ने अपने लोभ को प्रेम का नाम दिया, अपनी स्वार्थी मनोवृत्ति के सहारे नारी की समर्पण भावना और भावुकता का शोषण किया है। नारी की सुकुमारता, सौदर्य और यौवनरस का उपभोग कर अत मे उसे निरस समझकर त्याग देना पुरुष के लिए आम बात है। नित्य नवीन रस के आस्वादन मे प्रवृत्त रसिक पुरुष नई मुग्धाओ को अपने सामान्योन्मुख लोभ का साधन बनाता है। पुरुष द्वारा भुक्त, परित्यक्त, रसरिक्त नारी के सामने रुदन और शिकायत के अतिरिक्त और कोई उपाय नही है। मानव की अत प्रकृति के सच्चे पारखी कवियो ने नारी के अत करण से सहानुभूति स्थापित कर नारी की

मनोव्यथा की व्यजना अपने काव्य मे की है। मानव की अत प्रकृति के सच्चे कलाकार शेक्सपियर ने नारी की अतरात्मा की पीडा और पुरुष की रसिया मनोवृत्ति का यथार्थ चित्रण किया है।*

मानव और प्रकृति का साहचर्य अत्यत प्राचीन है, इसलिए भावाकुल मानव सदा प्रकृति मे अपनी मानसिक दशा का प्रतिबिब खोजता है। मानवजगत के प्रमदावन मे स्वच्छद विचरण करने वाले रूपरस-लोभी पुरुष का समानधर्मा प्रकृति जगत मे खिली और अधखिली अनेक कलियो का रसपान करते हुए उन्मुक्त विचरण करने वाला मधुलोलुप भ्रमर ही दिखाई पडा और नारी ने भ्रमर को ही अनेक मुग्धाओं मे आसक्त पुरुष का प्रतीक मानकर अपनी मनोव्यथा प्रकट की। सवेदनशील कवियों ने भ्रमर को एक विशेष मानवीय प्रवृत्ति का प्रतीक मानकर उसके सहारे पुरुष के प्रति नारी की मानसिक वेदना, खीझ, व्यग्य और उपालभ की व्यजना की है। भाषा की अभिव्यजना शक्ति तथा सप्रेषणीयता की अभिवृद्धि के लिए ही अमूर्तन और प्रतीक की प्रक्रिया का सहारा कवि लेता है। कई बार भाव की व्यजना 'दार्शनिक भाषा' मे प्रतीक के माध्यम से होती है। इसी तरह भ्रमर के प्रतीक के माध्यम से पुरुष के रसिया स्वभाव के समक्ष नारी की विवशता, प्रेम-विकलता, विरह-वेदना और उपालभ की अभिव्यजना हुई है।

भारतीय काव्य मे भ्रमर के माध्यम से उपालभ-व्यजना की एक नवीन परपरा का सूत्रपात प्रेम और सौंदर्य के अमर कलाकार कवि कालिदास ने अभिज्ञान-शाकुतलम् नाटक मे किया है। राजा दुष्यत अपने अत पुर मे कभी एक नारी से प्रेम का अभिनय करते हैं तो कभी दूसरी सुदरी से। दुष्यत ने महारानी हसपदिका से केवल एक बार प्रेम किया था। उसके बाद वे रानी वसुमती में अनुरक्त हो गए। हसपदिका भ्रमर के माध्यम से दुष्यत को उपालभ देती है

> अहिणवमहुलोलुवो भव तह परिचुम्बिअ चूअमजरिं।
> कमलवसइ मेत्तणिव्वुदो महुअर विह्मरिओ सिण कह ॥ 5 । 1 ॥
> नये नयें मधुके लोभी ओ मधुकर।
> एक बार ही रसालकी मधुर मजरी चूम गए तुम।
> क्यों निवास कर कमल-कोश मे मुझे भूल कर घूम गए तुम ॥
> नये नये मधुके लोभी ओ मधुकर।

---

*Sigh no more, ladies, sigh no more
Men were deceivers ever,
One foot in sea and one on shore,
To one thing constant never
—William Shakespeare, Much Ado About Nothing, Act 2, Scene 3.

पुरुष की मधुलोभी भ्रमर वृत्ति पर व्यग्य करने की प्रवृत्ति सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश साहित्य मे कही-कही प्रकट होती रही है, किंतु इसका सम्यक विकास मध्यकालीन लोकभाषाओ के साहित्य मे ही हुआ। कृष्णभक्ति-काव्य मे इस परपरा को नया रूप मिला। हिंदी के भ्रमरगीत-काव्य का एक आधार श्रीमद्-भागवत का भ्रमरगीत है। श्रीमद्भागवत के अनुसार उद्धव श्रीकृष्ण के सदेश-वाहक बनकर मथुरा से ब्रज आए तो गोपियो ने उद्धव से भ्रमर के सहारे अपने मन की व्यथा प्रकट की। गोपियो ने उद्धव से कहा

हो अन्य से तो प्रीत, अपने स्वार्थ का ही स्वाग भर।
ज्यो, नारि को चाहा करें नर और पुष्पो को भ्रमर ॥
हरि के समागम ध्यान मे रत, एक सखि ने लख भ्रमर।
माने उसे ही दूत प्रियतम का, चली फिर यो उचर ॥
हे धूर्त—बधु मधुप ! कही लेना हमारे छू न पग।
है सौत कुच गत मात्य का कुकुम रहा तब मुच्छ लग।
तुझ तुल्य चर धर कृष्ण, ले मानिनि-प्रसाद समोद भर।
पर, यादवो के वृन्द मे तो कृत्य यह उपहासकर ॥
बस, एक बार पिला हमे निज दिव्य अधरामृत मदिर।
तुझ तुल्य ही, बैठे सुमन वत, कृष्ण हमको त्याग फिर ॥[31]

गोपियो ने इस प्रकार भ्रमर के माध्यम से कृष्ण के स्वार्थी प्रेम की शिकायत की, उन पर व्यग्य किया। भागवत मे भ्रमरगीत का मुख्य स्वर दार्शनिक है, उसका लक्ष्य ज्ञान और योग का सम्यक प्रतिपादन है। किंतु भागवत के इस भ्रमरगीत मे कृष्ण, उद्धव, भ्रमर, गोपियो की वेदना और उपालभ आदि तत्त्व मौजूद हैं। ये तत्त्व ब्रजभाषा के भ्रमरगीत सबधी काव्यो मे भी हैं।

हिंदी के भ्रमरगीत-काव्य पर सस्कृत की दूत-काव्य परपरा का भी प्रभाव पडा है। वाल्मीकि रामायण मे राम का विरह-सदेश लेकर हनुमान सीता के पास जाते हैं। कालिदास के मेघदूत पर इसका प्रभाव पडा है, जो दूत-काव्य परपरा का आधार काव्य है। महाभारत मे भी दूत-काव्य की परपरा जीवित है। कालिदास के पश्चात सस्कृत साहित्य मे दूत-काव्यो की एक सुदीर्घ परपरा है। इस परपरा की मुख्य कृतिया हैं (1) पार्श्वाभ्युदय (जिनसेनाचार्य कृत), (2) नेमिदूत (विक्रम), (3) हस सदेश (वेंकहनाथाचार्य), (4) कोकिल सदेश (उदड शास्त्री), (5) शुकसदेश (लक्ष्मीदास), (6) पवनदूत (धोइक), (7) पवनदूत (वादिचद्र), (8) इद्रदूत (विनय विजय), (9) मनोदूत (तिलग व्रजनाथ), (10) वदाकदूत (कृष्ण सार्वभौम), (11) उद्धवदूत (माधव कवीद्र), (12) उद्धव सदेश, (13) हसदूत (रूप गोस्वामी), (14) मनोदूत (भगवादत्त) और (15) रथागदूत (लक्ष्मी नारायण)। इन दूत-काव्यो मे यद्यपि कथा और शैली

की भिन्नता है किंतु इनमे दूत के माध्यम से विरह-निवेदन का मूल तत्त्व वर्तमान है, जिसका प्रभाव भ्रमरगीत-काव्य परपरा पर भी पडा है। डॉ० सत्येंद्र ने सूरदास के भ्रमरगीत को दूत-काव्य नही माना है, क्योकि नायक-नायिका-सबध की दृष्टि से उद्धव मे दौत्य नही है।[32] वास्तविकता यह है कि उद्धव गोपियो का प्रेम-सदेश, विरह-दशा का सदेश कृष्ण तक पहुचाते है, जिसको सुनकर कृष्ण भावविभोर और व्याकुल हो जाते हैं इसलिए गोपियो की ओर से उद्धव का दूतत्व सफल है। नायक-नायिका-सबध की दृष्टि से भी भ्रमरगीत मे दूतत्व उपस्थित है। दूसरे कृष्ण का जो सदेश उद्धव यशोदा आदि को देते हैं उनमे कृष्ण का मातृ-प्रेम व्यजित है और जो सदेश यशोदा ने कृष्ण के पास उद्धव से भेजा है उनमे यशोदा का वात्सल्य व्यक्त है। अत वात्सल्य मे उद्धव का दूतत्व सफल है। इस प्रकार सूरदास के भ्रमरगीत मे दूतकाव्य के तत्त्व विद्यमान हैं।

राधा-कृष्ण-लीला के गायक मैथिल-कोकिल विद्यापति के गीतो मे भ्रमरगीत काव्य-परपरा के सूत्र उपलब्ध हैं। विद्यापति ने सयोग-लीला मे ही राधा को मधुराशि रसवती मालती और कृष्ण को मधुजीवी मधुकर कहा है। विद्यापति ने एक पद मे कृष्ण के मथुरा गमन, गोपी विरह, कृष्ण की कुब्जा मे अनुरक्ति आदि का सकेत दिया है

मधुपुर मोहन गेल रे, मोरा बिहरत छाती।
गोपी सकल बिसरलनि रे, जत छत अहिबाती।
सुतलि छलहु अपन गृह रे, निन्दइ गेलहु सपनाई।
करसौ छूटल परस मनि रे, कौन गेल अपनाई।
कत कहबो कत सुमिरब रे, हम मरिए गरानि।
आनक धन सो धनवति रे, कुब्जा भेल रानि।
गोकुल चान चकोरल रे, चोरी गेल चदा।
बिछुडि चललि दुहु जोडी रे, जीव दइ गेल धदा।
काक भाख निज भाखह रे, पहु आओत मोरा।
खीर खाड भोजन देव रे, भरि कनक कटोरा॥
भनहि विद्यापति गाओल रे, धिरज धर नारि।
गोकुल होयत सोहाओन रे, फेरि मिलत मुरारि।[33]

कृष्ण की भ्रमरवृत्ति की ओर सकेत एक दूसरे पद मे हुआ है

जीवन रूप अचछल दिन चारि, से देखि आदर कएल मुरारि।
अब भेल झाल कुसुस रस छूछ, वारि विहून सर केओ नहि पूछ।
हमरिए बिनती कहब सखि रोय, सुपुरुष वचन अफल नहि होय।
जावे रहइ घन अपना हाथ, तावे से आदर कर सग हाथ।[34]

विद्यापति के पदो मे भ्रमरगीत-काव्य के ये तत्त्व हैं (1) पुरुष की भ्रमरवृत्ति,

(2) नारी-विरह, (3) कृष्ण का मथुरा प्रवास, (4) गोपियो की व्याकुलता, और (5) कृष्ण की कुब्जा मे अनुरक्ति। विद्यापति के पदो मे भ्रमरगीत के जिन तत्वो का विन्यास हुआ है उनका पूर्ण विकास ब्रजभाषा के कृष्णकाव्य मे दिखाई पडता है। सूरदास के पूर्व ब्रजभाषा मे भ्रमरगीत-काव्य परपरा का कोई प्रमाण उपलब्ध नही है। कुछ विद्वानो ने 'सनेहलीला' को विष्णुदास की रचना मानकर उसको भ्रमरगीत का पूर्व रूप कहा है। लेकिन कुछ दूसरे विद्वान 'सनेहलीला' को सूरदास के बाद की रचना मानते हैं। सनेहलीला के रचनाकार के रूप मे पाच नाम चर्चित हैं—हरिराय, रसिकराय, जगमोहन, मोहनदास और विष्णुदास। डॉ० सियाराम तिवारी ने सनेहलीला के रचयिता और रचनाकाल पर विस्तार से विचार करते हुए उसे मुकुददास की रचना माना है और उसका रचनाकाल 1743 ई० के आसपास स्वीकार किया है।[35] इसलिए सनेहलीला को भ्रमरगीत का पूर्व रूप नही माना जा सकता है। भ्रमरगीत-काव्य की परपरा के सर्जक और पोषक सूरदास ही ज्ञात होते हैं। सूरदास ने भ्रमरगीत-काव्य की परपरा के अतीत मे बिखरे सूत्रो को सचित कर और उन्हें अपनी कला तथा भावना से सुसज्जित कर एक अभिनव काव्य रूप का विकास किया है।

सूरसागर का भ्रमरगीत सूरसागर का अश होकर भी एक स्वत पूर्ण काव्य है। कृष्ण उद्धव को मथुरा से ब्रज भेजते हैं। प्रत्यक्षत कृष्ण उद्धव को ज्ञान की शिक्षा देने के लिए ब्रज भेजते हैं, लेकिन यथार्थत वे गोपियो से उद्धव को प्रेम मे दीक्षित करवाना चाहते हैं। उद्धव मे प्रेमभावना जगाना उद्धव को ब्रज भेजने का एक लक्ष्य है। उद्धव से कृष्ण मा यशोदा के लिए और गोपिकाओ के लिए लिखित और मौखिक सदेश भेजते हैं। बलराम भी उद्धव से यशोदा के प्रति अपना सहज प्रेम प्रकट करते हैं। वसुदेव और देवकी भी नद-यशोदा की कृतज्ञता स्वीकार करते हैं। अत मे कुब्जा गोपियो और राधा के लिए व्यग्यात्मक चिट्ठी लिखकर उद्धव को देती है। उद्धव सपूर्ण मथुरा का सदेश ब्रज के लिए लेकर वृदावन जाते हैं। मथुरा का ब्रज को यह सदेश नागर सस्कृति का लोक सस्कृति को, बुद्धि का हृदय को, ऐश्वर्य का प्रेम को दिया गया सदेश है।

उद्धव के ब्रज आगमन से ब्रजवासियो का मन हरा हो गया, क्योकि ब्रजवासियो ने उद्धव को कृष्ण समझ लिया। जब उद्धव ब्रज मे पहुचे तो कृष्ण को न पाकर ब्रजवासियो का मन छोटा हो गया, लेकिन फिर भी आशा थी। वे कृष्ण के सखा के आगमन को सुखद ही मानते रहे। लेकिन जब उद्धव ने ज्ञान का सदेश सुनाया तो ब्रजवासी हतप्रभ हो गए। निश्चय ही वाक्य ज्ञान जब मुखर होता है तब भावना मर जाती है। भावविभोर हृदय को ज्ञान की बकवास सुनने का अवसर कहा है ? उद्धव के ब्रज प्रवेश के साथ ही एक भ्रमर भी ब्रज मे आ गया।

भ्रमरगीत मे भ्रमर के तीन रूप दिखाई पडते हैं (1) कृष्ण का प्रतीक, (2) उद्धव का प्रतीक, (3) स्वतत्र अस्तित्व। गोपिया भ्रमर के सहारे कभी कृष्ण पर व्यग्य करती हैं और कभी उद्धव पर। इसके पश्चात गोपियो से उद्धव का जो सवाद और विवाद चला है उसमे लोकमानस, ऋषिमानस, भक्तमानस और जनमानस का समन्वय व्यजित हुआ है। इसलिए सूरदास के भ्रमरगीत मे अनायास ही साहित्यिक, सामाजिक, सास्कृतिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक पक्षो का समन्वय हुआ है। भ्रमरगीत मे लोकसस्कृति के तत्त्वो का कलात्मक नियोजन है, उसमे साप्रदायिक धर्म और दर्शन के विशेष मुखर न होने पर भी अनेक धार्मिक सप्रदायो के मतवाद का द्वद्व अभिव्यक्त है। भ्रमरगीत मे मध्यकालीन जनसस्कृति प्रतिबिंबित है। भ्रमरगीत का आध्यात्मिक दार्शनिक पक्ष विशेष कलात्मक ढग से नियोजित है, जहा दर्शन कोरा उपदेश नही है, बल्कि वह कवि की अनुभूति का विषय बनकर कलात्मक रूप मे उपस्थित है। यहा आध्यात्म का सत्य काव्यसत्य के रूप मे सौदर्य से मडित होकर सरल, सुबोध तथा ललित हो गया है। ब्रह्म के सगुण-निर्गुण रूप, उसकी अनुभूति और उपलब्धि के साधन के रूप मे भक्ति और ज्ञान का द्वद्व तथा जीवन के अनुकूल सहज प्रेमयोग और जीवन के प्रतिकूल दु साध्य आरोपित हठयोग के पारस्परिक द्वद्व की सूरदास ने जैसी रसमयी व्यजना भ्रमरगीत मे की है वह अन्यत्र दुर्लभ है। भक्तियोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग के साथ ही जीवन मे सृजन, रूपातरण और सकल्प-शक्ति के रूप मे प्रेम की व्यजना इसमे उपलब्ध है। राधा की विरहावस्था प्रेम की सायुज्य अवस्था है, जहा मन और वाणी की गति नही है। यहा बुद्धि और भावना का ऐक्य है। यहा बुद्धि की निस्सगता और भावनाओ की आसक्ति है। यही राधा-माधव का अद्वैत है और यही सूर की सर्वोच्च आध्यात्मिक दार्शनिक साधना की उपलब्धि है।

भ्रमरगीत का मनोवैज्ञानिक पक्ष मान्व-मानस के अतस्तल की गतिविधि का द्योतक है। मन और बुद्धि का द्वद्व शाश्वत है। मन और बुद्धि, अनुभूति और बोध का द्वद्व व्यक्ति की चेतना को तनाव की स्थिति मे डाल देता है। सूरदास ने मन और बुद्धि के द्वद्व मे मन को, भावना को या अनुभूति को ही विशेष महत्त्व दिया है, जिससे जीवन सृजनशील बनता है। कोरा बुद्धिवाद मानव के लिए घातक है। भ्रमरगीत की दूसरी विशेषता है सहज नैसर्गिक प्रवृत्तिमूलक जीवन की स्वीकृति और निषेधों से सचालित निवृत्तिमूलक जीवन की अस्वीकृति। तीसरी विशेषता है नारी के मन मे पुरुष के लिए सर्वात्म समर्पण का भाव। चौथी विशेषता है प्रेम का सहज चरम विकास। भ्रमरगीत की पाचवीं विशेषता है, मानवीय मनोरागो का उदात्तीकरण और कृष्णार्पण।

सूरदास के भ्रमरगीत का महत्त्वपूर्ण पक्ष उसका साहित्यिक पक्ष है, जिसमे

गोपियो का विरह-निवेदन प्रधान है। उद्धव से कृष्ण की चिट्ठी पाकर गोपियो को कृष्ण से मिलन का सुख मिला। गोपियो के नयनों से प्रेमाश्रु प्रवाहित हुए, उससे कृष्ण की पाती और कृष्ण एक हो गए, सारी रसमयी सयोगलीला की स्मृति मानस पटल पर उभर आई

निरखति अक स्याम सुदर के बार बार लावति लै छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै, ह्वै गइ स्याम स्याम की पाती।
(4106)

गोपियो ने मधुकर के सहारे कृष्ण के प्रेम की प्रकृति पर व्यग्य किया, उनकी रसलोलुप मनोवृत्ति की शिकायत की

मधुकर काके मीत भए।
त्यागे फिरत सकल कुसुमावलि, मालति भुरे लए।
छिनु के बिछुरे कमल रति मानी, केतिक कत बिधए। (4125)

गोपियो ने मथुरा के लोगो के स्वभाव को पहचाना है। मथुरा के जिन लोगो से गोपियो का सपर्क हुआ, सभी स्वार्थी, छली और रसलोभी निकले। वे मृदुभाषी क्रूरकर्मा और कृतघ्न हैं तथा धर्मात्मा बनने का ढोग करते हैं-

मधुबन सब कृतज्ञ धरमीले।
अति उदार परहित डोलत हैं, बोलत बचन सुसीले। (4213)

गोपियो का प्रेम अटल है, अटूट है, वे प्रेम मे आत्मबलिदान कर सकती हैं, लेकिन प्रेम को छोड नहीं सकतीं

(ऊधौ) प्रेम गए प्रान रहै, कौन काज आवै।
जैसे ससि निसा गऐं, सोभा नहि पावै।
... .
जिन नैननि मोहन मुख, कमल नैन हेरो।
मूदौ ते नैन कहत, कौन, ज्ञान तेरो। (4217)

विरह मे अतीत की सुखद स्मृति और भविष्य की आशा के सहारे ही विरहियों का जीवन कायम रहता है। महाकवि कालिदास का भी यही मत है

आशावन्ध कुसुमसदृश प्रायशो ह्य गनाना।
सद्यः पाति प्रणयि हृदय विप्रयोगे रुणद्धि ॥
पूर्वमेघ। 9।

गोपियो का जीवन भी सयोगलीला की स्मृति और कृष्ण के आगमन की आशा के सहारे ही कायम है

बिसरति क्यों गिरिधर की बातें।
अवधि आस लगि रह्यौ, मधुप, मन, तजि न गयो घट तातैं।

हरि के विरह छीन भई ऊधौ, दोऊ दुख परे सघाते।
तन रिपु काम, चित्त रिपु लीला, ज्ञान गम्य नहिं तातें। (4298)

गोपियो का कृष्ण पर क्रोध प्रेममय क्रोध है। गोपियो की उदासीनता, क्षोभ, विरक्ति और व्याकुलता मे प्रेम ही अतर्निहित है। गोपियो का मन सदा प्रिय की हिताकाक्षा मे लीन है

सूर सु प्रभु मुख फेरि देखिहैं चिर जिवौ कान्ह हमारी।

यह है गोपियो का औदार्य और त्यागमय प्रेम का स्वरूप। कृष्ण और गोपियो का प्रेम चातक और स्वाति बूद, मीन और जल, मृग और नाद, चकोर और शशि, पतग और दीपक की भाति एकातिक एकोन्मुख और दृढ है। कृष्ण गोपियो के लिए हारिल की लकडी है।

हमारे हरि हारिल की लकरी।
मनक्रम वचन नद नंदन उर, यह दृढ करि पकरी।
जागत सोवत स्वप्न दिवस निसि, कान्ह कान्ह जकरी। (4607)

गोपियो के बहुत अनुनय-विनय और समझाने पर भी उद्धव जब प्रेम की महिमा न समझ सके तो गोपिया खीझ उठी। उनकी खीझ, झुझलाहट और झल्लाहट आदि का सहज चित्रण सूर ने किया है (पद स 4494-96)। गोपियो का मन पुन एक क्षण मे ही शात हो जाता है। गोपिया बहुत ही सरल ढग से उद्धव की ज्ञानचर्चा को हास्यास्पद सिद्ध कर देती हैं

मधुकर भली करी तुम आए।
वै बातें कहि-कहि या दुख मे, ब्रज के लोग हसाए।
मोर मुकुट मुरली पीताबर, पठवहु सौंज हमारी।
आपनु जटा जूट, मुद्रा धरि, लीजै भस्म अधारी।

•

वे प्रभु बडे सखा तुम उनके जिनकै सुगम अनीति।
या जमुना जल कौ सभाव यह, सूर बिरह की प्रीति। (4505)

उद्धव प्रिय के पास से आए थे इसलिए गोपिया यह जानना चाहती है कि क्या कृष्ण ब्रजलीला की याद करते है? क्या उनको ब्रज की रसमयी लीलाओ की स्मृति व्याकुल करती हैं? गोपियो का विश्वास है, और यह सभी प्रेमियो का विश्वास है कि अगर प्रिय उनकी स्मृति मे व्याकुल होता है तो प्रेम सफल है, स्थायी है। उद्धव ज्ञान की निरर्थक चर्चा और उपदेश मे ही व्यस्त हैं, उनमें प्रेम विकल मन की गति पहचानने की प्रवृत्ति ही नहीं है। गोपियो का भाव-विह्वल मन कभी-कभी उद्धव की सपूर्ण ज्ञान-चर्चा को अनसुनी करके प्रिय की स्मृति डूब जाता है, आत्मविभोर हो जाता है। गोपिया तो अब विरह से ही प्रेम करने लगी हैं और चिर विरह मे मन की यही दशा होती है

ऊधो बिरहौ प्रेम करै ।
ज्यो बिनु पुट पट गहत न रग की रग न नसै परै ।

सूर गुपाल प्रेम पथ चलि करि, क्यो दुख सुखनि डरै । (4605)

प्रेमविभोर मन कभी किसी बाहरी मर्यादा या अनुशासन का कायल नही होता । प्रेम तो मन मानने की बात है, उसमे तर्क की कोई गुजाइश नही होती । जिसका मन जहा लगे वही उसको अच्छा लगता है । गोपियो का मन कृष्ण मे आसक्त है, इसलिए गोपियो के मन पर किसी ज्ञान-चर्चा का प्रभाव नही पड सकता । सूर की गोपिया अपने प्रेम की दृढता और मन की सहज गति को महत्त्वपूर्ण मानती हैं ।

ऊधौ मन माने की बात ।
दाख छुहारा छाडि अमृत फल, विषकीरा विष खात ।
ज्यो चकोर कौ देई कपूर कोऊ, तजि अगार न अघात ।
सूरदास जाकौ मन जासौ, सोई ताहि सुहात । (4640)

यही मन स्थिति पार्वती की भी है

ममात्र भावैकरस मन स्थित न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ।
—कुमारसभवम्, 5 । 82

कृष्ण और गोपियो के प्रेम का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है 'लरिकाई का प्रेम', बचपन की प्रीति, जो साहचर्य, सहयोग और सहजीवन से क्रमश विकसित और सुदृढ है । गोपियो के मानसपटल पर कृष्ण की सपूर्ण लीला गहरे रगो मे चित्रित है, इसलिए इस प्रेम के धूमिल पडने की कोई सभावना नही है । गोपियो को कृष्ण की उदासीनता से अधिक दु ख है । भ्रमरगीत मे विरह की सभी रीति-शास्त्रोक्त दशाओ का वर्णन है । उसमे गोपियो के मानसिक द्वद्व, वेदना, उद्वेग और दैन्य की विवृति है ।

भ्रमरगीत का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है राधा की कमनीय प्रेममूर्ति । उद्धव के ब्रज आने की सूचना पर एक बार राधा का प्रेमविभोर मन और विरह सतप्त तन दिखाई पडता है, किंतु उद्धव-गोपी-सवाद मे राधा पूर्णत मौन हैं । कृष्ण के ब्रज मे रहने पर जो राधा प्रेम मे, हर्ष-उल्लास आदि में अत्यत मुखर और चचल थी, वही अब वियोग मे शात, गभीर और अचचल हैं । उद्धव-गोपी-सवाद मे राधा के मौन का यह अर्थ नही है कि राधा उसमे अनुपस्थित हैं। सच्चाई यह है कि गोपियो का सपूर्ण पक्ष राधा का पक्ष है । गोपियो का विरह राधा के विरह का विस्तार ही है। राधा और गोपियो के सबध के बारे मे सूरदास का मत है कि 'सोरह सहस पीर तनु एकै, राधा जीव सब देह' । गोपियों की वाणी मे राधा की आत्मा बोलती है । गोपियो ने उद्धव को विरहिणी राधा

का जो चित्र दिया, वह उद्धव की आत्मा मे बैठ गया (पद स० 4692)। उद्धव ने वही चित्र मथुरा लौटकर कृष्ण के सम्मुख प्रस्तुत किया, जिसके मानस प्रत्यक्ष से कृष्ण का हृदय व्याकुल हो गया। राधा की विरह मे जो मानसिक दशा है वह प्रेम, भक्ति और आध्यात्मिक अनुभूति की सर्वोच्च अवस्था कही जा सकती है

सुनहु स्याम यह बात और कोउ क्यो समुझाई कहै।
दुहु दिसि की अति विरह विरहिनी, कैसे कै जु सहै।
जब राधा तबही मुख माधौ, माधौ रटत रहै।
जब माधौ ह्वै, जात सकल तन राधा बिरह दहै।
उभे अग्र दव दारु कीट ज्यो सीतलताहि चहै।
सूरदास अति विकल विरहिनी, कैसेहू सुख न लहै। (1724)

कृष्ण के विरह मे राधा कृष्ण ही बन गई हैं। राधा का अस्तित्व, उनकी आत्मा कृष्णमय है। उनकी तन्मयता, तद्रूपता प्रेमानुभूति की सिद्धावस्था है। ब्रज मे सयोगलीला मे राधा-कृष्ण का सालोक्य और सामीप्य था और अब विरह मे सारुप्य और सायुज्य की अवस्था है। यह प्रेम का भक्ति मे पर्यवसान है। यह चिरतन नारीत्व और चिरतन पुरुषत्व का पूर्ण एकात्म्य है, मन, बुद्धि और आत्मा का पूर्ण एकीकरण है। विद्यापति की राधा भी कृष्ण के विरह मे तादात्म्य और एकात्म्य की इसी अवस्था मे दिखाई पडती हैं

अनुखन माधव माधव सुमरइत, सुन्दरि भेल मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल, अपने गुन लुबुधाई।
अपने विरह अपन तनु जरजर, जिवइत भेलि सदेह।
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि, छल छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत, आधा आधा बानि।
राधा सये जब पुनतहि माधव, माधव से जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहि टूटत, बाढत विरहक बाधा।
दुहुदिस दारु दहन जैसे दगधई, आकुल कीट परान।[36]

यह ज्ञान की सर्वोच्च अवस्था है जिसमे ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते है। यह भक्ति की चरम दशा है जहा भक्त और भगवान का भेद मिट जाता है। यही प्रेम की अनुभूति की उच्चतम दशा है जहा प्रेमी और प्रेमिका के व्यक्तित्व और अस्तित्व का पार्थक्य समाप्त हो जाता है। दुनिया के महान साहित्यकारो की रचनाओ मे प्रेम की अनुभूति की इस दशा की बार-बार व्यजना हुई है। 'वूदरिंग

हाइट्स' उपन्यास की कैथरिन की भी यही मनोदशा है।•

यह प्रेम मे प्रिय और प्रिया की आत्माओ का एकात्म्य है। यह सहअस्तित्व एव सयोग शाश्वत है, जहा वियोग असभव है। राधा की यह विरह दशा आत्मा की पूर्ण चैतन्यावस्था है, जो सूर की काव्यानुभूति बनकर और विशिष्ट अभिव्यक्ति के सौंदर्य से समन्वित होकर सहृदय पाठको की आत्मा की निधि बन गई है।

सूरदास की भावानुभूति की सबसे बडी विशेषता है सपूर्ण काव्य मे भाव ऐक्य। सूरसागर मे सवेदना के उपादानो को इस कौशल से सुसज्जित और नियोजित किया गया है कि इसमे प्रत्येक पद की प्रत्येक पक्ति से एक ही भाव प्रकट होता है और वह भाव है प्रेम। सूर के काव्य मे प्रेम और भक्ति मे कोई भेद नही है। शेष सभी भाव इसी का अनुगमन करते हुए काव्य मे एकता का निर्माण करते है। मानवमन के सभी भावो को प्रेम का अनुगामी बनाने मे सूरदास की प्रतिभा सफल है। भावसागर सूरसागर का अमृततत्त्व प्रेम है। सूरदास के मानवतावादी दृष्टिकोण का नियामक भी प्रेम ही है। मानवजीवन मे प्रेम की सत्ता और महत्ता का ऐसा गायक हिन्दी साहित्य मे दूसरा कोई नही है।

•My love for Heathcliff resembles the eternal rocks beneath a source of little visible delight, but necessary Nelly, 'I am Heathcliff" ? He's always, always in my mind not as a pleasure, any more than I am alwasys a pleasure to myself, but as my own being So don't talk of our separation again it is impracticable

Emily Bronte, Wuthering Heights(New York, 1964), pp 97-98

संदर्भ

1 रामचंद्र शुक्ल, 'सूरदास', (वाराणसी, 1961) पृ 137-38
2 हैवलाक एलिस, 'साइकॉलोजी ऑफ सेक्स', (लंदन', 1936), पृ 278
3 बर्ट्रेंड रसेल, 'व्हाई आई ऐम नाट ए क्रिश्चियन', (लंदन, 1967), पृ 52
4 रामचंद्र शुक्ल, पूर्वोद्धृत, पृ 130
5 बर्ट्रेंड रसेल, पूर्वोद्धृत, पृ 51
6 महापंडित राहुल सांकृत्यायन, 'दर्शन दिग्दर्शन', (इलाहाबाद, 1961), पृ 348
7 हैवलाक एलिस, पूर्वोद्धृत, पृ 281
8 वही, पृ 279
9 रवींद्रनाथ टैगोर, 'साधना', (लंदन, 1917), पृ 107
10 रामचंद्र शुक्ल, पूर्वोद्धृत, पृ 219
11 हैवलाक एसिल, पूर्वोद्धृत, पृ 275
12 रवींद्रनाथ टैगोर, पूर्वोद्धृत, पृ 106
13 सीमन दी बुये, 'दि सेकेंड सेक्स', (बेंटम बुक्स, 1964), पृ 630
14 हजारीप्रमाद द्विवेदी, 'सूर साहित्य', पृ 36
15 रामचंद्र शुक्ल, पूर्वोद्धृत, पृ 31
16 हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिंदी साहित्य की भूमिका', (बंबई, 1963), पृ 8
17 रामचंद्र शुक्ल, 'चिंतामणी', भाग 2, (वाराणसी, संवत 2019), पृ 63
18 भवभूति, 'उत्तररामचरितम,' (बनारस, 1963) पृ 255
19 सीताराम चतुर्वेदी, 'कालिदास ग्रंथावली', पृ 136
20 सूर्यनारायण चौधरी (सं), 'अश्वघोष कृत बुद्धचरित्', (संस्कृत भवन, कठोतिया, 1955), पृ 8
21 जयशंकर प्रसाद, 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', (इलाहाबाद, संवत् 2015), पृ 44
22 वही, पृ 44
23 वही, पृ 18
24 निर्मला सक्सेना, 'सूरसागर शब्दावली' (इलाहाबाद, 1962), पृ 209
25 रामचंद्र शुक्ल, 'सूरदास', पृ 169
26 रामचंद्र शुक्ल, 'चिंतामणि', भाग 2, पृ 5
27 रामचंद्र शुक्ल, 'सूरदास', पृ 136
28 कृष्णदेव शर्मा (सं) 'विद्यापति और उनकी पदावली', पृ 95
29 रामचंद्र शुक्ल, 'सूरदास', पृ 168
30 सूरसागर, पद संख्या 3957

31 रघुनदनप्रसाद (अनुवादक), 'श्रीमद्भागवत हिंदी पद्यात्मक', पृ 391-92

32 सत्येंद्र, 'सूर की झाकी', (आगरा, 1956), पृ 228

33 विद्यापति और उनकी पदावली, पृ 302

34 वही, पृ 313

35 सियाराम तिवारी, 'सनेहलीला के रचयिता', परिषद पत्रिका, वर्ष 3, अक 3, पृ 84-85

36 विद्यापति और उनकी पदावली, पृ 242-43

सूरदास की भक्तिभावना

भक्ति का विकास

मनुष्य का जीवन ज्ञान, इच्छा और क्रिया इन तीन शक्तियो का समुच्चय है। भावना ही ज्ञान और कर्म के बीच सधि एव सामजस्य की शक्ति है। जीवन के धर्म और धार्मिक जीवन मे सहज समन्विति काम्य है। भारतीय धर्मसाधना के तीन अग हैं ज्ञान, कर्म और उपासना। ज्ञान, कर्म और उपासना मे ज्ञान, क्रिया और भावना की स्वीकृति है। उपासना मे भावना ही मूल तत्त्व है और भावना की उदात्त अवस्था भक्ति है। विवेकानद ने मानव के अतर्जगत को तीन भागो मे बाटा है (क) प्रवृत्ति, (ख) विवेक और (ग) प्रेरणा[1]। विवेकानद ने प्रकारातर से इच्छा, ज्ञान और भावना की महत्ता को ही स्वीकार किया है। उनकी प्रेरणा भावना का उत्कर्षित रूप है। मनुष्य के अतर्जगत के विधायक तत्त्व प्राण, मन, बुद्धि, चेतना और आत्मा सतत विकासशील हैं। सपूर्ण मानवचेतना क्रमश विकसित होती हुई वर्तमान अवस्था मे पहुची है। यह सभव है कि किसी विशेष युग मे प्राण, मन, बुद्धि, चेतना और आत्मा मे से कोई एक तत्त्व प्रबल होकर शेष को आवृत कर ले, लेकिन समग्रत मानवचेतना का सतत विकास ही होता है। बुद्धि और भावना, देह और आत्मा का द्वैत और द्वद्व शाश्वत है। विवेकवादी या बुद्धिवादी युग के अतराल से ही आनदवादी या आत्मवादी युग का प्रादुर्भाव होता है और अतिशय आनदवादी या आत्मवादी युग ही विवेकवादी या देहवादी युग का जनक बन जाता है।

प्रत्येक प्राचीन सभ्यता मे धर्मभावना का उदय भय, लोभ और कृतज्ञता से हुआ है और हिंसा, कर्म तथा बाह्याचरण की प्रधानता रही है। मानवचेतना के विकास के साथ ही धर्म का स्थूल रूप, उसका बाह्याचरण का पक्ष घटता है और धर्मभावना लोक की वस्तु बन जाती है। धर्म जब मनुष्य के शील का अनिवार्य अग बन जाता है तभी उसका वास्तविक रूप प्रकट होता है। आदिमकालीन मनुष्य प्रकृति के साक्षात सपर्क मे रहकर प्रकृति के रौद्र एव कोमल रूपो का अनुभव करता था जिससे विस्मय, भय और आनद की अनुभूति होती थी।

उसकी इन्ही भावनाओ की अभिव्यक्ति उसके प्रारभिक साहित्य मे हुई है। मानव की धर्मभावना और साधना मे भक्ति का विशेष महत्त्व इसलिए है कि इसने धर्म को बुद्धि से अधिक अनुभूति का, शास्त्र से अधिक जीवन का धर्म बनाकर उसे लोकाभिमुख किया और भय, लोभ और कृतज्ञता के बदले प्रेम को धर्म का आधार बनाया। भक्ति मे आस्था और आशा प्रेम के दो सहयोगी तत्त्व हैं। भक्ति मनुष्य की सहज रागात्मिका वृत्ति पर आधारित है इसलिए वह हृदय का धर्म है और धर्म का हृदय भी। मानवीय मूल मनोरागो पर आधारित इस भक्ति के विकास के इतिहास मे मूलबिंदु या प्रस्थानबिंदु का अन्वेषण असभव है क्योकि यह मनुष्य की सहज नैसर्गिक प्रवृत्ति का अग है। इसलिए भक्तिभावना का मानवजीवन मे अस्तित्व मानव के अस्तित्व के समान ही प्राचीन है, उसका शास्त्रीय स्वरूप बाद मे निर्मित हुआ है। भक्ति का आदोलन और बाद मे चला। लगभग बारहवी सदी से सोलहवी सदी तक व्याप्त भक्ति आदोलन जनसस्कृति के उत्थान का अखिल भारतीय आदोलन था।

भारतीय धर्मसाधना मे भक्ति का प्रस्थानबिंदु वेदो मे ढूढ निकालने का प्रयास अनेक विद्वानो ने किया है। आचार्य रामचद्र शुक्ल[2], नददुलारे वाजपेयी[3] आदि ने भक्ति का मूल वेदो मे माना है। मुशीराम शर्मा ने वैदिक साहित्य मे भक्ति के स्वरूप का अन्वेषण किया है। उन्होने वेदो मे गुणकीर्तन, नामस्मरण, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन आदि भक्ति के अगो को खोज निकाला है और भक्त तथा भगवान के स्वरूप और सबध का भी निरूपण किया है[4]। अनेक विद्वानो ने वेद को भक्ति का आदि स्रोत मानने से इनकार किया है। वेद वास्तव मे सहज नैसर्गिक जीवन के काव्य हैं, उसमे आए देवता व्यक्ति न होकर गुणवाचक सज्ञा या विशेषण ही हैं, इसलिए वेदो मे नवधा भक्ति का अन्वेषण केवल आरोपण ही है। वेदो मे जहा सहज जीवन की अव्याहत अभिव्यक्ति है उसमे भक्ति के मूल तत्त्वो की स्थिति सभव है, लेकिन वहा भक्ति का शास्त्रीय स्वरूप उपलब्ध नही है। वेदो मे ज्ञान, कर्म और उपासना के मूल रूप की स्थिति सभव है, परतु उनका विस्तृत और विशिष्ट स्वरूप बाद मे विकसित हुआ। ब्राह्मण ग्रथो मे कर्मकाड की प्रधानता है और उपनिषदो मे ज्ञान की।

उपनिषदों में ज्ञान का तत्त्व प्रधान है। उनमे ब्रह्म की मूर्त और अमूर्त रूपो की धारणाए विद्यमान हैं। उपनिषदो मे ब्रह्म कवि भी है और मनीषी भी, उसमे अनुभूति है और चिंतन भी, हृदय की रागात्मिका वृत्ति भी है और बुद्धि की बोध वृत्ति भी। अनुभूतिपरक चिंतन ही भक्ति का प्रारभिक रूप है। तैत्तिरीय उपनिषद मे ब्रह्म को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनदमय कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद मे ब्रह्म का चक्र और नदी के रूप मे वर्णन किया गया है। बृहदारण्यक मे ब्रह्म के दो रूप हैं—मूर्त (साकार) और अमूर्त (निराकार)।

अनेक उपनिषदो मे रहस्यमयी भाषा मे प्रतीको के सहारे ब्रह्म का स्वरूप निरू-पित है। श्वेताश्वर उपनिषद मे ब्रह्म की सर्वव्यापकता को स्वीकार करते हुए जीव, ईश्वर और प्रकृति का त्रैतवाद स्थापित हुआ है। इस उपनिषद मे भक्ति तत्त्व विद्यमान हैं। इसमे परमेश्वर मे पराभक्ति और गुरु मे भी परमभक्ति का निर्देश है

यस्य देवे पराभक्तियथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मन ।6।23।

मध्यकाल मे प्रचलित 'भक्तिभक्त भगवन्त गुरु' का मूल रूप इसमे व्यक्त हुआ है। ज्ञान के लिए श्रद्धा की अनिवार्यता भी उपनिषदो मे वर्णित है। परम चैतन्य को केवल बुद्धि के सहारे उपलब्ध करना असभव है। परम चैतन्य केवल श्रद्धा के सहारे ही प्राप्य, और ज्ञातव्य है। इस प्रकार उपनिषदो मे ज्ञानमार्ग ही प्रधान है। उसके दो रूप हैं निवृत्तिपरक ज्ञानमार्ग और कर्मपरक ज्ञानमार्ग[5]। उपनिषदो के श्रद्धासमन्वित ज्ञान को ही भक्ति का प्रस्थानबिंदु माना जा सकता है।

बहुत से विद्वानो का ऐसा मानना है कि गीता भारतीय दर्शन का विश्वकोश है, उसमे पूर्ववर्ती सपूर्ण चिंतन का सार विद्यमान है। वैदिक साहित्य मे ज्ञान, कर्म और उपासना का जो स्वरूपनिरूपण और तात्त्विक व्याख्यान है, उसकी सूक्ष्म मीमासा गीता मे हुई है। ब्रह्म के मूर्त-अमूर्त, साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण रूपो का भेदाभेद निरूपित हुआ है। उपनिषदो के श्रद्धासमन्वित ज्ञान का भक्ति मे पर्यवसान गीता मे दिखाई पडता है। भक्ति के भावात्मक और विचारधारा-त्मक स्वरूप का विवेचन गीता मे है। ज्ञान और कर्म को गीता मे भक्ति का पूरक तत्त्व माना गया है। ज्ञान मे एकाग्रता से समग्रताबोध की मनःस्थिति की उपलब्धि के माध्यम से ज्ञान का भक्ति मे पर्यवसान दिखाया गया है। भक्ति का मूलतत्त्व समर्पण गीता की भक्ति का केंद्रीय तत्त्व है और श्रद्धा भक्ति का साधन है। सपूर्ण भावनाओ और कर्मों का श्रद्धापूर्वक भगवत समर्पण ही भक्ति है। मनुष्य की कर्मों मे आसक्ति और ज्ञान का अहकार ही उसके दुःख का कारण है। अनासक्त कर्म तथा परम चैतन्य के प्रति श्रद्धासमन्वित ज्ञान ही परमानद की उपलब्धि का साधन है। व्यक्ति के सत् और चित् अर्थात ज्ञान और कर्म के सच्चिदानद मे विसर्जन से ही केवल आनद तत्त्व व्यापक होकर भक्त की सपूर्ण चेतना को आच्छादित कर लेता है और यही भक्ति का स्वरूप है। गीता के सप्तम अध्याय मे दो प्रकार की भक्ति की चर्चा है[6] (1) सकाम भक्ति और (2) निष्काम भक्ति। निष्काम भक्ति के दो रूप हैं अंश भक्ति और पूर्ण भक्ति। अंश निष्काम भक्त के तीन भेद हैं आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी। विनोबा भावे के अनुसार आर्त याने रोगपीडित और रोगमुक्ति चाहने वाला नही, आर्त

याने भावप्रधान भक्त। जिज्ञासु याने केवल स्थूल उत्सुकता (क्यूरियासिटी) रखने वाला नही बल्कि बुद्धि से ईश्वरतत्त्व को जानने की कोशिश करने वाला। अर्थार्थी अर्थात पैसा चाहने वाला नही बल्कि सर्वभूत हितार्थी कर्मप्रधान।[7] भावप्रधान भक्त प्रेमी भक्त है, जिज्ञासु भक्त अन्वेषक और अर्थार्थी भक्त लोकोपकारी है। ज्ञानी भक्त ही पूर्ण भक्त है, क्योकि ज्ञानी भक्त निरतर भगवान के सर्वात्म्य स्वरूप के बोध और अनुभूति मे एकात भाव से लीन रहता है।

गीता के छठे अध्याय से ग्यारहवें अध्याय तक मुख्यत भक्ति दर्शन का प्रतिपादन है। छठे अध्याय मे चित्त की एकाग्रता, सातवें मे ईश्वरोन्मुख चित्त की एकाग्रता, जो प्रपत्ति है, आठवें अध्याय मे प्रपत्ति का सातत्य, नवें अध्याय मे समर्पण, दसवें अध्याय मे ईश्वर के सर्वात्म स्वरूप के बोध, अनुभव तथा आत्मसाक्षात्कार और ग्यारहवें अध्याय मे समग्रता या सार्वभौम चेतना की चिंता है। इसके बीच मे ही ब्रह्म के सगुण और निर्गुण स्वरूप के पारस्परिक पार्थक्य और पूरकता का विवेचन है। निर्गुण सगुण का अतर्निहित सिद्धातरूप है और सगुण निर्गुण का अभिव्यक्त सत्तात्मक रूप। गीता मे ज्ञानसमन्वित भक्ति का प्रतिपादन है। गीता मे भक्ति के सभी अनिवार्य उपादान उपलब्ध हैं—ब्रह्म का निर्गुण-सगुण स्वरूप, मन की श्रद्धावृत्ति, प्रपत्ति, सपूर्ण भावो और कर्मों का कृष्णार्पण, आत्मनिवेदन, कीर्तन, नामस्मरण और पूजा। इस प्रकार गीता को भक्ति का आधारग्रथ माना जा सकता है।

महाभारत के नारायणीय उपाख्यान, नारदपाचरात्र साहित्य, सहिताओ आदि के सहारे विकसित होने वाले भागवत धर्म, पाचरात्र धर्म, ऐकातिक, नारायण, वासुदेव वैष्णव धर्म का आधारभूत तत्त्व प्रेम है। यह लोकाभिमुख धर्म है। अवतारवाद, व्यूहवाद तथा शिवशक्तिवाद का इसमे समावेश है। इस लोकाभिमुख प्रेममूलक रसमय धर्म के कारण ही सूत्रो तथा पुराणो मे व्याख्यायित भक्ति का स्वरूप लोकसामान्य, प्रेममूलक तथा रसमय दिखाई पडता है। यह भागवत धर्म, शास्त्र से अधिक जीवन को महत्त्व देता है तथा लोकसग्रह और लोककल्याण परक प्रवृत्ति-मार्ग का पोषक है। भागवत धर्म से विकसित होने वाली कृष्णभक्ति प्रेममूलक है और इसमे जीवन की पूर्णता को स्वीकार किया गया है। इसमे बुद्धि के निर्द्वंद्व बोध और हृदय के भावात्मक एकात्म्य के सहारे ही भगवान की रसमय प्रतीति की जाती है। भक्तिमार्ग प्रेममार्ग है । शाडिल्य भक्तिसूत्र के अनुसार ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति ही भक्ति है सा परानुरक्तिरीश्वरे।[8] नारदभक्तिसूत्र के अनुसार भक्ति परमप्रेमरूपा है सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।[9] भगवान मे अहैतुकी एकनिष्ठ सतत सुदृढ परम अनुरक्ति ही भक्ति है। यह प्रेमरूपा भक्ति ही परा भक्ति है। शाडिल्य भक्तिसूत्र के अनुसार भक्ति ईश्वर मे

परा अनुरक्ति है, वह अमृतरूपा, ज्ञानस्वरूपा और रसरूपा है। ज्ञान भक्ति का साधन है। भक्ति अनुभूति है। योग ज्ञान का साधन है और ज्ञान भक्ति का। चूंकि ईश्वरविषयक राग ही भक्ति है और वह ससारविषयक राग से पूर्णत भिन्न है, इसलिए भक्ति मे राग का चिन्मुख रूप ग्राह्य है। शाडिल्य भक्तिसूत्र मे भक्ति-साधना के लिए विधि और निषेधो का उपदेश है। विधिमूलक कार्य हैं (1) ईश्वर के प्रति सम्मान का भाव, (2) भगवत्सदृश नाम एव रूप के प्रति समादर, (3) सत और भक्तदर्शन मे प्रीति, (4) परम विरहानुभूति, (5) भगवतस्मरण, गुण-कीर्तन, (6) पूर्ण आत्मसमर्पण और (7) भगवान के सर्वात्मस्वरूप का बोध। भक्ति मे भगवान से भिन्न वस्तुओ से सहज अरुचि ही निषेध पक्ष हैं। शाडिल्य भक्तिसूत्र के अनुसार अवतार का मुख्य कारण भक्तो के प्रति भगवतकृपा है, भगवत्कारुण्य है, और यही मध्यकाल के भक्तो का सामान्य विश्वास है। इस भक्तिसूत्र के अनुसार भजन, कीर्तन आदि गौणीभक्ति के साधन हैं। इसके अनुसार ज्ञानभक्ति एकात भाव की भक्ति या प्रेमभक्ति ही पराभक्ति है। भक्ति मे मानव मात्र को बिना किसी भेदभाव के ग्रहण किया जाता है, इसलिए भक्ति को मानवतावादी धर्म भी कहा जा सकता है।

नारदभक्तिसूत्र के अनुसार भक्ति प्रेमरूपा और अमृतस्वरूपा है। उस भक्ति को पाकर भक्त मत, स्तब्ध और आत्माराम हो जाता है। भक्ति के लिए वैदिक और लौकिक सभी कर्मों का त्याग आवश्यक है, क्योकि भक्ति मे भगवान के प्रति अनन्यता और वैदिक तथा लौकिक कर्मों के प्रति उदासीनता प्रधान है। नारद ने भक्ति सबधी अनेक प्राचीन मतो का उल्लेख किया है और उन सभी मतो के अनुसार भक्ति के मूल मे अनुराग तत्त्व विद्यमान है। नारद के अनुसार सब कर्मों को भगवान को अर्पित करना तथा भगवान के विस्मरण से परम व्याकुल होना ही भक्ति है। नारद के अनुसार सपूर्ण आत्मसमर्पण और परमव्याकुलता भक्ति के लक्षण हैं। गोपियो की कृष्ण मे परम अनुरक्ति ही भक्ति का श्रेष्ठ आदर्श है। नारद ने शाडिल्य की भाति भक्ति को कर्म ज्ञान और योग से श्रेष्ठ माना है। नारद की भक्ति-व्याख्या के अनुसार भक्ति के साधक तत्त्वो मे प्रमुख है (1) विषय त्याग, (2) सत्सग या भगवद्विमुख का सग त्याग, (3) अखड भजन, (4) गुण श्रवण, (5) कीर्तन और (6) भक्तो की कृपा और भगवत्कृपा। इसके अतिरिक्त नारदभक्तिसूत्र मे अनेक प्रकार के विधि-निषेधो का वर्णन है। नारद ने प्रेम के स्वरूप की व्याख्या करते हुए लिखा है कि प्रेम गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण वर्धमान, अविच्छिन्न, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और अनुभव-रूप है। इस प्रेम की अनुभूति से भक्त प्रेममय हो जाता है। यह प्रेम भगवत्प्रेम है। शाडिल्य और नारद दोनो आचार्यों ने आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी को गौणीभक्ति माना है और ज्ञान भक्ति को पराभक्ति। नारद के अनुसार भक्ति प्रमाणनिरपेक्ष, शातिरूपा

और परम आनंदमयी है। नारद ने दास्य भाव और काता भाव को ही प्रधान भक्तिभाव माना है। इन दोनो भक्ति-भावो मे तन्मयता आवश्यक है। नारद ने भक्ति मे ग्यारह प्रकार की भगवदीय आसक्तियो की चर्चा की है। ये ग्यारह आसक्तिया है (1) गुणमहात्म्यासक्ति, (2) रूपासक्ति, (3) पूजासक्ति, (4) स्मरणासक्ति, (5) दास्यासक्ति, (6) सख्यासक्ति, (7) कातासक्ति (8) वात्सल्यासक्ति, (9) आत्मनिवेदनासक्ति, (10) तन्मयासक्ति, और (11) परम-विरहासक्ति।[10] इन आसक्तियो के माध्यम से नारद ने शात, दास्य, सख्य, वात्सल्य, और माधुर्य भावो को भक्ति के आधारभूत भावो के रूप मे स्वीकार किया है।

श्रीमद्‌भागवत पुराण मे भक्ति के सैद्धातिक और व्यावहारिक स्वरूप का निरूपण है। भागवत के अनुसार परमेश्वर के तीन रूप हैं ब्रह्म, परमात्मा और भगवान। ब्रह्म ज्ञान का विषय है, परमात्मा योग का विषय है और कर्म इसका साधन है। भगवान भक्ति के विषय हैं, अनुभूति के विषय है, भक्तो के प्रेम के आलबन हैं। ज्ञानी और योगी ब्रह्म एव परमात्मा के रूप मे उस परम चैतन्य तत्त्व के अश का अनुभव तथा बोध प्राप्त करते हैं, परतु भक्त सर्वशक्ति विशिष्ट परिपूर्ण भगवान के पूर्ण स्वरूप की अनुभूति करता है। इस प्रकार भागवतकार ने ज्ञान और योग को भक्ति का पूरक और साधन ही माना है।

श्रीमद्‌भागवत मे जीवो की प्रकृति के अनुसार सात्विकी, राजसी, तामसी और निर्गुण—चार प्रकार की भक्ति बताई गई है। उसमे नवधा भक्ति की चर्चा है

श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम्।
अर्चन वन्दन दास्य सख्यात्मनिवेदनम्॥

यह नवधा भक्ति साधना भक्ति है। मध्यकाल मे रूप गोस्वामी ने 'हरिभक्ति रसामृत सिंधु' और 'उज्ज्वल नीलमणि' नामक दो ग्रथो मे भक्ति के शास्त्रीय और रस-रूप का विशद विवेचन किया है, जिसमे भक्ति सबधी सपूर्ण पूववर्ती चितन-परपराओ का समावेश है। भक्तिचिंतन का साराश है कि भक्ति के दो भेद हैं—निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति। सगुण और निर्गुण मे अनेक समान तत्त्व हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार दोनो मे ये समान तत्त्व है · (1) भक्त का भगवान के साथ व्यक्तिगत सबध है। (2) प्रेम ही परम पुरुषार्थ है, प्रेमा पुमर्थों महान्। (3) भक्त की परम साधना है भगवान के साथ लीला। (4) गुरु को भगवान का रूप बताया गया है। (5) नाम महिमा का महत्त्व। (6) दीनता और आत्मसमर्पण। (7) भगवत्कृपा।[11] 'हरिभक्ति रसा-मृतसिंधु' के अनुसार भक्ति दो प्रकार की है गौणीभक्ति और पराभक्ति। इसी को दूसरे शब्दो मे साधना भक्ति और साध्य भक्ति भी कहा गया है। गौणीभक्ति

के दो भेद हैं वैधीभक्ति और रागानुगाभक्ति । वैधीभक्ति विधि निषेधो की मर्यादा मे बधकर गतिशील होती है इसलिए इसे मर्यादा भक्ति भी कहा जाता है । भागवत की नवधा भक्ति साधन के अतर्गत ही मानी गई है । मध्यकाल मे भक्तो ने नवधा भक्ति मे प्रेम-लक्षणा भक्ति को जोडकर उसे दसधा कर दिया । नवधा भक्ति के तीन रूप है (1) बुद्धि योगात्मक (श्रवण, स्मरण, कीर्तन), (2) क्रियात्मक (पादसेवन, वदन और अर्चन), (3) भावात्मक (दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन) ।

मनुष्य की सहज रागात्मिका वृत्ति की गति के अनुरूप गतिशील, विधि-निषेधो से स्वतत्र भक्ति ही रागानुगाभक्ति है । यह रागो का अनुगमन करती है । वैधीभक्ति रागानुगाभक्ति की उपलब्धि का प्रथम सोपान है । रागानुगाभक्ति के दो भेद हैं (क) कामरूपा और (ख) सबधरूपा । गोपियो की भक्ति कामरूपा थी किंतु वह काम भगवद्विषयक होने के कारण प्रेम के नाम से जाना जाता है । काम मे निज सुख काम्य होता है जबकि गोपियो के काम मे कृष्ण सुख ही साध्य था, इसलिए उसे प्रेम कहा जाता है। प्रभु के साथ दास, सखा, पिता-पुत्र और दापत्य सबध पर आधारित रागानुगाभक्ति ही सबधरूपाभक्ति कही गई है । भगवान मे निष्काम, अहेतुक, सुदृढ, निरतर परम अनुराग ही पराभक्ति है । रूप गोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिंधु मे भक्ति की रसवत्ता की व्याख्या की है । भक्तिरस का स्थायी भाव भगवद्विषयक रति, प्रीति या स्नेह ही है । इसके पाच प्रकार है (1) शातिरति (शातरस), (2) दास्य या प्रीतिरति (दास्यरस), (3) सख्य या प्रेयसरति(सख्यरस), (4) वात्सल्य या अनुकपारति (वात्सल्यरस) और (5) काता या मधुरारति (मधुर या उज्ज्वल रस) । इन सभी भावो के आलबन भगवान श्रीकृष्ण ही हैं। भक्ति के इन पाच भावो मे नारदभक्तिसूत्र की ग्यारह आसक्तियो का समावेश है। आसक्ति के मूल मे भाव की स्थिति है।

सूर की भक्तिभावना का स्वरूप

सूरदास भक्त कवि हैं। भक्ति इनके काव्य का साध्य है । भगवान की रसमयी लीलाओ की आत्मानुभूति की सहज अभिव्यक्ति ही सूरदास के काव्य की अत - प्रकृति की विशेषता है । सूर का काव्य भक्तिकाव्य है, वह सहज मानवीय मनो-रागो की उदात्तावस्था का काव्य है । वह प्राण, मन एव आत्मा की सहज गति का काव्य है । वह अनुभूतियो की उत्कर्षित, ललित दशा का काव्य है । वह जीवन का काव्य है । उसमे न तो अध्यात्म विद्या का व्याख्यान है और न केवल धर्म-वाद का उपदेश । सूरदास ने अपनी कविता मे सहज सवेद्य सामजस्य-ज्ञान के सहारे अध्यात्म, धर्म और दर्शन के जीवत सत्यो और मूल्यो को मानवीय कल्पना

एव चेतना का अभिन्न अग बना दिया है। सूरदास ने अपने काव्य के माध्यम से मानवीय प्रेम तथा सौदर्य की ऐंद्रियता और दिव्य सौदर्य तथा प्रेम की अतीद्रियता का जो तादात्म्य उपस्थित किया है वह किसी दर्शन और धर्म के सिद्धात-विवेचन से सभव नही है।

श्रीअरविंद के अनुसार काव्य मे अभिव्यक्त आर्य सभ्यता के विकासके चार सोपान हैं (1) नैतिकताप्रधान, (2) विवेकप्रधान, (3) भौतिकताप्रधान और (4) आत्मशक्तिप्रधान।[12] श्रीअरविंद के अनुसार वाल्मीकि का काव्य नैतिकताप्रधान है, व्यास का महाभारत विवेकप्रधान और बुद्धिवादी है तथा कालिदास का काव्य भौतिक सुख-समृद्धि और सौंदर्य का काव्य है। मध्यकाल का भक्तिकाव्य आत्मशक्ति के विकास का काव्य है। मध्यकाल के भक्तिकाव्य मे नैतिकता, विवेक और भौतिक सौंदर्य का विसर्जन ऊर्जस्वित आत्मशक्ति मे हुआ है। सूरदास इस आत्मशक्ति प्रधान काव्य के सिद्ध कवि हैं। सूरदास का सपूर्ण काव्य चेनना की आतरिक यात्रा एव विकास का काव्य है, जहा चेतना अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, तथा विज्ञानमय कोश से गुजरती हुई अत मे आनदमय कोश मे पहुचती है। यही आत्मा के विकास की चरम स्थिति है।

सूरदास का आविर्भाव काल भारतीय सस्कृति का सक्रातिकाल है। यह धर्मभावना और साधना के वैविध्य एव वैचित्र्य का काल है। वैष्णव आचार्यों रामानुज, मध्याचार्य, निंबार्काचार्य, विष्णु स्वामी और वल्लभाचार्य ने अपने सकल्पित विवेक के सहारे प्राचीन दर्शन की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की। शकराचार्य के शुष्क निवृत्तिमूलक अद्वैतवाद का खडन इन आचार्यों ने किया, जिससे भक्ति के विकास का पथ प्रशस्त हुआ और भक्ति आदोलन को गति एव शक्ति मिली। दूसरी ओर भावप्रवण भक्तो ने लोकभाषाओं मे अपनी भक्तिभावना की अभिव्यक्ति की, जिससे भक्ति आदोलन का सामाजिक चेतना से साक्षात सपर्क हुआ। दक्षिण के रामानुज, मध्व, निंबार्क और वल्लभ के दार्शनिक ज्ञान के साथ उनके मन मे आलवारो की भक्ति-भावपूरित सरस पदावली का रस भी वर्तमान था, इसलिए ये केवल आचार्य ही नही, भावुक भक्त भी थे। उनके दर्शन का लक्ष्य भक्तिभावना को शास्त्रीय स्वरूप देना था। उत्तर भारत मे बगाल के चैतन्य महाप्रभु आचार्य कम और भावुक भक्त ही अधिक थे। उत्तर भारत में, और विशेषत ब्रज प्रदेश मे, कृष्णभक्ति के प्रचार-प्रसार में सर्वाधिक योगदान वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु का है। ब्रज प्रदेश में सूर के समकालीन कृष्णभक्त सप्रदायो मे हरिदासी सप्रदाय और राधावल्लभ सप्रदाय प्रमुख थे और सूरदास का उनसे निकट का सपर्क था। भक्ति आदोलन और भक्ति काव्य के माध्यम से लोक सस्कृति का उत्थान हुआ। भक्ति आदोलन पर पुराणो के चितन

का भी प्रभाव पडा है। सूरदास भक्ति आदोलन मे व्यक्त लोक सस्कृति के कवि हैं।

सूरदास के काल मे अनेक प्रकार की धर्म-साधनाए प्रचलित थी। एक ओर शैवो के तन्त्राश्रित पाशुपत मत एव कापालिक मत थे और दूसरी ओर जैन सतो की एक अपनी साधना पद्धति थी। योगसाधना की प्राचीन पद्धति प्रचलित थी और उसके साथ ही नवीन शक्ति के साथ नाथ योगियो की साधना-विधि भी प्रचलित हुई। परवर्ती बौद्ध धर्म की महायान शाखा की मत्रयान शाखा से वज्रयान का प्रादुर्भाव हुआ और इन वज्रयानियो ने हठयोग एव अनेक गुह्य साधनाओ से युक्त सहजयान और सिद्ध मत की स्थापना की। इसी बीच मे निरजन मत भी यत्र-तत्र प्रचलित था। उस काल मे सूफियो का प्रेममार्ग भी अपनी भावप्रवणता और सहज रागमयता के कारण लोगो को आकृष्ट कर रहा था। सूफी मत का अधिकाश साहित्य लोकजीवन मे प्रचलित प्रेमकथाओ पर आधारित था। उसने परवर्ती भक्त कवियो को प्रभावित किया। सूफियो के प्रेम की पीर की प्रतिध्वनि कबीर आदि मे भी है। मध्यकाल की सपूर्ण धर्म-साधना को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दो भागो मे बाटा है · (क) योगमूलक साधनाए और (ख) भक्तिमूलक साधनाए।[13] सतो की साधना भक्तिमूलक थी। इन सतो की ज्ञानमूलक श्रद्धा-समन्वित भक्तिभावना का मूल स्वर प्रेमपरक था। मध्यकाल की सपूर्ण साधना की एक विशेषता यह है कि इसका सपूर्ण साहित्य लोकभाषाओ मे रचा गया। सूरदास ऐसे ही युग मे अवतरित हुए थे जिसमे अनेक प्रकार की धार्मिक साधनाओ के बीच मे युगचेतना भ्रमित थी और अनेक विकृत साधनाओ से युग-मानस विक्षुब्ध था। ऐसी दशा मे सूरदास ने भगवान की रसमयी लीलाओ के गान द्वारा सगुण भक्ति की पीयूष धारा बहाई, जो निवृत्तिमूलक निर्गुण साधना से मुरझाए लोकमानस को सिंचित और सरस करने लगी। सारत सूरदास के भक्तिकाव्य मे वेदमत (ऊचा दार्शनिक ज्ञान), पुराणमत (अवतारवाद एव कथातत्त्व), सतमत (अनुभूत ज्ञान) और लोकमत (युगचेतना) का सामजस्य है। सूरदास लोकभाषा मे लोक-भावना की अभिव्यक्ति करने वाले कवि हैं।

सूरदास का भक्तिदर्शन

सूरदास ने भक्ति के स्वरूप का कोई सुव्यवस्थित चिंतन काव्य मे प्रस्तुत नही किया है, लेकिन सूरसागर के पदों मे यत्र-तत्र भक्ति के शास्त्रीय स्वरूप के प्रति उसके स्फुट विचार अभिव्यक्त हैं, जिनमें उनके भक्तिदर्शन का रूप प्रकट है। सूर को शास्त्र की चिंता नही थी, उन्हें तो श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओ की रसमयी प्रतीति और गान की लगन लगी थी। सूरदास ने निर्गुण और सगुण मे से सगुण भक्ति को ही सरस सहज और सुगम समझकर अपनाया है। सूरदास

रूप-रेखा-गुन जाति-जुगुतिविहीन ब्रह्म की उपलब्धि को महत्त्वपूर्ण मानते हैं, उसकी सहजानुभूति के आनद की शक्ति को भी स्वीकार करते हैं, लेकिन उसे मन-वाणी से अगम-अगोचर समझकर छोड देते है। रूप मन का अवलब है, लेकिन अरूप की साधना मे मन निरावलब कहा दौडे ? सूर का पक्ष सगुण भक्ति का पक्ष है, वे रूपोपासक है

अविगत गति कछु कहृत न आवै।
ज्यौं गूगे मीठे फल को रस अतरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सु निरतर अमित तोष उपजावै।
मन बानी कौ अगम अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप रेख गुन जाति जुगति विनु निरालब कित धावै।
सब विधि अगम विचारहि तातै सूर सगुन लीला पद गावै ॥ (2)

सूर के इष्टदेव श्रीकृष्ण हैं और विनय के पदो मे सूर ने इन्हे वासुदेव, यदुनाथ, जगदीश, हरि आदि अनेक नामो से पुकारा है। कृष्ण स्वय भगवान है और भक्ति के आलबन हैं। सूरदास का मत है कि कृष्ण के रूप मे निर्गुण ही सगुण हो गया है। वैदिक साहित्य मे जिस परम चैतन्य निर्गुण तत्त्व का वर्णन है वही सगुण साकार स्वरूप मे उपस्थित है। निर्गुण और सगुण ब्रह्म के ही दो रूप है। निर्गुण ज्ञान का विषय है और सगुण भक्ति का (पद स 4)। सूरदास के अनुसार भगवान के अवतार का मुख्य हेतु उनकी भक्तवत्सलता है। असाधु अहेर उनके अवतार का एक और कारण है और यही गीता तथा पुराणो मे भगवान के अवतार का कारण माना गया है। गीता मे धर्म की सस्थापना ही अवतार का मुख्य कारण है, लेकिन मध्यकाल के भक्तो के अनुसार अवतारलीला का प्रधान हेतु साधुहित या भक्त पर भगवान की कृपा है। सूरदास के प्रभु के स्वभाव की जो अनेक विशेषताए हैं, उनमे उदारता, करुणामयता और भक्तवत्सलता मुख्य है। भगवान के अवतार का मुख्य कारण उनका कारुण्य है, भक्त पर कृपा है, यही शाडिल्य भक्तिसूत्र का मत है और सूरदास का भी। भक्ति मे जाति-पाति कुल-कानि का विचार नही है। वहा अभेद बुद्धि से सभी स्वीकार्य हैं। यह भक्ति का सामाजिक समानता का पक्ष है (पद स० 15)। सूर के अनुसार भगवत्प्राप्ति का एकमात्र उपाय भक्ति है (पद स० 329)। कृष्ण की अनन्य भक्ति ही साध्य है। भक्ति-पक्ष का अनुसरण करने वाले के लिए अष्टाग योग की जो शिक्षा सूरसागर मे दी गई है (पद स० 364), वह भागवत के प्रभाव से रचित प्रक्षिप्त पद ज्ञात होता है, क्योकि योगमूलक साधना का उपदेश सूर के लिए अस्वाभाविक है। देवहूति-कपिल-सवाद मे सूरदास ने चार प्रकार की भक्ति की चर्चा की है—सात्विकी, रजोगुणी, तमोगुणी और शुद्धाभक्ति। सूरदास के इस भक्तिविवेचन पर भागवत का स्पष्ट प्रभाव है। गीता के आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी भक्त की भी प्रति-

ध्वनि है। सूर ने इस चतुर्विधा भक्ति को सकाम और निष्काम दो भागो मे बाटा है। उन्होने ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का सक्षिप्त परिचय दिया है। सूर के अनुसार भक्तियोग का आधार है हरिपद-पकज-प्रीति (पद स० 394)।

सूर के भक्तिदर्शन का सार तत्त्व है उनकी प्रेमभक्ति। सूरदास ने भ्रमरगीत मे ज्ञान, योग और निर्गुण भक्ति का प्रत्याख्यान कर इस प्रेमभक्ति की स्थापना की है। सूर और उनकी गोपियो को प्रेम-भक्ति रहित नीरस योग काम्य नही है, वे निर्गुण की धारणा का खडन करती हैं। रूप के उपासक को अरूप से क्या मतलब (पद स० 4216)? सूरदास प्रेमविहीन जीवन को निरर्थक मानते हैं। सूर सगुण सरूप की लीलारस के रसिक हैं। भक्ति मे मन प्रेमपूर्ण है, कृष्ण के रूप मे चित्त आसक्त है, इसलिए वहा किसी निर्गुण के लिए स्थान नही है। सूरदास की गोपिया ज्ञानयोग के फलस्वरूप उपलब्ध कोटि मुक्ति को कृष्ण की एक मधुर मुस्कान पर न्यौछावर कर देने के लिए आतुर हैं। उनके लिए सगुण निर्गुण से श्रेष्ठ है। सूर की गोपियो ने गोपाल की उपासना मे, कृष्ण की लीला एव रूप की आसक्ति में ही सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—चारो मुक्तियो को प्राप्त कर लिया है। यही प्रेमभक्ति का स्वभाव है, जहा मुक्ति सहज-सुलभ होकर भी अनावश्यक हो जाती है। प्रेम-भक्ति मे प्रेम ही परम पुरुषार्थ हैं। सूर का मत है कि प्रेम-भक्ति अवैदिक नही है और इस प्रेम-भक्ति के समक्ष ज्ञान फीका लगता है (पद स० 4763)।

भक्ति की काव्यानुभूति

सूरदास की भक्तिभावना की एक बहुत बडी विशेषता है, उसका सहज-सतत विकासशील रूप। सूर की भक्तिभावना दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन की वैधी भक्ति से दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव की रागानुगाभक्ति के विविध सोपानों को पार करती हुई प्रेमाभक्ति की सिद्धावस्था मे पहुची है। उसमे भक्ति-भावना के सभी रूप हैं, नारदभक्तिसूत्र की ग्यारहो प्रकार की आसक्तियो का क्रमिक विकास है। सूरसागर केवल रससागर और रागसागर ही नही, भक्ति-सागर भी है। उसमे भक्ति की सभी भावधाराए और अनुभूति की लहरियो का विलास है।

कुछ विद्वानों ने सूरदास के काव्य को विनय के पद और हरिलीला के पद, इन दो भागो मे बाटकर उनकी भक्तिभावना का विवेचन किया है। लीला रस के आस्वादन के लिए विनय आवश्यक है। श्रद्धा और विनय भक्ति के दो प्रारभिक अनिवार्य तत्त्व हैं। विनय मे विशेष नम्रता, आत्मसमर्पण की भावना, श्रद्धा तथा पूज्य भाव का अतर्भाव है, इसलिए विनय भक्ति का प्रथम सोपान है। सूरदास के विनय के पदो मे सामान्य भक्तिभावना या सामान्य वैष्णवभावना का प्रकाशन

है। उस पर तत्कालीन भक्तिमूलक विभिन्न साधनाओ का प्रभाव है। लेकिन विनय के पदो मे सूर ने योगमूलक साधनाओ की चर्चा भक्ति के बाधक तत्त्व के रूप मे ही की है। विनय के पदो मे सूरदास की लोकचेतना विशेष रूप मे मुखर है, इसलिए किसी न किसी प्रकार तद्युगीन अनेक साधना-पद्धतियो के स्वरूप तथा गुण-दोष का परिचय उनमे मिल जाता है।

विनय के पदो मे तत्कालीन धर्म-साधना की विभिन्न पद्धतियो के जजाल के बीच से ही सूरदास की दृढ अनन्य भक्ति-भावना निरतर पुष्ट होती हुई विकसित हुई है। श्रीअरविंद ने धर्म की रसात्मक अनुभूति या आध्यात्मिक साधना के तीन सोपान माने हैं (1) आकाक्षा (एस्पिरेसन), (2) अस्वीकृति (रिजेक्शन), और (3) आत्मसमर्पण (सरेंडर)।[14] सच्चिदानदस्वरूप भगवान के चरणारविंद मे अनन्य प्रीति की तीव्र लालसा ही आकाक्षा है। इसमे भक्त की मनोवृत्ति मधु-सचय मे प्रवृत्त मधुमक्खी की होती है। लौकिक प्रेयस प्रलोभनो का पूर्ण परित्याग ही अस्वीकृति है। इसमे साधना मे बाधक लौकिक प्रलोभनो, भोगो तथा विभिन्न कामनाओ की अनासक्त अस्वीकृति आवश्यक है। इसमे भोगायतन को साधनायतन के रूप मे ग्रहण करना पडता है। भगवान के विश्वात्म रूप के समक्ष निर्द्वंद्व भाव से अपने सपूर्ण अस्तित्व का समर्पण ही आत्मसमर्पण है और यही आध्यात्मिक साधना की अतिम सीढी है। इसमे भक्त की मनोवृत्ति चातक की सी होती है। सूरसागर के विनय के पदो मे आकाक्षा, अस्वीकृति और आत्मसमर्पण का क्रमश विकास दिखाई पडता है। विनय के सपूर्ण पदो को उपर्युक्त तीन भावनाओ के अनुसार विभाजित किया जा सकता है।

सूरसागर के विनय के पदो मे अभिव्यक्त भक्ति वैधीभक्ति है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'वैधीभक्ति' की तीन अवस्थाए होती है—श्रद्धावान, नैष्ठिक और रुचियुक्त। वैधीभाव के भक्त दो तत्त्वो को स्वीकार करते है। ये दो तत्त्व हैं (1) भगवान ही एकमात्र जीवो के स्मर्तव्य हैं। जो उनके सुमिरन मे सहायक हैं, वे ही कर्म भक्त के कर्तव्य हैं। (2) भगवान को भूल जाना ही अमगल है और अमगल के सभी सहायक कार्य त्याज्य है।[15] सूरदास के विनय के पदो मे वैधीभक्ति का यही स्वरूप व्यक्त हुआ है। सूरदास ने भगवान के प्रति विनय और श्रद्धा का निवेदन किया है। भगवान के भक्तवत्सल स्वभाव मे सूर की अटूट निष्ठा है, आस्था है। सूर को भगवान की कृपा का भरोसा है। सूरदास बार बार अपनी विनती भगवान तक पहुचाने का प्रयास करते हैं (पद स 4)। भगवान के रूप और लीला मे भक्त की रुचि ही वैधीभक्ति की पृष्ठभूमि है और भक्त की मनोभूमि का स्वरूप भी (पद स 30)। सूरदास ने एक पद मे भगवान के प्रति अपनी विशुद्ध श्रद्धा, भगवान की भक्तवत्सलता मे अपनी आस्था

तथा उनके रूप और लीला मे अपनी अभिरुचि की व्यजना की है। इस पद मे अरूप के रूप का बोध है

यह मन आनद अवधि सब।
निरखि सरूप विवेक नयन भरि, या सुख तै नहि और कछू अब।
चित चकोर गति करि अतिसय रति, तजि स्रम सघन विषय लोभा।
चिति चरन मृदु चारु चद नख, चलत चिह्न चहु दिस सोभा।
जानु सुजघन करभ कर आकृति, कटि प्रदेश किंकिनि राजै।
हृद विघ नाभि, उदर त्रिबली बर, अवलोकत भव भय भाजै।

... ...

सत्य सील सपन्न सुमूरति, सुर नर मुनि भक्तनि भावै।
अग अग प्रति छवि तरग गति सूरदास क्यो कहि आवै। (69)

एक दूसरे पद मे सूरदास ने वैधीभक्ति के सपूर्ण स्वरूप की मार्मिक व्यजना की है। इसमे भक्त मे भगवान के प्रति दृढ अनुराग, दैन्य, सतमहिमा, लीला तथा गुण माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति की मनोदशा की उपलब्धि और भगवान के गुण माहात्म्य का कीर्तन आदि सभी तत्त्व आ गए हैं

नर देही पाइ चित चरन कमल दीजै।
दीन वचन, सतनि सग दरस परस कीजै।
लीला गुन अमृत रस स्रवननि पुट पीजै।
सुदर मुख निरखि, ध्यान नैन माहि लीजै।
गद् गद् सुर, पुलक रोम अग प्रेम भीजै।
सूरदास गिरिधर जस गाइ गाई जीजै॥ (72)

भगवान ही जीवो के एकमात्र स्मर्तव्य हैं और उनके सुमिरन मे सहायक कम ही भक्त के कर्तव्य हैं। इस भावना के अनेक पद सूरदास के विनय के पदो मे उपलब्ध हैं (पद स 68)। इस ससार मे व्यक्ति का मन ठगा गया है, वह धनमद, कुलमद, तरुणीमद तथा भवमद मे भगवान को भूल गया है। केवल भगवान ही जीवन के लिए सच्चे कल्याणकारी है, व्यक्ति अपने कर्म-धर्म को उन्हे सौप दे, वह भगवान की लीला, कीर्तन और रूपरस मे पूर्णत डूब जाए, तभी उसका कल्याण सभव है। भगवान के भजन के बिना जीव का उद्धार और आनद की उपलब्धि सभव नही है (पद स 58)। भगवान का विस्मरण ही जीव के दुख का कारण है, इसलिए सासारिक विषयो की आसक्ति मे मुक्त होकर भगवान मे एकात अनुराग की आवश्यकता है (पद स 59)। नारदभक्तिसूत्र के अनुसार विषय त्याग, हरिविमुख व्यक्तियो का सग त्याग भगवद्भक्ति के लिए आवश्यक है। सूरदास ने काम, तृष्णा, रसवेग का त्याग (पद स. 49), विषयासक्ति त्याग (पद स 59), मायामोह त्याग (पद स 291), लौकिक कर्मों मे आसक्ति का

त्याग (पद स 293), मिथ्यावाद विवाद का त्याग, काम-क्रोध-मद-लोभ आदि षट्विकारो का त्याग और हरिविमुख व्यक्तियो के सग-त्याग का विस्तृत वर्णन किया है।

विनय के पदो की भक्ति श्रीमद्भागवत की नवधाभक्ति है । भागवत के अनुसार नवधाभक्ति मे श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन की महत्ता है। इस नवधाभक्ति के तीन सोपान हैं

1 बोधात्मक सोपान (श्रवण, स्मरण और कीर्तन) । दूसरे शब्दो मे इसे नाम महिमा भी कहा जा सकता है। नारदभक्तिसूत्र के अनुसार यही गुण माहात्म्यासक्ति और स्मरणासक्ति है ।

2 क्रियात्मक सोपान (पादसेवन, वदन और अर्चन)। यह रूपोपासना है। रूप साधना का मार्ग है। इसमे नारदभक्तिसूत्र की दो आसक्तिया आ जाती है—रूपासक्ति और पूजासक्ति ।

3 भावात्मक सोपान (दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन)। यही अनुभूति का स्तर है जहा भक्त दास्य या सख्य भाव से भगवान के सम्मुख आत्मनिवेदन करता है तथा इन भावो की अनुभूति करता है। नवधाभक्ति का बोधात्मक एव क्रियात्मक रूप इसी भावात्मक अनुभूति की उपलब्धि के साधन है। इस भावात्मक अवस्था की रसमयी प्रतीति ही भक्ति है और नवधाभक्ति की भावात्मक अवस्था का पर्यवसान प्रेमाभक्ति मे होता है।

विनय के पदो मे सूरदास ने भक्ति के प्रेरक तत्त्वो की ओर सकेत किया है। ये प्रेरक तत्त्व दार्शनिक, मूल्याश्रित और दैहिक—तीन प्रकार के हैं। सासारिक जीवन की दार्शनिक, मूल्याश्रित और दैहिक स्तरो पर असारता सिद्ध होने पर ही व्यक्ति ससार से विमुख और भगवान की ओर उन्मुख होगा। जीवन के सामान्य स्वीकृत मूल्यो की निरर्थकता और दैहिक सुखो की निस्सारता के बोध से व्यक्ति मे भक्ति भावना जाग्रत होती है। सूरदास ने विनय के पदो मे भक्ति के प्रेरक इन तत्त्वो की ओर इगित किया है। सूरदास ने एक पद मे दार्शनिक प्रेरक तत्त्वो की व्यजना की है

> धोखै ही धोखै डहकायौ।
> समुझि न परी, विषय रस गीध्यौ, हरि हीरा घर माझ गवायौ।
> ज्यौ कुरग जल देखि अवनि कौ, प्यास न गई चहू दिसि धायौ।
> जनम जनम बहु करम किए है तिनमैं आपुन आपु बधायौ।
> सूरदास भगवत भजन बिनु, काल व्याल पै आपु डसायौ। (326)

इस पद मे सूरदास ने छ तत्त्वो की ओर सकेत किया है (1) इद्रियासक्ति, (2) लोभ, (3) अहकार या निस्सारता मे आसक्ति, (4) मायावाद, (5) ईश्वरतत्त्व की हानि, और (6) मृत्युबोध। सूरदास ने लोकसामान्य उदाहरणो

के माध्यम से इन सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्वो की व्यजना की है। सूरदास ने अनेक पदो मे सासारिक कर्मो की निस्सारता के ज्ञान की व्यजना की है जिसमे उनके पाप-बोध और पश्चाताप की मनोदशा की अभिव्यजना हुई है। व्यक्ति ज्यो ही अपने सासारिक कर्मों की निरर्थकता समझ लेता है, वह उसमे आसक्त नही रह सकता। पाप की चेतना और अत्यत दीनता भक्ति के प्रेरक तत्त्व है, जिनको सूरदास ने विनय के पदो मे अत्यत विस्तार दिया है (पद स 173, 178, 183 आदि)। व्यक्ति अपने कर्मों के फल से बधा है और यही कर्मवाद की विवशता है। भक्त दीन भाव से भगवान के चरणो मे अपने सभी अच्छे-बुरे कर्मों को सौंप कर उनके फल से मुक्त हो जाता है और यही भगवदोन्मुखता का प्रथम सोपान है। सूरदास ने दैहिक प्रेरक तत्त्वो की विशद व्याख्या की है

> जा दिन मन पछी उडि जैहै।
> ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं।
> या देही कौ गरब न करियै, स्यार काग गिध खैहै।
>
> जिन लोगनि सौ नेह करत है, तेई देखि घिनैहैं।
> घर के कहत सबारे काढौ, भूत होई घरि खैहै।
>
> अजहू मूढ करौ सतसगति, सतनि मैं कछु पैहैं।
> नर बपु धारि नाहिं जन हरि कौ, जम की मार सो खैहै।
> सूरदास भगवत भजन बिनु वृथा सु जनम गवैहैं। (86)

इसमे कवि ने वृद्धत्व और मृत्युबोध का अत्यत प्रभावकारी चित्र उपस्थित किया है। वृद्धत्व और मृत्युबोध शरीर की निस्सारता एव अनित्यता के द्योतक हैं। इसके अतिरिक्त मृत्यु के उपरात अपने प्रियजनो से त्याग दिए जाने की चर्चा कर भक्त सूर ने व्यक्ति को एक मनोवैज्ञानिक आघात भी दिया है। इस पद मे दैहिक और मनोवैज्ञानिक दो प्रकार के प्रेरक तत्त्व है, जो व्यक्ति को भक्ति की ओर उन्मुख करते है। व्यक्ति का मानस जब लोक से अनासक्त होकर भगवान की ओर मुडता है तब भक्तिभावना की सतत पुष्टि के लिए नवधाभक्ति के बोधात्मक, क्रियात्मक और भावात्मक सोपानो की आवश्यकता पडती है।

बोधात्मक स्तर श्रवण, स्मरण और कीर्तन को समाहार रूप मे नाममहिमा कहा जा सकता है। भगवान के गुण और माहात्म्य का श्रवण, स्मरण और कीर्तन ही नामर्चिता है। नाम द्वारा अरूप के स्वरूप का बोध प्राप्त करने का भक्त प्रयास करता है। रूप सत्ता है और नाम उसमे अतर्निहित सिद्धात है। इसलिए भक्ति मे नाम का बडा महत्त्व है। परमेश्वर के नाम का मनन आवश्यक है। 'सर्वे वदा यत् पद आमनन्ति' द्वारा उपनिषदो ने यही घोषणा की है कि सारे

वेद ईश्वर के नाम का ही मनन करते है। नामस्मरण मे सर्वप्रथम और सर्वाधिक अपेक्षा नम्रता की है। नामानुभूति विनय की पहली सीढी है । मध्यकाल के निर्गुण और सगुण भक्तो ने नाममहिमा का प्रतिपादन और कीर्तन एक स्वर से किया है। सूरदास ने नाममहिमा का विशद वर्णन किया है। सूरसागर के एक पद मे नाममहिमा का अत्यत काव्यात्मक निदर्शन है

अद्‌भुत राम नाम के अक।
धम अकुर के पावन द्वै दल, मुक्ति-बधू-ताटक।
मुनि-मन-हस पच्छ जुग, जाकै बल उडि ऊरध जात।
जनम-मरन-काटन कौ कतरि तीछन बहु विख्यात।
अधकार-अज्ञान हरन कौ रवि-ससि जुगल-प्रकास।
बासर-निसि दोउ करै प्रकासित महा कुमग अनयास।
दुहू लोक सुखकरन, हरनदुख, वेद-पुराननि साखि।
भक्ति ज्ञान के पथ सूर ये, प्रेमनिरतर भाखि। (90)

नाम भक्ति का प्रेरक और प्रेम के नैरतर्य का कारण है। नामस्मरण एक मानसिक प्रक्रिया है। सूर ने एक पद मे यह मत व्यक्त किया है

अब तुम नाम गहौ मन नागर।
जातै काल अगिनि तै बाचौ, सदा रहौ सुखसागर।

क्रिया कर्म करतहु निसि बासर भक्ति कौ पथ उजागर।
सोचि विचारि सकल स्रुति सम्मति, हरि तै और न आगर।
(91)

इस नाममहिमा मे सूरदास ने सामान्य वैभव भावना की अभिव्यक्ति की है जिसमे राम-कृष्ण आदि का अभेद ही दिखाई पडता है। इसमे भगवान के सभी रूपो और अवतारो के प्रति भक्त के मन मे श्रद्धा की अटूट भावना प्रकट हुई है।

कीर्तन भक्ति को सामाजिक अनुभूति का विषय बनाने वाला साधन है। कीर्तन के दो रूप है—वैयक्तिक और सामाजिक। वैयक्तिक रूप मे कीतन भगवान के नाम, रूप, गुण तथा विभिन्न लीलाओ की अनुभूति की सगीतमय अभिव्यक्ति है। नददास के शब्दो मे कीर्तन उपासना का नाद-मार्ग है, जहा सगीत के सहारे व्यक्तिचेतना और लोकचेतना की भगवदोन्मुखता व्यक्त होती है।[16]

हिंदी के भक्तिकाव्य मे काव्य और सगीत का जैसा समन्वित स्वरूप प्रकट हुआ है, वैसा अन्यत्र अनुपलब्ध है। भक्तिकाल मे सपूण कलाओ का लक्ष्य भगवान की लीला और रूप की अभिव्यजना ही थी। ब्रजभाषा का भक्तिकाव्य तो भक्तो की आत्मा का सगीत है, उसकी अभिव्यक्ति भी शास्त्रीय सगीत की राग-रागिनी

पद्धति मे हुई है । अष्टछाप के सभी कवि गायक और कीर्तनकार थे । सूरसागर तो रागसागर ही है । सूरसागर ने भगवान की सगुण लीलाओ के गान का ही व्रत लिया है (पद स 1)।

सूरदास ने हरिनाम को भक्ति का आधार माना है और हरि-कीर्तन को सासारिक बधनो से मुक्ति का उपाय (पद स 347)। गोपाल के लीलागान मे जो सुख है वह जप, तप और तीर्थाटन मे नही है (पद स 349)। हरि के गुण के कीर्तन, गायन, श्रवण और हरि के रूप के दर्शन मे ही व्यक्ति के जीवन की सार्थकता है। नारद भक्तिसूत्र के अनुसार लोक मे भगवद्गुण-श्रवण और कीर्तन से भक्ति पुष्टि होती है।

क्रियात्मक स्तर पादसेवन, वदन और अर्चन—भक्ति के ये तीनो साधन सवाविधि के अतर्गत हैं। ये भक्त के हृदय मे स्थित भावना के बाह्य प्रकाशन के साधन हैं। इनसे भक्त का आचरण पक्ष प्रकट होता है। पादसेवन की आरभिक अवस्था मूर्तिपूजा, गुरुपूजा और भगवद्पूजा की होती है। सूरदास भगवान के चरण कमलो की वदना करते हैं। सूरसागर का प्रथम पद ही प्रभु के चरणो की वदना का पद है। हरि-चरणो की कृपा के दिव्य प्रभावो का इस पद मे वर्णन है। हरिचरणारविंद के अतिरिक्त अगर कही मन अनुरक्त हो तो सूर के अनुसार, उस व्यक्ति की बुद्धि कच्ची है (पद स 18)। हरि-चरणो को छोडकर मन कही सतुष्ट नही हो सकता। सूरदास हरि के उन चरणो की वदना करते है जिनमे शिव, लक्ष्मी, प्रह्लाद, गगा आदि का अनुराग है, जिसके अनुराग मे ब्रजलीला सपन्न हुई है और ये चरण त्रिविध ताप का निवारण करते हैं (पद स 307)। सूरदास ने बार बार अपने मन को श्रीकृष्ण के चरणो की सेवा मे अर्पित किया है। सूरदास ने गुरु के चरणो की भी वदना की है। गुरु-महिमा का गान मध्यकाल के सभी सत और भक्त कवियो ने किया है। गुरु की कृपा से ही भक्त का मानसलोक आलोकित होता है। सूरदास का मत है कि गुरु भक्तिपथ मे भक्त का मार्गदर्शक है, वही भक्त को ज्ञान ज्योति से उद्दीप्त करता है

> गुरु बिनु ऐसी कौन करै ?
> माला तिलक मनोहर बाना, लै सिर छत्र धरै।
> भवसागर तै बूडत राखे, दीपक हाथ धरै।
> सूर स्याम गुरु ऐसो समरथ, छिन मैं लै उधरै। (417)

हरि और गुरु के अतिरिक्त हरिभक्तो के चरणो की वदना और महिमा का गायन भक्तिसाधना मे सहायक है। भगवान और उसके भक्तो मे अभेद ही है, इसलिए भक्तो की सेवा भक्तिभावना को परिपुष्ट करती है। नारदभक्तिसूत्र के अनुसार, भगवत्कृपा से ही भक्तो का सत्सग उपलब्ध होता है, इसलिए उस सत्सग की साधना आवश्यक है। सूरदास ने भी सत सत्सग महिमा का

गान किया है। सतो की सगति से भगवान की स्मृति जाग्रत होती है और भक्ति भी दृढ होती है

जा दिन सत पाहुने आवत।
तीरथ कोटि सनान करै फल जैसो दरसन पावत।
नयौ नेह दिन-दिन प्रति उनकै चरन कमल चित लावत।
मन-बच-कर्म और नहि जानत, सुमिरत औ सुमिरावत।
मिथ्यावाद-उपाधि-रहित ह्वै, विमल-विमल जस गावत।
बधन कर्म कठिन जे पहिले, सोऊ काटि बहावत।
सगति रहै साधु की अनुदिन, भव-दुख दूरि नसावत।
सूरदास सगति करि तिनकी, जै हरि सुरति करावत॥ (360)

श्रद्धा और आदर के साथ भगवान के स्वरूप की पूजा और अर्चना भी भक्ति कही जाती है। वदन तो अर्चना का अनिवार्य अग है। सूरदास के एक पद मे ईश्वर के विराट सर्वात्म स्वरूप के बोध की व्यजना है

नैननि निरखि स्याम स्वरूप
रह्यौ घट घट व्यापि सोई, जोति रूप अनूप।
चरन सप्त पताल जाके, सीस है आकास।
सूर चद्र नछत्र पावक, सर्व तासु प्रकास॥ (370)

इसमे 'ईशा वास्यमिद सर्वं यत्किच्जगत्या जगत्' अर्थात जगत मे जड-चेतन जो कुछ है सब ईश्वरमय है, इस सर्वात्म्य बोध की अभिव्यक्ति है। इस सृष्टि का प्रत्येक कण अपने रूप के साथ परम चैतन्य की अर्चना मे रत है। सपूर्ण सृष्टि ही हरि की आरती के लिए निर्मित है और सृष्टि के विभिन्न उपादान आरती के विभिन्न उपकरण ही हैं (पद स 371)।

भावात्मक स्तर : भक्ति के बोधात्मक और क्रियात्मक साधनाओ के सहयोग से उसका भावात्मक रूप स्थिर होता है। विनय के पदो मे दास्य भाव की भक्ति ही प्रधान है और शात उसका सहायक भाव है। दास्य भाव की स्थिरता के कारण भक्त का चित्त शात हो जाता है, उसमें भावनाओ और कामनाओ का द्वद्व समाप्त हो जाता है। राग, द्वेष, दुख, सुख तथा चिंता-इच्छा के द्वद्व से विमुक्त शममूलक शात चित्त ही दास्य भाव का आधार है। विनय के पदो मे दास्य भक्ति व्यजित है और उसमे श्रवण, कीर्तन, नामस्मरण, पूजा तथा भगवत्कृपा और गुरुपूजा आदि सहायक तत्त्व हैं। दास्यभक्ति का मूल भाव है दैन्य। उसके सहायक तत्त्व तीन प्रकार के हैं (1) स्थितिबोधात्मक, (2) विधायक, और (3) निषेधात्मक तत्त्व। भक्त अपने लौकिक जीवन मे सासारिक विषयो मे आसक्ति, कर्मों मे लिप्तता तथा ईश्वर के विस्मरण की वास्तविक दुखद स्थिति का बोध सर्वप्रथम प्राप्त करता है। उसका मानस जब सासारिक विषय-

वासनाओ की प्रकृति को पहचान लेता है तब उसमे सासारिक कर्मों के प्रति निर्लिप्तता और उदासीनता जाग्रत होती है। सूरदास ने अनेक पदो मे विषया-सक्ति का वर्णन किया है। कर्म बधन के कारण हैं, यह ज्ञात होते ही व्यक्ति सासारिक कर्मों के प्रति उदासीन हो जाता है । सूरदास ने अनेक पदो मे सासारिक कर्मों का भव्य वर्णन करते हुए उसकी निस्सारता की घोषणा की है। "विमुख भयौ हरि चरन कमल तजि मन सतोष न आयौ" के बोध के जाग्रत होते ही भक्त भगवदोन्मुख होने लगता है। सूर के एक पद मे ये सभी तत्त्व विद्य-मान हैं

> जनम साहिबी करत गयौ।
> काया-नगर बडी गुजाइस, नाहिन कछु बढयौ।
> हरि कौ नाम, दाम खोटे लौं झकि-झकि डारि दयौ।
> विषया-गाव अमल कौ टोटौ, हसि-हसि कै उमयौ। (64)

दास्यभक्ति के दूसरे तत्त्व विधिपरक हैं, जिसमे नाममहिमा, गुरुमहिमा, भगव-त्कृपा, कामनाओ का त्याग, विनय और सत्सग आदि हैं। सूरदास ने इनका भरपूर वर्णन किया है। दास्यभक्ति के बाधक तत्त्वो का त्याग ही उसका निषेध पक्ष है जिसमे हरिविमुख सग त्याग ओर ससारासक्ति त्याग हैं। विनय के पदो मे कुछ विद्वानो ने सख्य भाव खोजने का प्रयास किया है। सूरदास ने कुछ पदो मे अपनी अधमता, दैन्य और भगवान की कृपालुता की चर्चा की है (पद स 130)। पतित और पतितपावन की इस होड मे सूरदास का विनय ही प्रकट हुआ है। भगवान मे उनकी दृढ दास्यभक्ति की व्यजना को सख्य नही कहा जा सकता।

आत्मनिवेदन भक्ति का सहज धर्म है। शात, दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य—सभी प्रकार की भक्ति मे आत्मनिवेदन का भाव प्रमुख होता है। इस आत्मनि दन मे ही भक्ति की अनन्यता अभिव्यक्त होती है। सूरदास के विनय के पदो से यह ज्ञात होता है कि वे जागतिक जीवन के कटु-तिक्त रसो के आस्वादन के पश्चात ही भक्तिरस की ओर उन्मुख हुए थे। सूर का आत्मनिवेदन इस पद मे प्रकट है

> अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।
> काम क्रोध कौ पहिरि चलना, कठ विषय की माल।
> महामोह के नूपुर बाजत, निंदा-सबद-रसाल।
> भ्रम-भोयौ मन भयौ पखावज, चलत असगत चाल।
> तृष्ना नाद करति घट भीतर, नाना विधि दै ताल।
> माया कौ कटि फेंटा बाध्यौ, लोभ-तिलक दियौ भाल।
> कोटिक कला काछि दिखराई जल थल सुधि नहिं काल।
> सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नदलाल ॥ (153)

इस पद मे नृत्य की कत्थक शैली का रूपक है। कत्थक नृत्य शृगारप्रधान होता है। यह सूर की प्रतिभा का ही प्रभाव है कि उन्होने इसको भक्तिरस से सराबोर कर दिया है। वास्तव मे सूरसागर का सारतत्त्व है मानवीय प्रेम को चिन्मुख करना। प्रेम के इस उदात्त रूप की भावना, कल्पना और व्यजना ही सूरसागर की महान उपलब्धि है। इसी से सूरसागर जीवन का काव्य बन सका है। दास्य-भक्ति मे आत्मनिवेदन और आत्मसमर्पण की परम अवस्था वह है जहा भगवद्-भक्ति भक्त की आत्मा का धर्म बन जाए (पद स० 169)।

सूरदास ने श्रीकृष्ण की रसमयी ब्रजलीलाओ के गान के सहारे रागानुगा सबधरूपा भक्ति की व्यजना की है। सबधरूपा भक्ति पाच भावो की होती है—शात, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। सूरदास की शात और दास्य भाव की भक्ति का विवेचन विनय के पदो के सदर्भ मे हो चुका है। शात और दास्य भाव की भक्ति मे सामान्य वैष्णव भावना का प्रकाशन है, उसमे कृष्ण, राम, विष्णु, हरि आदि को समान भाव से स्वीकार किया गया है। सूर की कृष्ण-भक्ति मे ही विशेष अनुरक्ति है। कृष्ण की ब्रजलीलाओ के माध्यम से सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव की गभीर व्यजना है। ब्रजलीला मे वात्सल्य और माधुर्य ही मुख्य भाव हैं क्योकि बाललीला और भावतीलीला सूरसागर मे आदि से अत तक व्याप्त है। बाललीला के बीच-बीच मे माधुर्य भाव की व्यजना है।

सूरदास के कृष्ण बचपन से ही वात्सल्य, सख्य और माधुर्य—तीनो भावो के आलबन बन गए हैं। कृष्ण के प्रति ब्रजवासी अपने-अपने हृदय मे अपने वय और सबध के अनुसार तीनो भाव पालते हैं और सपूर्ण ब्रजलीला मे इन तीनो भावो का क्रमशः विकास दिखाई पडता है। भक्तिशास्त्रो मे शात, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भावो के क्रम मे सख्य वात्सल्य के पूर्व आता है, परतु सूर-सागर मे श्रीकृष्ण की लीला के विकासक्रम के अनुसार, वात्सल्य सख्य का पूर्ववर्ती है। सख्य को वात्सल्य का पूर्ववर्ती मानने का कोई विशेष कारण नही ज्ञात होता, क्योकि अनुभूति की तीव्रता, प्रभाव की व्यापकता और भाव-स्थिरता की दृष्टि से सख्य और वात्सल्य मे कोई भी भाव एक-दूसरे से हीन कोटि का नही है। लीला और भावो के विकास की स्वाभाविक गति की दृष्टि से वात्सल्य के बाद ही सख्य है और सख्य के उपरात माधुर्य। सख्य और माधुर्य मे भावना के स्तर पर मनो-वैज्ञानिक समानता है क्योकि माधुर्य सख्य का ही विकसित रूप है, माधुर्य के मूल मे भी सख्य है। सूर की भक्तिभावना और भक्तिसाधना के विवेचन मे वात्सल्य को सख्य के पहले रखना उचित प्रतीत होता है।

वात्सल्य भक्ति

वात्सल्य स्नेह प्रेम का अत्यत कोमल रूप है और इसकी व्याप्ति प्राणी मात्र मे

पाई जाती है। बालक के निष्कपट, सहज भोले नैसर्गिक सौंदर्य पर मानवमन का अनुराग स्वत उमड पडता है। नि स्वार्थ निष्कलुष वात्सल्य स्नेह से पूरित मातृ हृदय की भावदशा की अनुभूति ही वात्सल्य भक्ति है। वात्सल्य का जैसा वैविध्य-पूर्ण विशद वर्णन सूरदास ने किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। बालक के भोले स्वभाव, नैसर्गिक सौदर्य, भावदशा तथा बालक्रीडाओ और वात्सल्य भाव मे निमग्न मातृ हृदय की विशालता, शुचिता एव अनुभूति प्रवणता का अत्यत चित्रात्मक अकन सूरदास ने किया है। सूरदास ने वात्सल्य के सयोग और वियोग दोनो पक्षो का उद्घाटन किया है। सयोग मे आनदमग्न हृदय और वियोग मे वेदना-विदग्ध चित्त की सूक्ष्म भावदशाओ की अभिव्यक्ति सूरसागर मे हुई है। यशोदा के मातृ हृदय की अनुभूति के साथ सपूर्ण लोक का शाश्वत मातृ हृदय उद्घाटित हुआ है। ब्रज मे श्रीकृष्ण की बाललीलाए तीन प्रकार की हैं (1) मानवीय, (2) अतिमानवीय और (3) अलौकिक या दिव्य। सूरदास ने सपूर्ण ब्रजलीला मे कृष्ण का मानवीय और दिव्य रूप समानातर कायम रखा है। कृष्ण की लीला की रहस्यात्मकता से सूर ने कृष्ण के भगवतस्वरूप की ओर सकेत किया है। बाललीला में जहा कृष्ण का अलौकिक रूप प्रकट है, वहा वात्सल्य के साथ सभ्रमगत दास्य भी व्यजित हुआ है।

वात्सल्य भक्ति का आधार है श्रीकृष्ण का बालक रूप, श्रीकृष्ण की रूप माधुरी और क्रीडा माधुरी। सूरदास ने श्रीकृष्ण की रूप माधुरी और ललित क्रीडाओ का मनोहर वर्णन किया है। श्रीकृष्ण का बालरूप सपूर्ण लोक के रूपरसिक लोचनो के अनुराग का केंद्र है। यशोदा का हृदय आनद का विशाल सागर है। वह कृष्ण को पालने मे झुलाती है, लोरी गाकर सुनाती है और जब कृष्ण करवट बदलते हैं तो उस शोभा की लहरें यशोदा के मानस-तट को छू लेती हैं। यशोदा तरह-तरह की अभिलाषाए हृदय मे पालती हैं, जो कृष्ण के साथ-साथ विकसित होती हुई दिखाई देती हैं। कृष्ण के अनिष्ट की आशका से यशोदा का मातृ हृदय व्याकुल हो जाता है और दूसरे क्षण कृष्ण के दूध के दातो को देखकर प्रेममग्न यशोदा तनमन की सुधि भूल जाती हैं। सूरदास ने श्रीकृष्ण की बाललीलाओ का अत्यत मनोहर चित्रण सूरसागर मे किया है और सर के पदो के आधार पर अनेक कुशल चित्रकारो ने चित्र निर्मित किए हैं। अब भी अनेक शब्दचित्र कुशल सवेदनशील चित्रकारो की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस प्रकार बालक कृष्ण की रूप-माधुरी और क्रीडामाधुरी के सयोग से वात्सल्य की भावधारा प्रवाहित हुई है। सूरदास ने बाललीला मे ही एक स्थल पर राम और कृष्ण का अद्वैत स्थापित किया है (पद स 816)। यह सूर की उदार भक्तिभावना का प्रमाण है। सूर पर साप्रदायिकता के आग्रह का आरोप अनुचित है। सयोग वात्सल्य मे यशोदा की तन्मयता मे वात्सल्य भक्ति का पर्यवसान दिखाई पडता है।

सयोग के साथ-साथ वात्सल्य का वियोगपक्ष भी सूरसागर मे अभिव्यक्त है। सयोगपक्ष मे बालक का रूप और उसकी क्रीडाओ का लालित्य है किंतु वियोग मे मातृ हृदय की गहन अनुभूतियो का मर्मस्पर्शी रूप व्यक्त है। श्रीकृष्ण के वियोग से सारा ब्रजमडल व्याकुल है किंतु माता का हृदय उस वियोग-वेदना को हजार गुना अधिक तीव्रता से अनुभव करता है। यशोदा का दैन्य और विनय इस वियोग-वात्सल्य मे ही प्रकट हुआ है। आशा और निराशा के बीच स्थित यशोदा का मातृ हृदय दीनता, अधैर्य, विरक्ति और वेदना का सागर बन गया है। इस प्रकार यशोदा की वात्सल्यानुभूति मे वात्सल्य भक्ति की व्यजना है।

सख्य भक्ति

श्रीकृष्ण की गोकुललीला मे वात्सल्य भक्ति की व्यजना है और वृदावनलीला मे सख्य भक्ति की। भगवान से सख्य भाव की स्थापना ही सख्य भक्ति है। लौकिक व्यवहार मे सख्य के चार रूप होते हैं (1) बधु, (2) सखा, (3) मित्र और (4) सुहृद। बधुत्व मे वियोग असह्य होता है और सखा वे हैं जो सम प्राण हो। एक प्रकार के कार्य-व्यापार मे रत व्यक्ति मित्र होते है और सुहृदय वे हैं जो सदा सहमत हो। माखनचोरी, गोचारण और दूसरी वृदावनलीलाओ मे गोप बालक कृष्ण के सखा हैं। ब्रज के गोप बालक श्रीकृष्ण के बधु, सखा मित्र, और सुहृद हैं। सभी गोप बालक श्रीकृष्ण के बधु हैं, क्योकि कृष्ण का वियोग उनके लिए असह्य है। वे सखा है क्योकि कृष्ण मे ही उनके प्राण बसते है। वे सभी कृष्ण के साथ कृष्ण के कार्यों मे सहयोग करते है, इसलिए मित्र है। गोप बालक सदा कृष्ण के मत का अनुसरण करते हुए दिखाई पडते हैं, अत वे सुहृद हुए। वल्लभ सप्रदाय मे सख्य भक्ति की बडी महत्ता है। अष्टछाप के आठो कीर्तनकार कवियो को अष्टसखा माना जाता है और इसलिए कभी-कभी सूरदास की भक्ति को कुछ लोग सख्य भाव की भक्ति मान लेते हैं। सख्य का प्रयोग अष्टछाप के अष्टसखा की परपरा के अर्थ मे ही होता है, वह सूर की भक्तिभावना का कोई विशेष स्वरूप नही है।[17]

सूरसागर मे कृष्ण के सखा चार प्रकार के हैं अर्जुन, उद्धव, सुदामा और ब्रज के गोप बालक। श्रीकृष्ण ने स्वय इन चारो के साथ अपने सख्य को स्वीकार किया है। इनके सख्य की प्रकृति की भिन्नता के कारण सख्य भक्ति भी चार प्रकार की हो जाती है। श्रेष्ठ सख्य भक्ति ब्रज गोपो की ही है, इसलिए ब्रज गोपो के सख्य भाव को ही सख्य भक्ति का आदर्श माना जाता है। सूरदास ने भी ब्रज के गोपो के सख्य भाव को अधिक विस्तार और गहराई के साथ अभिव्यजित किया है। ब्रज के गोप सखाओ की भावतन्मयता, आत्मीयता और घनिष्टता मे सख्य भक्ति का प्रकाशन हुआ है। गोकुललीला मे श्रीकृष्ण सखाओ के साथ अनेक

प्रकार के खेलो मे भाग लेते है। गोप सखा प्रात काल ही कृष्ण के घर पहुचकर उन्हे खेलने के लिए बुलाते है। कृष्ण, बलराम, सुबल, श्रीदामा और सुदामा आदि के साथ क्रीडामग्न दिखाई पडते है। आखमुदाई के खेल मे श्रीदामा से कृष्ण हार गए तो रिस करने लगे। श्रीकृष्ण को कुछ रुष्ट और कुछ रूठा जानकर श्रीदामा ने कहा कि खेल मे रुष्ट होने और रूठने का कोई अर्थ नही है। खेल की हार जीत मे बडे और छोटे का कोई भेद नही है ·

खेलत मैं को काको गुसैया।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैया।
जाति पाति हमतें बड नाही, नाही बसत तुम्हारी छैया।
अति अधिकार जनावत-यातैं जातैं अधिक तुम्हारे गैया।
रुहठि करैं तासौं को खेलै, रहे बैठि जह तह सब ग्वैया।
सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउ दियो करि नद दुहैया। (863)

सख्य भाव मे समानता आवश्यक है। इस समता के भाव की ही व्यजना उपर्युक्त पद मे हुई है।

माखनचोरी मे भी कृष्ण के साथ उनके गोप सखा है। कृष्ण माखन खाते है और दूसरे सखाओ को भी देते है। कृष्ण के साथ गोपो का सख्य वृदावन के गोचारण मे विशेष विकसित हुआ है। कृष्ण सखाओ के साथ गोचारण मे परम प्रसन्न हैं। कृष्ण वृदावन मे गाय चराते है और अनेक राक्षसो से सखाओ की सुरक्षा भी करते है। राक्षसवध की अलौकिक लीलाओ के कारण गोपो मे विस्मय का भाव उत्पन्न होता है, किंतु कवि ने उनमे सख्य का आत्मविश्वास सदा कायम रखा है, इसलिए सख्य दास्य नही हो पाता है। कृष्ण भी बराबर सखाओ के साथ समानता का व्यवहार करते है। कृष्ण के घर से छाक आई तो कृष्ण ने सभी सखाओ को बुलाया। वे सभी सखाओ के आगे छाक बाटते है और उनके बीच मे बैठकर भोजन करते हैं। कृष्ण अपना हिस्सा न खाकर सखाओ के हाथ से लेलेकर खाते हैं

आई छाक, बुलाए स्याम।
यह सुनि सखा सबै जुरि आए, सुबल, सुदामा अरु श्रीदामा।
कमल-पत्र दोना पलास के, सब आगैं धरि परुसत जात।
सूर स्याम अपनौ नहिं जेंवत, ग्वालनि कर तैं लै लै खात। (1083)

सहज समानता और सद्भावना पर आधारित यह सख्य का स्वाभाविक स्वरूप है। सूरदास ने सखाओ मे परस्पर आरोप-प्रत्यारोप एव शिकायत आदि से युक्त व्यग्य विनोदमय सख्य का विकास दिखाया है। वन मे बलराम कृष्ण को कभी हाऊ के नाम से डराते है और कभी उनको खरीदा हुआ कहकर चिढाते हैं। काली दमन लीला के प्रारभ मे ही खेल मे गोप कृष्ण के साथ निर्द्वंद्व भाव से

समानता का व्यवहार करते है। जब श्रीदामा की गेद कृष्ण से कालीदह मे गिर गई तो श्रीदामा ने दौडकर कृष्ण का फेंटा पकड लिया और अपनी गेंद मागने लगे। कृष्ण के कालीदह मे कूदते ही उनके अनिष्ट की आशका से ग्वाल बालक अत्यत व्याकुल दिखाई पडते हैं।

कृष्ण अपनी मुरली की मधुर ध्वनि से सखाओ का मनोरजन करते है और सखागण मुरली के सगीत मे अपनी आत्मा की झकार पाते हैं। वे बार-बार कृष्ण से मुरली बजाने का आग्रह करते है। गोप सखा कृष्ण से जन्म-जन्मातर के सख्य की प्रार्थना करते हैं, उनके चरणो के समीप रहने की कामना व्यक्त करते है। यही सख्य का भक्ति रूप है

ग्वाल सखा कर जोरि कहत है, हमहिं स्याम तुम जनि बिसरावहु।
जहा जहा तुम देह धरत हौ, तहा तहा जनि चरन छुडावहु॥ (1068)

मधुर भक्ति

माधुर्य भाव की मधुर भक्ति रागात्मिका भक्ति का श्रेष्ठ रूप है। इस मधुर भक्ति का स्थायी भाव माधुर्य, काता रति या मधुरा रति है। लोकपक्ष मे जो काव्यरस श्रृगार है, वही भक्तिरसशास्त्र मे मधुर रस या उज्ज्वल रस है। काव्यरस और भक्तिरस मे यह अतर है कि काव्यरस जीवनोन्मुख होता है और भक्तिरस आत्मोन्मुख। मधुर रस मे श्रृगार रस के उपादानो एव अवस्थाओ का समावेश हो जाता है। श्रृगार रस का औचित्य और अनौचित्य विचार मधुर रस के लिए उपयोगी नही है, क्योकि माधुर्य भाव के आलबन सच्चिदानद भगवान श्रीकृष्ण हैं। मधुर रस मे प्रेम के दो रूप है स्वकीया प्रेम और परकीया प्रम। ब्रज की गोपियो को मधुर भक्ति का आधार माना जाता है और उनमे कुछ स्वकीया हैं और कुछ परकीया।

मानवीय भावो मे अनुभूति की तीव्रता, गहनता, सघनता तथा प्रभाव की व्यापकता की दृष्टि से प्रेम श्रेष्ठ भाव है। उसका अत्यत घनीभूत रूप स्त्री-पुरुष के पारस्परिक रति-भाव मे प्रकट होता है। रति-भाव से उत्पन्न आनद की तीव्रता और गहराई की दृष्टि से स्वकीया प्रेम से परकीया प्रेम श्रेष्ठ ज्ञात होता है, इसलिए चैतन्य महाप्रभु ने परकीया प्रेम को ही मधुर भक्ति का आदश माना है। भक्तिशास्त्रियो ने मधुर भक्ति को सर्वोच्च भक्ति भाव इसलिए माना है कि इसके स्थायी भाव कातारति मे तल्लीनता, घनिष्ठता, आत्मोत्सर्ग एव आत्मविस्मृति की जैसी सिद्धावस्था होती है, वैसी भावदशा की उपलब्धि अन्य भावो मे सभव नही है। प्रेम मे आत्मसमर्पण की मनोदशा का प्रतिनिधित्व भावना और कामना-मूर्ति नारी के व्यक्तित्व मे जिस सहजता एव स्वाभाविकता से सभव है वैसा पुरुष के व्यक्तित्व मे सभव नही है। इसलिए ब्रज की गोपियो को

प्रेम का प्रतीक माना जाता है और गोपी-भाव की चरम उत्कर्षित अवस्था को ही राधा-भाव कहा गया है। राधा और गोपियो के आत्मसमर्पण तथा आत्म-निवेदन की भावदशा ही मधुर भक्ति की सिद्ध भावदशा है। यही नारदभक्ति-सूत्र की प्रेमभक्ति है, सूरदास की प्रेमलक्षणाभक्ति है और यही पराभक्ति भी है।

मानव की मूल प्रवृत्तियो मे काम सर्वाधिक प्रबल और सर्वातिशायी प्रवृत्ति है और रति उसका भावरूप है। इद्रियो के धर्मों मे बधा मनुष्य सहज ही काम-निबद्ध हो जाता है, क्योकि सभी इद्रिया काम की साधना मे सहायक है। काम की अभिव्यक्ति विभिन्न कामनाओ के रूप मे होती है और व्यक्ति का सपूर्ण जीवन इन कामनाओ की सतुष्टि मे ही समाप्त हो जाता है, उसका ध्यान आत्मा के सहज धर्म ज्ञान की ओर उन्मुख नही हो पाता। गीता के अनुसार, स्थितप्रज्ञता के लिए मन की सभी कामनाओ का परित्याग आवश्यक है। सबल इद्रिया मनुष्य के मन को कामनाओ की ओर आकर्षित करती है। इद्रियासक्ति से विषयासक्ति बढती है और आसक्ति से काम उत्पन्न होता है तथा काम से ही क्रोध, क्रोध से मोह और मोह से स्मृतविभ्रम, विभ्रम से बुद्धि विनाश और बुद्धि विनाश से सर्वात्म विनाश की अवस्था आती है। इस प्रकार काम मनुष्य के विनाश का कारण बन जाता है। काम मनुष्य की सबसे बडी कमजोरी है और शक्ति भी। काम के सयमित उपयोग से सृजनशक्ति का उद्भव होता है और काम का शिवत्व प्रकट होता है।

सूरदास ने काम के विनाशकारी और कल्याणकारी—दोनो रूपो को पूर्ण-तया पहचाना था। 'आलिगन चुबन परिरभन, नखछत चारु परस्पर हासी' के माध्यम से व्यक्त होने वाले काम की शक्ति और गति की पहचान के कारण ही सूरदास ने मध्यकाल के अन्य सतो एव भक्तो की भाति अस्वीकार-तिरस्कार के द्वारा उसके दमन का मार्ग न अपनाकर उसकी सहज गति को भगवदोन्मुख कर दिया तथा उसे सच्चिदानद मे विसर्जित कर परम उदात्त बना दिया। लोकबद्ध मानव-विषयक काम ही ईश्वरविषयक होने पर अलौकिक प्रेम बन जाता है। लौकिक ऐंद्रिक काम के अलौकिक अतीद्रिय भाव को भागवत्स्वरूप मे नियोजित करने मे ही सूरदास के भक्तिकाव्य की सफलता है। सपूर्ण लौकिक बाधा-बधनो, आसक्ति-प्रलोभनो एव विधि-निषेध से उन्मुक्त होकर गोपी भाव से सर्वात्म-समर्पण ही मधुर भक्ति की चरम अवस्था है, जिसकी सूरसागर मे सफल व्यजना हुई है।

सूरसागर मे स्वकीया और परकीया दोनो प्रकार की गोपिया हैं, परतु सूरदास ने स्वकीयत्व को ही विशेष प्रधानता दी है और इसलिए रासलीला मे राधा-कृष्ण विवाह का आयोजन करके राधा को स्वकीया बनाया है। ब्रज की गोपिया कुमारिया हैं जो अनन्यपूर्वा हैं और कृष्ण को अपना पति मानती और

जानती है। उन्होने कृष्ण को पति के रूप मे प्राप्त करने के लिए शिव और सूर्य की आराधना की है तथा कृष्ण उनकी मनोकामना को पूर्ण करते है। कुछ ऐसी भी गोपिया हैं जो अन्यपूर्वा हैं, फिर भी लोकलाज और लौकिक मर्यादा को तोड-कर कृष्ण से प्रेम करती है। उनका चित्त कृष्ण मे अनुरक्त है, वे कृष्ण के सौदर्य पर लुब्ध और मुग्ध हैं, कृष्ण उनकी आखो मे, प्राण मे, हृदय मे, तन और मन मे बस गए हैं। एक ओर कृष्ण का प्रेम और दूसरी ओर लोकलाज का भय है। इसके बीच मे अन्यपूर्वा गोपियो की विकल मनोदशा है। चैतन्य मत मे परकीया-प्रेम की स्वीकृति है, किंतु वल्लभ सप्रदाय मे स्वकीया-प्रेम को ही विशेष महत्त्व देने के कारण सूरसागर मे गोपियो का स्वकीया रूप ही प्रधान है।

सूरदास ने स्वकीया के क्रमश विकासशील स्वरूप को उपस्थित किया है। कृष्ण बचपन से ही गोपियो के आकर्षण के कारण है और गोपियो के मन मे कृष्ण के लिए अनुराग है। माखनचोरी मे भावतीलीला का आयोजन है। कृष्ण का नयनाभिराम मोहक सौदर्य और उनकी वशी का आकर्षण सगीत गोपी-कृष्ण लीला के साधन हैं। कृष्ण सौदर्य के सागर है और गोपियो का मन इस सौदर्य सिंधु मे निमग्न है। कृष्ण प्रेमघन हैं और गोपियो का चित्त चातक है। कृष्ण के एक-एक अग के असीम सौदर्य पर गोपिया मुग्ध है, विमोहित हैं। गोपिया काम मोहित हैं और कृष्ण को पति के रूप मे प्राप्त करने की अभिलाषा व्यक्त करती हैं। चीरहरणलीला मे गोपियो के निर्द्वंद्व अनुराग की प्रथम अभिव्यक्ति हुई है और चीरहरणलीला के सहारे कृष्ण गोपियो के मन के सकोच, द्वद्व, झिझक आदि को मिटाने का प्रयास करते है। पनघटलीला मे नोक झोक और छेडछाड चलती है, जिसमे गोपियो का आतरिक अनुराग प्रकट हुआ है। दानलीला मे कृष्ण गोपियो से गोरस का दान (इद्रियरस का दान) मागते हैं और गोपिया सहष सर्वस्व दान करती हैं। गोपिया आत्मदान कर परम प्रसन्न हैं, हरिरस निमग्न है और उनकी इस तल्लीनता और तन्मयता मे ही गोपी भाव की पराकाष्ठा है। सूरदास के शब्दो मे गोपिया प्रेम की प्रतिमाए हैं, उन्होने कृष्ण को अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया है

> ग्वालिनी प्रगट्यौ पूरन नेहु।
> दधि भाजक सिर पर धरे कहति गोपालहिं लेहु।
> वन-बीथिनि अरु पुर-गलिनि, जहा तहा हरि-नाउ।
> समुझाई समुझति नही, सिख दै बिथक्यौ गाउ।
> पिये प्रेम बर बारुनी, बलकति मुख न सम्हार।
> पग डगमग जित तित धरति, बिथुरी अलक लिलार।
> चित्त आकर्ष्यो नद-सुत मुरली मधुर बजाइ।
> जिहिं लज्जा जग लज्जियै (सो) लज्जा गई लजाइ। (2258)

रासलीला सामूहिक सयोग की अवस्था है। वह महामिलन है। रासलीला रस-लीला है, मधुर रसलीला है (पद स 1798)।

माधुर्य भाव का सर्वोत्कृष्ट रूप राधा-कृष्ण की प्रेमलीला मे व्यक्त हुआ है। राधा-कृष्ण का प्रेम बचपन से ही क्रमश विकसित हुआ है। दोनो एक-दूसरे के सौंदर्य पर आकृष्ट हैं। दोनो के मन मे अनुराग की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती दिखाई पडती है। सौंदर्य, साहचर्य और सहयोग के सहारे विकसित यह प्रेम, प्रेम का आदर्श रूप है। गारुडी-प्रसग मे राधा की पूर्वानुरागजनित विकलता का वर्णन है। सूरदास के अनुसार राधा और कृष्ण दो शरीर एक प्राण हैं, उनमे कोई भेद नही है। वे प्रकृति और पुरुष हैं, उनका ब्रज मे यह भेद लौकिक है, वास्तविक नही। राधा और कृष्ण परम चैतन्य के ही दो रूप हैं। उनका प्रेम पुरातन है। वे सनातन हैं और उनका यह लौकिक रूप लीलारूप है। उनकी गुप्त-लीला शाश्वत है, प्रेम शाश्वत है, लेकिन इस प्रकटलीला मे लोकलाज एव कुल-कानि की चिंता है। रासलीला मे राधा नायिका है। वे रास के मध्य मे विराज-मान है। कृष्ण जगनायक हैं और राधा जगदीशप्रिया, जगतजननी और जगत-रानी है। वृदावन मे राधा-कृष्ण का विहार नित्य है। रासलीला मे राधा स्वकीया है। वे दोनो मूर्तिमान राग-रागिनी हैं। रासलीला मे राधा जीव है और सभी गोपिया देह। राधा गोपियो की आत्मा हैं। रासलीला के पश्चात ग्रीष्म-लीला, युगल समागम, मानलीला, दपत्ति विहार, खडिता प्रकरण, झूलन और वसतोत्सव के सहारे राधा-कृष्ण की प्रेमलीला चलती है।

मधुर भक्ति मे विरह दशा या परम विरहासक्ति की विशेष महत्ता है। इस विरह दशा मे ही तन्मयासक्ति और परम विरहासक्ति का उत्कर्ष दिखाई पडता है। विरह मे प्रेम का विशुद्ध निष्कलुष रूप वहा प्रकट है जहा प्रिय और प्रिया, राधा और कृष्ण शरीर से वियुक्त होकर भी मन और आत्मा से सदा सयुक्त हैं। वियोग मे प्रेम की अद्वैतावस्था होती है। वियोग मे प्रिय प्रिया की आत्मा का अश बन जाता है। सूरदास ने सिद्धात-रूप मे भी प्रेम मे विरह की दशा की आव-श्यकता पर बल दिया है। वियोग प्रेम की सिद्धावस्था है। वह चित्त की समाधि अवस्था है जहा तन्मयता, तद्रूपता और तल्लीनता का चरमोत्कर्ष दिखाई पडता है। सूरसागर मे कृष्ण के मथुरागमन के पश्चात विरह का ऐसा ही वर्णन है।

भ्रमरगीत मे गोपियो की विरह दशा के वणन मे भी प्रेमाभक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित है। वियोग मे कृष्ण का साक्षात रूप अनुपस्थित है, इसलिए वह प्रेमानुभूति का विषय नही है। वियोग मे प्रेम आत्मानुभूति का विषय बन गया है, प्रिय का अतीद्रिय स्वरूप अब आत्मानुभव से ही ग्राह्य है। प्रेम की परम विरहासक्ति की दशा तथा चेतना का शाश्वत आनदमय रूप वहा दिखाई पडता है, जहा कृष्ण के वियोग मे राधा ही हरि बन गई है। प्रेम मे तादात्म्य तथा

एकात्म्य की यह भावदशा ही मधुर भक्ति की परम उत्कर्षित अवस्था है। प्रिय और प्रिया का, भक्त और भगवान का, ज्ञाता और ज्ञेय का यह पूर्ण एकात्म्य ही प्रेम, भक्ति और ज्ञान की सिद्धावस्था है।

वल्लभ सम्प्रदाय और सूर का काव्य

दार्शनिक पृष्ठभूमि वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक मत को शुद्धाद्वैत, ब्रह्मवाद तथा अविकृत परिणामवाद कहा जाता है और उसके साधना पक्ष को पुष्टिमार्ग कहा जाता है। वल्लभाचार्य के अनुसार, ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दो रूप है और ब्रह्म के ये दोनो रूप वास्तविक हैं। ब्रह्म मे परस्पर विरोधी धर्मो की सत्ता है। लेकिन ब्रह्म के रूप मे यह विरोधधर्मिता आभासिक है, वास्तविक नहीं। वल्लभाचार्य ने शकराचार्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के व्यावहारिक और पारमार्थिक, सोपाधिनिरुपाधि या सगुणनिर्गुण भेद को अस्वीकार कर दिया। ब्रह्म सत् चित् और आनदस्वरूप है। वह सर्वकर्मा सर्वशक्तिमान है तथा कारणरूप मे वह सर्वकर्ता और सर्वभोक्ता है। ब्रह्म इस जगत का समवायी और निमित्त कारण है। यह सारी सृष्टि ब्रह्म की आत्मकृति है, यह सृष्टि ब्रह्म की लीला का विलास है, यह जगत ब्रह्म का अधिकृत परिणामरूप है और वास्तविक है। ससार जगत से भिन्न है। जगत ईश्वरकृत है और ससार माया की अविद्या शक्ति से ग्रस्त जीव का निर्माण है। इसलिए जगत वास्तविक और ससार अवास्तविक ह। जीव परमात्मा का अश है, अणु है। वल्लभाचार्य ने परब्रह्म को पुरुषोत्तम कहा है। वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत के सबध की व्याख्या उनके आविर्भाव-तिरोभाव सिद्धात मे हुई है। अक्षर ब्रह्म अपने सत्, चित् और आनद तीनो स्वरूपो का आविर्भाव-तिरोभाव करता है। इन तीनो स्वरूपो का प्रकाश तीन शक्तियो से होता है सत् का सधिनी शक्ति से, चित् का सवित् शक्ति से और आनद का ह्लादिनी शक्ति से। पुरुषोत्तम मे ये तीनो शक्तिया अनावृत्त रहती हैं, सत् चित् आनद तीनो स्वरूप प्रकाशित रहते है। जीव मे सत् और चित् का आविर्भाव होता है और आनद आवृत होता है। जड जगत् मे केवल सत् स्वरूप अनावृत होता है, अर्थात सधिनी शक्ति अनावृत होती है और शेष आवृत। इस सिद्धात के अनुसार माया ब्रह्म और जीव के बीच मे स्थित नही है और वह जगत का कारण नही है। ब्रह्म और जीवात्मा के बीच माया के सबध से रहित विशुद्ध अद्वैत सबध स्थापना के कारण वल्लभाचार्य का दार्शनिक मत शुद्धाद्वैत कहा जाता है। यह मायारहित स्वतत्र ब्रह्म ही इस जगत के कार्य तथा कारण के रूप मे सर्वत्र व्याप्त है, इसलिए जगत की सत्ता भी वास्तविक है। जगत मायाजन्य न होकर पुरुषोत्तम की आत्मकृति या आत्मसृष्टि है। वह किसी विकृति का परिणाम नही, बल्कि पुरुषोत्तम की लीला का परिणाम है। वल्लभ

मत को अविकृत परिणामवादी भी कहा जाता है।

वल्लभाचार्य का भक्तिमार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता है। वल्लभाचार्य के अनुसार जीव, देह और क्रियाभेद से तथा फल-परपरा से तीन प्रकार के मार्ग हैं पुष्टिमार्ग, प्रवाहमार्ग और मर्यादामार्ग। इसमे पुष्टिमार्ग ही भक्तिमार्ग है। मर्यादामार्ग वैदिक मार्ग है, जिसमे लोकमर्यादा की रक्षा ही प्रधान लक्ष्य है। मर्यादामार्ग का मूल मत्र है कर्मानुरूप फलम्। मर्यादामार्ग का अतिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है और यह फल शास्त्रविहित ज्ञान तथा कर्म के आचरण से प्राप्य है। ससार या लोक के प्रवाह मे पडकर लौकिक सुखभोग के हेतु प्रयत्न करना ही प्रवाहमार्ग है। यह ससार एक प्रवाह है, सतत परिवर्तनशील प्रवाह, और इस प्रवाह के अनुकूल स्वत प्रवाहित होकर सासारिक सुखभोग को ही जीवन का साध्य मानना प्रवाह मार्ग है। प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार इन तीन मार्गों के अनुरूप जीव भी तीन प्रकार के होते हैं (1) पुष्टिजीव, (2) मर्यादाजीव, (3) प्रवाही-जीव। पुष्टिजीव भगवत्कृपा का आकाक्षी होता है। मर्यादाजीव वेदमत, वैदिक आचरण, परपरा, आप्तवाक्य तथा आत्मविवेक के अनुसार अपने धार्मिक जीवन का सचालन करते है। प्रवाहीजीव जीवनधर्म या युगधर्म को ही प्रमाण मानकर उसके अनुकूल आचरण करते है। पुष्टिजीव और मर्यादाजीव को दैवीजीव तथा प्रवाहीजीव को आसुरीजीव भी कहा जाता है। वल्लभाचार्य के अनुसार आसुरी-जीव के दो भेद हैं दुर्ज्ञ और अज्ञ। अज्ञ आसुरी जीवो का उद्धार सभव है, लेकिन दुर्ज्ञ जीवो की अत प्रकृति आसुरी होती है, अत इनका सुधार एव उद्धार असभव है। वल्लभाचार्य ने जीव की एक अन्य कोटि को सबधिजीव कहा है जो दूसरी प्रकृति के जीवो के सपर्क से ही अपना स्वभाव बदलते रहते हैं।

डॉ० भडारकर ने लिखा है कि वल्लभाचार्य के मतानुसार[18] पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही परम ब्रह्म हैं। उनका शरीर सत् चित् आनदमय है। उनकी लीला शाश्वत है। वे अपने भक्तो के साथ वृदावन मे नित्य लीला करते है। कृष्ण परमानदस्वरूप है। वे अपने इच्छा से सत् स्वरूप को प्रधान कर देते है और अक्षर होकर कारणो के कारण और सृष्टि के कर्ता बनते है। अक्षर ब्रह्म के दो प्रकार है , एक तो वह जिसे भक्त पुरुषोत्तम धाम कहते हैं और दूसरा ज्ञानियो का सच्चिदानद, स्वय प्रकाश, अनादि, अनत, निर्गुण और निर्विशेष प्रतीत होने वाला रूप। ज्ञानियो को प्रतीयमान परमात्मा के इस रूप मे उनके दिव्य गुणो का अभाव नही होता है, बल्कि ये दिव्य गुण आवृत रहते हैं। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही सूर्य, चद्र, पृथ्वी के रूप मे स्थित होकर विश्व का नियमन और परिचालन करते हैं और उनका यह अतर्यामी रूप है। उनका अतर्यामी रूप ही अवतारो के रूप मे बहिर्यामी होता है। लोकरक्षक विष्णु, स्रष्टा ब्रह्मा और सहारक रुद्र के रूप मे पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के क्रमश सत्व, रज और तमो गुणो का ही रूपायन होता

है। ऐसे पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की कृपा से ही पुष्टिमार्गी भक्ति प्राप्त होती है।

वल्लभाचाय का भक्तिमाग पुष्टिमार्ग है। पुष्टि भगवत्कृपा है और यह भगवत्कृपा ही पुष्टिमार्गी भक्ति का आधार तत्त्व है। पुष्टि का अर्थ है भगवतानुग्रह, भगवान का अनुग्रह, भगवत्कृपा। श्रीमद्भागवत मे एक सूत्र हे 'पोषण तदनुग्रह।' यही पुष्टिमार्गी भक्ति का बीज मत्र है। मर्याद मार्ग मे ज्ञान और कर्म की अपेक्षा होती है, किंतु पुष्टिमार्ग इससे निरपेक्ष होता है। वास्तव मे परम चैतन्य तत्त्व की उपलब्धि केवल ज्ञान या कर्म से सभव नही है। कठोपनिषद का मत है

> नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
> न मेधया न बहुना श्रुतेन।
> यमेवैष वृणुते तेन लभ्य—
> स्तस्यैष आत्माविवृणुते तनू स्वाम्॥ 1। 2। 23॥

जब तक परमात्मा कृपापूर्वक अपने स्वरूप का बोध भक्त को नही कराता है तब तक उस परमात्मा का बोध और अनुभव सभव नही है। परमात्मा की प्राप्ति का यह प्रकार ही कृपामार्ग है, अनुग्रहमाग है या पुष्टिमार्ग है। महापुष्टि पुरुषोत्तम की परम कृपा है जो भक्त को सामारिक बाधा-बधनो से विमुक्त कर पुरुषोत्तम को मुलभ बनाती है। विशिष्ट पुष्टि भक्ति का कारण बनती है जिससे भगवत्-प्राप्ति होती है। इस विशिष्ट पुष्टि से उत्पन्न भक्ति ही पुष्टिभक्ति कही जाती है। वल्लभ मत मे जो पुष्टि है, वही प्रकारातर से शाक्तमत मे शक्तिपात् और ईसाई मत मे दिव्य कृपा अवतरण है।

पुष्टिभक्ति चार प्रकार की होती है (1) प्रवाह पुष्टिभक्ति, (2) मर्यादा पुष्टिभक्ति, (3) पुष्टि पुष्टिभक्ति, और (4) शुद्ध पुष्टिभक्ति। प्रवाह पुष्टिभक्ति मे जागतिक कार्य-व्यापारो मे लगा हुआ भक्त भगवत्प्राप्ति के लिए प्रभु की असबद्ध आराधना करता है। मर्यादा पुष्टिभक्ति मे भक्त लौकिक विषयो एव कर्मो से मन को हटाकर भगवान मे लगाता है और नाम स्मरण, श्रवण, कीर्तन, वदन आदि के माध्यम से अपने चित्त को भगवान मे अनुरक्त करता है। पुष्टि पुष्टिभक्ति मे भक्त को भगवान के प्रति व्यसन-सा हो जाता है। शुद्ध पुष्टिभक्ति प्रेमाभक्ति है। इसमे भक्त भगवत्कृपा का अनुभव करता हुआ परमानद को प्राप्त होता ह। वल्लभाचार्य के अनुसार प्रेमभक्ति की तीन अवस्थाए हैं (1) प्रेम, (2) आसक्ति और (3) व्यसन। आसक्तिया तीन प्रकार की होती है स्वरूपासक्ति, लीलासक्ति और भावासक्ति। प्रेमभक्ति मे लीन भक्त सालोक्य सामीप्य, सारुप्य, और सायुज्य मुक्तियो का त्याग कर देते है और भगवत्सेवा मे ही रत रहते ह। ऐसा भक्त भगवान के सर्वात्म्य रूप की अनुभूति करता है और उसका अतर तथा बाह्य जगत पुरुषोत्तममय हो जाता है।

प्रेम भक्ति का साध्य कृष्ण की नित्य लीला मे प्रवेश है। भक्त गोपी, गोप, पशु-पक्षी आदि के रूप मे लीला मे भाग लेते हैं और पुरुषोत्तम के साथ असीम आनद का अनुभव करते हैं। ये शाश्वत लीलाए कृष्ण की व्रज और वृदावन की प्रकट लीलाओ की भाति ही हैं। मर्यादा पुष्टिभक्ति-भाव के भक्त सायुज्य मुक्ति प्राप्त करते हैं और उनका हरि के साथ ऐक्य स्थापित हो जाता है।

वल्लभाचार्य के अनुसार भगवान के प्रति माहात्म्य ज्ञान रखते हुए जो सुदृढ और सबसे अधिक स्नेह हो, वही भक्ति है।[19] भक्ति के लिए अविद्या का नाश आवश्यक है और अविद्या का नाश दृढ विश्वासपूर्वक भगवत्गुण-श्रवण, कीर्तन आदि साधनो से सभव है। भगवान का भजन, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य भाव से होता है। उसके अतिरिक्त अन्य भावो से भी भगवद्भजन कल्याणकारी ही है। सर्वात्म भाव से कृष्ण का भजन करना चाहिए। भक्ति के साधन तत्त्वो के सबध मे वल्लभाचार्य ने विस्तार से विचार किया है। विषयासक्ति का त्याग भक्त के लिए आवश्यक है। साधनभक्ति के अतर्गत ही नवधा भक्ति है तथा दसवी भक्ति प्रेमरूपा है।[20] प्रेम-भक्तिरस का आस्वादन दो प्रकार का है एक स्वरूपानद, दूसरा नामलीला का आनद। साधनभक्ति के रूप मे नवधा भक्ति को स्वीकार करते हुए वल्लभाचार्य ने आत्मनिवेदन या आत्मसमपण को महत्त्वपूर्ण माना है। इस प्रकार वल्लभाचार्य के मतानुसार भक्ति के दो रूप है (1) साधन-भक्ति, (2) साध्यभक्ति। साधन भक्ति ही मर्यादामार्ग है, नवधाभक्ति है और साध्यभक्ति प्रेमाभक्ति या पराभक्ति है। वल्लभाचार्य के सप्रदाय की मधुरा-भक्ति पर चैतन्य महाप्रभु का प्रभाव ज्ञात होता है। राधा की उपासना या युगल रूप की उपासना का समावेश वल्लभ सप्रदाय मे विट्ठलनाथ जी के समय मे हुआ, जिस पर मध्व सप्रदाय, चैतन्य मत, हरिवशी सप्रदाय आदि का प्रभाव परिलक्षित होता है।

पुष्टिमार्गी भक्ति के सिद्धातपक्ष के विवेचन के पश्चात उसके आचरणपक्ष, व्यवहारपक्ष या सेवापक्ष का विवेचन आवश्यक है। वल्लभ सप्रदाय मे सेवा का विशेष महत्त्व है। पुष्टिमार्गी भक्ति मे सेवा सिद्धात का विनियोगपक्ष है, इसलिए वह महत्त्वपूर्ण है। पुष्टिमार्ग मे सेवा का सैद्धातिक रूप है और व्यावहारिक रूप भी। इस सप्रदाय मे सेवापक्ष का विशेष विस्तार विट्ठलनाथ जी ने किया। सक्षेप मे सेवा दो प्रकार की होती है—नामसेवा और स्वरूपसवा। स्वरूपसेवा तीन प्रकार की है तनुजा, वितजा और मानसी। मानसी सेवा भी दो प्रकार की हैं मर्यादामार्गी और पुष्टिमार्गी।[21] मानसी सेवा श्रेष्ठ सेवा है। मानसी सेवा फलस्वरूपा है। सेवा का तात्पर्य है कृष्ण मे चित्त की प्रवणता या लीनता। सेवा-मार्ग मे गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योकि वही भक्त के सेवा-मार्ग का पथ-प्रदर्शन करता है। पुष्टिमार्ग मे सेवाविधि के दो रूप हैं—

नित्य सेवाविधि और वर्षोत्सव सेवाविधि। नित्य सवाविधि मे प्रात काल से शयन-पर्यंत की नित्य सेवाविधि है और विशेष अवसरो की वर्षोत्सव सेवाविधि है। इस नित्य तथा वर्षोत्सव सेवाविधि के तीन अग है—शृगार, भोग और राग। पुष्टिमार्ग मे यमुना जी का विशेष महत्त्व है।[22]

वल्लभाचार्य के सेवापक्ष की अनेक आलोचको ने तीव्र आलोचना की है। श्री भडारकर के अनुसार इस सप्रदाय की मनोवृत्ति या अतरात्मा मनोविनोदात्मक आनदवादी ज्ञात होती है और निश्चय ही इसका प्रभाव इसके अनुयायियो के सामान्य जीवन पर पडेगा। नैतिक प्रतिबधो से उन्मुक्त सासारिक सुखो के प्रति उदासीनता और आत्मस्वीकृति इस सप्रदाय की विशेषता नही ज्ञात होती है।[23] आचार्य रामचद्र शुक्ल के अनुसार, 'इस सप्रदाय की सेवा, पूजा, आचार-व्यवहार, बातचीत सबमे भोगवासना का आभास रहता है।'[24]

वल्लभ सप्रदाय की पुष्टिमार्गी भक्ति और उसका सेवापक्ष प्रवृत्तिमूलक है और वह मनुष्य की भावनाओ पर आधारित है। प्रेम इस भक्ति का आधार है, इसलिए इसे प्रेमाभक्ति भी कहा जाता है। इस सप्रदाय का लक्ष्य है सपूर्ण सासारिक भावो, कर्मों, कामनाओ और साधनो का एकातभाव से कृष्णार्पण और इस सपूर्ण मानवीय सारसत्ता के पूर्ण कृष्णार्पण मे भोगवासना की खोज उचित नही है। निर्गुण भक्तो की निवृत्तिमूलक तथा जीवन को अस्वीकार करने वाली भक्ति से भिन्न यह लौकिक और आध्यात्मिक जीवन के सम वय तथा शरीर, मन और मस्तिष्क के सम्यक सतुलन पर आधारित भक्ति है, जिसमे जीवन और आध्यात्मिक साधना को रसमय बनाकर उसे स्पृहणीय बना दिया जाता है। इसमे न तो कठोर कमवाद की जडता है और न थोथे ज्ञानवाद की उलझी हुई पहेलिया। इसम नीरस भक्तिवाद का आडबर भी नही है। वल्लभाचार्य जी की भक्तिपद्धति साधना पद्धति है जिसमे रसरूप पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से सबद्ध दास्य, वात्सल्य, रसवादी सख्य और गोपियो के सयोग-वियोग के मधुर रस का पूर्ण सामजस्य है। वल्लभाचार्य की भक्ति का सबसे बडा महत्त्व जीवन को रसमय और धममय बनाने मे है। यह ठीक है कि बाद मे सप्रदायवाद और मठवाद के विस्तार से वल्लभ सप्रदाय मे अनेक विकृतिया आ गईं, लेकिन इसमे सिद्धात का उतना दोष नही हे जितना उसे व्यावहारिक रूप देने वालो का।

दर्शन की काव्यात्मक निष्पत्ति काव्य और दर्शन व्यक्ति की अनुभूति और चिंतन के अभिव्यक्त रूप हैं। सत्य काव्य और दर्शन दोनो का साध्य है, लेकिन काव्य मे सत्य रमणीय और प्रिय रूप मे व्यक्त होता है और दर्शन मे बुद्धि अनुशासित चिंतन-मनन का आधार ग्रहण करता है। दर्शन मे व्यक्ति-मानस की बोधवृत्ति प्रधान होती है और काव्य मे उसकी रागवृत्ति। काव्य सत्य के मूर्त रूप का उपासक है और दर्शन अमूर्त रूप का व्याख्याता। काव्य मे विचार अनु-

भूति के अग बनकर या अनुभूत विचार होकर ही काव्यात्मक हो पाते हैं। काव्यात्मक तर्कसगति तार्किक काव्य या दार्शनिक तर्क-पद्धति से भिन्न स्वभाव की होती है। दर्शन वस्तु को तत्त्व प्रतीक के रूप मे ग्रहण करता है जबकि काव्य उसे सवेदना के उपादान के रूप मे ग्रहण करता है। काव्य मे भावात्मक और ज्ञानात्मक दोनो प्रकार के प्रतीक प्रयुक्त होते हैं, किंतु काव्य के ज्ञानात्मक प्रतीक भी अनुभूतियुक्त होते हैं। दर्शन मे केवल ज्ञानात्मक प्रतीक ही प्रयुक्त होते है। काव्य का लक्ष्य रसानुभूति कराना है, जबकि दर्शन का लक्ष्य है तत्त्व चिंता के द्वारा बोधवृत्ति को जाग्रत करना। मध्यकाल के भक्त कवियो की कविता की पृष्ठभूमि मे एक सुचिंतित एव सुनिश्चित विचार-परपरा और दार्शनिक पद्धति थी, इसलिए उसका उन पर प्रभाव पडना स्वाभाविक था। भगवत्स्वरूप के बोध मे ज्ञान सहायक है और उस स्वरूपबोध के अनतर एकाग्र चित्त और अनन्य भाव से भगवत्स्वरूप मे लीनता भक्ति का लक्षण है।

ऐसा कहा जाता है कि सूरदास वल्लभ सप्रदाय मे दीक्षित थे और वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद या अविकृत परिणामवाद तथा पुष्टिमार्गी भक्ति के सिद्धातपक्ष से उनका प्रत्यक्ष सपर्क था। सूरदास को ब्रज मे प्रचलित समसामयिक मतवादो (निंबार्क, मध्व तथा चैतन्य) का ज्ञान था और राधावल्लभ एव हरिदासी सप्रदायो से भी उनका निकट का परिचय था, यह उनके साहित्य से प्रकट होता है। सूरदास की विशेष आस्था वल्लभ मत मे थी, लेकिन भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति से सबधित अन्य मतो एव सप्रदायो मे उनकी अनास्था का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नही मिलता है। सूरदास मे वल्लभाचार्य के दार्शनिक मतवाद का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है, किंतु उनके साहित्य मे सप्रदायवाद का आग्रह या दूसरे मतवादो के खडन का विशेष प्रयत्न नही है। सूर की रुचि दार्शनिक सिद्धात के प्रतिपादन मे उतनी नही है, जितनी लीलागान मे।

सूरदास ने ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनो रूपो को वास्तविक माना है (पद स 4)। निर्गुण की सगुण रूप मे अभिव्यक्ति श्रीकृष्ण के रूप मे ब्रज मे हुई है। सूरदास ने अनेक पदो मे कृष्ण के पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम परमानदमय रूप की वदना की है। पुरुषोत्तम कृष्ण, विष्णु, ब्रह्मा और शिव से श्रेष्ठ है, उनका गोलोक सर्वोपरि है, यह सूर का मत है जो वल्लभाचार्य के मत के अनुकूल है। भगवान भक्तवत्सल हैं, कृपानिधान है, दीनदयालु एव करुणामय हैं और बिना उनकी कृपा के भक्ति सभव नही है (पद स 35)। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की लीला नित्य है, राधा कृष्ण की आदि प्रकृति हैं और उनमे वास्तविक अभेद है, वे लीलार्थ दो हैं अन्यथा सदा एक ही हैं। सूरदास ने राधा-कृष्ण की गुप्तलीला और प्रकटलीला को सदा एक दूसरे से विलग रखा है। गोपिया भी राधा से तत्त्वत अभिन्न हैं, राधा सभी गोपियो की चेतना हैं—'सोलह सहस्र पीर तनु एकै, राधाजीव सब

देह ।' सूरदास ने सपूर्ण ब्रजलीला मे अनेक बार कृष्ण के पुरुषोत्तम, एकरस, परमब्रह्म, परमानद रसरूप की ओर सकेत किया है। सूरदास ने जीव को सच्चिदानद का अश माना है जिसे अविद्या माया से ग्रस्त होने के कारण अपना वास्तविक रूप विस्मृत हो गया है (पद स 369)। सूरदास ने अविद्या माया से ग्रस्त जीवकृत ससार की असारता को स्वीकार किया है (पद स 335)। जगत ईश्वर की इच्छा का परिणाम है, लीला का विस्तार है, यह मानकर सूर ने एक पद मे सृष्टिक्रम के वर्णन मे साख्य के पुरुष, प्रकृति, महत्, अहकार, पच तनमात्रा, पचमहाभूत, पाच कर्मेंद्रिया, पाच ज्ञानेद्रिया और मन आदि छब्बीस तत्त्वो को स्वीकार किया है और सृष्टि को ईश्वर के स्वरूप का विस्तार माना है -

जो हरि करै सो होइ, करता राम हरी ।
ज्यो दरपन-प्रतिबिब, त्यो सम सृष्टि करी ।।
आदि निरजन, निराकार, कोउ हुतौ न दूसर ।
रचौ सृष्टि विस्तार, भई इच्छा इक औसर ।।
त्रिगुन प्रकृति तै महततत्त्व, महततत्त्व तै अहकार ।
मन इद्री शब्दादि पच तातै कियो विस्तार ।
सब्दादिक ते पचभूत सुन्दर प्रगटाए ।
पुनि सबको रचि अड, आप मैं आपु समाए ।
तीनि लोक निज देह मैं, राखै करि विस्तार ।
आदि पुरुष सोई भयौ, जो प्रभु अगम अपार ।। (379)

वल्लभाचार्य ने अक्षर ब्रह्म के सत् और चित् से पुरुष-प्रकृति का आविर्भाव माना है। वल्लभाचार्य के अनुसार माया के दो रूप है (1)विद्यामाया, जो ब्रह्म शक्तिस्वरूपा है तथा वह सृष्टि का प्रसार करती है, और (2) अविद्या माया जो ससार का निर्माण करने वाली है तथा जिससे ग्रस्त होकर जीव अपने वास्तविक रूप को भूल जाता है। भक्ति के लिए अविद्या माया का नाश आवश्यक है। सूरदास ने अविद्या माया का विशद वर्णन किया है। सूर के अनुसार अविद्या माया व्यक्ति को ससार मे बाधती हैं, विषयासक्ति मे प्रवृत्त कराती हैं(पद स 42)। माया का प्रभाव व्यापक है। अविद्या माया का गाय (पद स 51), कुलटा स्त्री (पद स 42), नटी, भुजगिनी आदि के रूपको के सहारे वर्णन किया गया है।

सूरदास की वल्लभ मत मे आस्था व्यक्त है किंतु उन्होने अन्य किसी दार्शनिक मतवाद का खडन नही किया है। दीनदयाल गुप्त का यह मत उचित नही प्रतीत होता है कि शकर के जगन्मिथ्यावाद के प्रति उदासीनता प्रकट की है। दीनदयाल गुप्त ने सूरदास का एक पद उद्धृत किया है

मन बच क्रम मन गोविद सुधि करि।
शुचि रुचि सहज समाधि साजि शठ दीनवन्तु करुणामय उरधरि।
'मिथ्यावाद' विवाद छाडि दै, कामक्रोध मद लोभै परिहरि।[25]

सूरसागर के सभा-सस्करण मे यह पद इस प्रकार है

मन बच क्रम मन, गोविद सुधि करि।
सुचि रुचि सहज समाधि साध सठ, दीन बघु करुनामय उर धरि।
मिथ्या वाद विवाद छाडि दै काम-क्रोध-मद-लोभहि परिहरि। (312)

डॉ० गुप्त ने मिथ्या विवाद को मिथ्यावाद विवाद कर दिया है और उसमे जगन्मिथ्यावाद के प्रति सूर की उदासीनता देखी है। वास्तव मे सूरदास ने शकराचार्य के जगन्मिथ्यावाद या मायावाद का खडन न करके उपर्युक्त पद मे नारदभक्तिसूत्र के 'वादो नाअवलम्ब्य' अर्थात वाद-विवाद नही करना चाहिए, का समर्थन किया है। नारदभक्ति-सूत्र के ही अनुसार वाद-विवाद में बाहुल्य का अवकाश है और वह अनियत है वाहुल्यावकाशादनियतत्वाच्च। इसलिए भक्त को वाद-विव द मे नही पडना चाहिए। सूरदास ने इस पद मे भगवान की भक्ति मे लीन भक्त को वाद-विवाद के जजाल मे न पडने का ही आग्रह किया है, उसमे शकर के मायावाद के प्रति सूर की उदासीनता प्रकट नही है।

वल्लभाचार्य की पुष्टिमार्गी भक्ति के सिद्धात की झलक सूरसागर मे दिखाई पडती है। सूरदास ने विनय के पदो मे भगवान के महिमामय स्वरूप का वर्णन किया है। भगवान के ऐश्वर्यमय तथा विभूतिमय स्वरूप का अनेकश वर्णन सूर-सागर मे है (पद स 370-71)।

पुष्टिमार्गी भक्ति मे तीन प्रकार की आसक्तिया है नामरूपासक्ति, लीला-सक्ति और भावासक्ति।[26] नाम और रूप ईश्वर की दो उपाधिया हैं, जिनके सहारे ईश्वरतत्त्व का बोध सभव है। ईश्वर नामरूपात्मक है और उसका यह जगत भी नामरूपात्मक ही है। नददास के अनुसार उपासना के दो मार्ग हैं नाद मार्ग और रूप मार्ग। नाम नाद का प्रतीक है, नाद ही नाम है। ईश्वर और उसके आत्मरूप इस जगत का बोध नाम और रूप के सहारे ही सभव है। इस-लिए भक्ति मे नाम महिमा और स्वरूपबोध की विशेष महत्ता है। वल्लभ मत मे नाम या नाद के साधन के रूप मे मुरली है और कृष्ण की मुरली का पुष्टिमार्गी भक्ति मे विशेष महत्त्व है। सूरदास ने नाम की उपासना के साधन के रूप मे मुरली और रूप की साधना के साधन मे नयनो के महत्त्व का अपने काव्य मे विशद वर्णन किया है। सूरदास ने नाममहिमा का सैद्धातिक स्वरूप भी व्यक्त किया है (पद स 8992)। नाम की साधिका मुरली को सजीव व्यक्तित्व प्रदान किया है। ब्रज की सपूर्ण लीला रूप और मुरली के कारण ही हुई है। ब्रज की लीला नामरूपा-त्मक ब्रह्म की लीला है। यही कारण है कि सूरदास ने वेणु गीत तथा रूप के वाहक

नेत्रविषयक बहुसख्यक पदो की रचना की है । कृष्ण की मुरली के स्वर-सचार का चराचर पर व्यापक प्रवाह दिखाई पडता है, उससे स्थिर गतिमान और गतिमान स्थिर हो जाते हैं (पद स० 1238) । यो तो सगीत का सर्वभूतव्यापी प्रभाव प्रसिद्ध है, किंतु कृष्ण की मुरली का प्रभाव आध्यात्मिक है । उस मुरली के स्वर से शिव की समाधि टल जाती है, देव और देविया विमोहित होती हैं, सपूर्ण सृष्टि अनुरागमय हो जाती है (पद स० 1241) । गोपिया इस वेणु कल्पित गीति की ध्वनि के श्रवण से ही प्रेममय हो गई और लौकिक जीवन को भूल गई (पद स० 1265) । रासलीला का रस भी मुरली की ध्वनि से ही प्रकट हुआ है । रास-लीला की मुरली की ध्वनि से बैकुठवासी नारायण और कमला का मन भी अनुरागस्निग्ध हो जाता है । 'नैन समय के पद' और आख समय के पदो के माध्यम से सूर की रूप की साधना प्रकट हुई है । इन आखो ने ही कृष्ण के असीम सौदर्य को मन तक पहुचाया है, जिससे मन कृष्ण मे आसक्त है । सूर ने आखो का विशद वर्णन किया है । कृष्ण के रूप की ओर नेत्र आकर्षित है, नेत्रो की गति का सचा-लन मन करता है और नैनो के माध्यम से यह रूप गोपियो के मन तक पहुचता है । सूरदास की चित्तवृत्ति स्वय राधा के नेत्रो मे बसे कृष्ण के रूप की साधना मे लीन है ।

सूरदास ने मुरली और नयनो के माध्यम से नाम और रूप की साधना की है । लीला मे सूर की असीम आसक्ति है । बाललीला और भावतीलीला का जितना विस्तार सूरसागर मे है, वैसा अन्यत्र नही । इस लीला-रस के अनुभव और अभिव्यक्ति के माध्यम से ही सूर की प्रेमभक्ति प्रकट हुई है ।

सूरसागर भक्तिसागर है जिसमे भक्ति के बोधात्मक, क्रियात्मक और भावात्मक सभी पक्षो का सम्यक उत्कर्ष दिखाई पडता है। उसमे भक्ति के सभी रूपो, भावो और साधनाओ की अभिव्यक्ति है । उसमे सप्रदायवाद का आग्रह नही है । सूरसागर की भक्तिभावना उदार है, जिसमे रामचरित भी है और शिव-स्तुति भी । सूरदास की भक्तिभावना मे साप्रदायिक सकीर्णता का अभाव है । सूरदास को वार्ता-साहित्य मे 'पुष्टिमार्ग का जहाज' कहा गया है, लेकिन उनका काव्य पुष्टमार्ग के सिद्धातो का अनुगामी नही है । सूर ने साप्रदायिक सिद्धातो का पद्यानुवाद नही किया है । अनेक सत्सगी आलोचको ने सूरदास को 'पुष्टिमार्ग का जहाज' और उनके काव्य को 'पुष्टिमार्ग का आख्यान' सिद्ध करने का प्रयास किया है । कुछ लोगो ने सूर के विनय के पदो मे वल्लभ सप्रदाय के सिद्धातो का प्रभाव खोजा है, लेकिन विनय के पद तो वल्लभाचार्य से सूरदास की भेंट से पहले के हैं । सूर के पदो का भागवत के अनुसार सग्रह और सपादन भी सूरदास को पुष्टिमार्गी सिद्ध करने के लिए ही हुआ है । इन सब प्रयत्नो के बावजूद सूर का काव्य साप्रदायिक घेरे मे सीमित नही हो पाया है । सूरदास ने अपने काव्य मे जीवन

के धर्म और धार्मिक जीवन का सुदर सामजस्य उपस्थित किया है जिसमे जीवन का रस है और भक्ति का रस भी।

सूरदास के साहित्य मे उपदेश की प्रवृत्ति कम है। काव्य के सौंदर्यपरक मूल्यो से ही नैतिक मूल्य पनपते हैं। काव्य मे अभिव्यक्त भाव, विचार और निर्मित व्यक्तित्व के सपर्क से ही सहृदय का चित उदार होता है, उसके भावो, विचारो और व्यक्तित्व का परिष्कार होता है। कवि का लक्ष्य सौदर्य की प्रतीति एव सृष्टि है। नैतिक दृष्टि से जिस प्रकार असत्य से सत्य श्रेष्ठ है, उसी प्रकार कुरूपता से सौंदर्य श्रेयस्कर है सूरदास ने अपने काव्य मे सौंदर्यबोध के माध्यम से नैतिक मूल्यो के विकास का प्रयास किया है। सूरदास की सौंदर्य चेतना और नैतिक चेतना मे कोई अतराल नही है। उनका काव्य नैतिकता के उपदेश का काव्य नही है। एक आलोचक ने ठीक ही लिखा है कि उपदेशपरक काव्य, वास्तव मे, न तो काव्य है और न उपदेश, क्योकि उपदेशपरक काव्य हमे उत्तेजित या शात नही कर पाता है और उससे काव्य से अपेक्षित शिक्षण भी पाठक को उपलब्ध नही होता।[27] सूर की कविता जीवन के सौंदर्यपरक अभिज्ञान के माध्यम से जीवन की नई सार्थकता का बोध जगाती है।

सदर्भ

1 रोम्या रोला, 'दि लाइफ आफ विवेकानद ऐंड दि यूनिवर्सल गास्पेल', (कलकत्ता, 1960), पृ० 123

2 रामचद्र शुक्ल, 'सूरदास', पृ० 9

3 नददुलारे वाजपेयी, 'महाकवि सूरदास', (दिल्ली, 1958), पृ० 1

4 मुशीराम शर्मा, 'भक्ति का विकास', (वाराणसी, 1958), पृ० 111

5 रामचद्र शुक्ल, पूर्वोद्धृत, पृ० 12

6 विनोबा भावे, 'टाक्स ऑन दि गीता' (काशी, 1958), पृ० 93

7 विनोबा भावे, 'राम नाम एक चितन', पृ० 30

8 'शाडिल्य भक्तिसूत्र' (गीता प्रेस, गोरखपुर), पृ० 2

9 'नारद भक्तिसूत्र' (गीता प्रेस, गोरखपुर), पृ० 20

10 वही, पृ० 184

11 हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिंदी साहित्य की भूमिका' पृ० 71-77

12 के० एम० मुशी (स०), 'इडियन इनहेरिटेंस', भाग एक, (बबई 1965), पृ० 91

13 हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'मध्यकालीन धर्मसाधना', पृ० 60
14 के० एम० मुशी (स०), पूर्वोद्धृत, पृ० 93
15 हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिंदी साहित्य की भूमिका', पृ० 66
16 दीनदयाल गुप्त, 'अष्टछाप और वल्लभ सप्रदाय', भाग दो, (प्रयाग सवत् 2004), पृ० 797
17 रामचद्र शुक्ल, पूर्वोद्धृत, पृ० 226
18 आर० जी० भडारकर, 'कलेक्टेड वर्क्स', भाग चार, पृ० 111-12
19 दीनदयाल गुप्त, पूर्वोद्धृत, पृ० 518
20 वही, पृ० 522
21 हरवशलाल शर्मा, 'सूर और उनका साहित्य', पृ० 266
22 वही, पृ० 266-67
23 आर० जी० भडारकर, पूर्वोद्धृत, पृ० 116-17
24 रामचद्र शुक्ल, पूर्वोद्धृत, पृ० 97
25 दीनदयाल गुप्त, पूर्वोद्धृत, पृ० 330
26 हरवशलाल शर्मा, पूर्वोद्धृत, पृ० 275
27 ओ० डी० सेलिंग कोर्ट, 'आर्ट ऍड मोरैलिटी' (लदन, 1935), पृ० 86

अभिव्यक्ति का स्वरूप

काव्य मे कवि अनुभूति और विचार के विभिन्न तत्वो मे अतर्सामजस्य स्थापित कर उसे अभिव्यक्त करता है। सवेदना और अनुभूतियो का मूल रूप अमूर्त होता है और उस अरूप सवेदना तथा अनुभूति के रूपात्मक बोध से ही कला का प्रादुर्भाव होता है। कला की रचनाप्रक्रिया की दो अवस्थाए होती हैं। एक तो अरूप भावनाओ की रूपात्मक अनुभूति, जो पूर्णत मानसिक प्रक्रिया है। दूसरी, बिंबात्मक मानसिक अभिव्यक्ति की ध्वनि, रग, रेखाओ, शब्दो आदि के माध्यम से बाह्यभिव्यक्ति, जिससे कलाकृति का निर्माण होता है। कला रूप (काव्य, सगीत, चित्र, मूर्ति आदि) के सहारे अरूप (भाव, अनुभूति, विचार) की साधना है। मानव मे अपनी अनुभूतियो को रूप प्रदान करने की सहज प्रवृत्ति होती है और आत्मानुभूति के रूपायन की यह सहज प्रवृत्ति कवि के सयत एव तत्पर मानस के सहारे कलाकृति की रचनाप्रक्रिया बन जाती है। काव्य मे अभिव्यक्ति का अर्थ केवल बाह्याभिव्यक्ति नही है, अनुभूतिमय अभिव्यक्ति है। कथात्मक काव्यो मे अनुभूति और विचार के अतिरिक्त घटना-क्रिया के बीच से विकसित मानव-चरित्रो का भी निर्माण होता है। कथात्मक काव्य मे एक विशिष्ट सरचना के भीतर ही मानव-चरित्रो के क्रिया-व्यापार के माध्यम से अनुभूति और विचारो की अभिव्यक्ति होती है। काव्य की रचना मे कवि के व्यापक जीवन-अनुभव, युग-जीवन के बोध, युग की सास्कृतिक चेतना की पहचान, परपरा के बोध, और उसकी सृजनशीलता का योग होता है। रचनाकार की मौलिकता उसकी सवेदनशीलता मे ही नही होती, अभिव्यक्ति-प्रणाली के नए विकास मे भी होती है।

व्यक्ति की सवेदनशीलता उसके मानसिक स्वरूप, शक्ति, सस्कार, आग्रह और बाह्य परिवेश के अनुरूप निर्मित होती है और सवेदनशीलता के अनुसार ही उसकी भावना और बोधशक्ति का विकास होता है। सवेदनशीलता युगसापेक्ष होती है। एक युग, साहित्यिक आदोलन और एक रचना-प्रवृत्ति के रचनाकारो मे सवेदनशीलता के स्तर पर समानताए होती हैं। सवेदनशीलता की सामान्यता को विशिष्ट अनुभूति और निजी अभिव्यक्ति बनाने मे ही रचनाकार की मौलि-

कता प्रकट होती है। टी० एस० इलियट ने लिखा है कि सवेदनशीलता पीढी दर पीढी बदलती रहती है लेकिन अभिव्यक्ति मे परिवर्तन एक प्रतिभाशाली कवि ही कर सकता है।[1] अभिव्यक्ति मे परिवर्तन का अर्थ है पूरी रचना-प्रणाली मे परिवर्तन। अभिव्यक्ति-पद्धति मे परिवर्तन नई अतर्वस्तु के विकास और उसकी अभिव्यक्ति की आकाक्षा के कारण होता है।

अभिव्यक्ति के स्तर पर एक कवि से दूसरे कवि का पार्थक्य स्पष्टत परिलक्षित हो जाता है। अभिव्यक्ति के स्वरूप के अनुरूप टी० एस० इलियट के अनुसार तीन प्रकार के कवि होते हैं[2] (1) जो तकनीक (शिल्पविधि) का विकास करते हैं, (2)जो तकनीक का अनुकरण करते हैं, और (3) जो तकनीक का आविष्कार करते है। काव्य मे तकनीक का विकास ही आदर्श है क्योकि अत्यत नवीन शिल्पविधि का आविष्कार असभव ही है। अभिव्यक्ति मे शिल्पविधि के आदर्श की व्याख्या करते हुए एजरा पाउड ने लिखा है कि उत्कृष्ट कवि (मास्टर्स) तकनीक के आत्मनिर्मित स्वरूप के अतिरिक्त अपनी काव्य-परपरा मे स्थित अनेक पूर्ववर्ती शिल्पविधियो को आत्मसात एव समन्वित करते हैं। अपनी काव्य-परपरा मे स्थित सपूर्ण शिल्पविधियो को समन्वित, आत्मसात और निजी विशिष्टता से परिपुष्ट करके उसे नए रूप मे प्रस्तुत करने मे ही कवि की सफलता है।[3] अकुशल कवियो के हाथ मे पडकर उत्कृष्ट शिल्पविधि भी बिखर जाती है और उत्कृष्ट कवियो के हाथ मे पडने पर निम्न कोटि की शिल्पविधि भी निखर उठती है। अभिव्यक्ति मे शिल्पविधि के आविष्कार, अनुकरण एव विकास की विभिन्न स्थितिया होती हैं, परतु आदर्श स्थिति विकास की है। इसमे परपरा विकसित होती है और कवि की मौलिक रचनात्मक प्रतिभा भी व्यक्त होती है। अभिव्यक्ति की यह आदर्श स्थिति अपने उत्कृष्ट रूप मे सूरसागर मे उपलब्ध है। सूरसागर मे अभिव्यक्ति के स्तर पर सूर की सृजनशीलता परपरा के विकास मे है, किसी नितात नई शिल्पविधि के आविष्कार मे नही। कृष्णकथा की परपरा सूर से पुरानी है, शृगार और भक्ति के समन्वय की परपरा भी पुरानी है, गीत-काव्य की लिखित और मौखिक परपरा भी नई नही है। सूर ने इन सभी परपराओ को विकसित किया है।

उत्कृष्ट काव्य मे अनुभूति और अभिव्यक्ति, अतर्वस्तु और रूप का पूर्ण सामजस्य आवश्यक होता है। काव्य मे अनुभूति के अग हैं—विषयवस्तु, चरित्र, भावना, विचार, अभिप्राय, उद्देश्य या सदेश। अभिव्यक्ति के अग हैं सरचना, रूप, शैली, शिल्पविधि, छद और लय आदि। अनुभूति के विभिन्न उपादानो मे आतरिक सुसगति तथा अभिव्यक्ति के बाह्याभ्यतरिक तत्त्वो की पारस्परिक अतर्योजना के पूर्ण सामजस्य से ही श्रेष्ठ काव्यकृति निर्मित होती है। सूरदास के काव्य मे अनुभूति एव अभिव्यक्ति के चार मुख्य पक्ष है (1) काव्यवस्तु का

सकल्पात्मक बोध, (2) रूप, लीला, और भावो की सकल्पात्मक अनुभूति, (3) सगीत सवेदना, और (4) सामजस्य ज्ञान। इसमे सगीत सवेदना और सामजस्य ज्ञान अभिव्यक्ति के तत्त्व हैं। सूर की सगीत सवेदना के कारण ही अभिव्यक्ति के आभ्यतरिक तत्त्व एकान्वित हैं और सामजस्य ज्ञान के कारण अनुभूति तथा अभिव्यक्ति का पूर्ण सामजस्य सिद्ध हो पाया है। इस सामजस्य ज्ञान के कारण ही सूरदास के काव्य मे सगीत, चित्र, नृत्य आदि कलाओ का भी समन्वित रूप अभिव्यजित है। इससे सूर के काव्य मे अभिव्यक्ति के सौदर्य और शक्ति का विकास हुआ है।

उत्तर भारत मे पद्रहवी शताब्दी से अठारहवी शताब्दी तक कला के तीन रूपो—काव्य, सगीत और चित्रकला—का साथ-साथ विकास हुआ। उनमे विभिन्न शैलियो के द्वारा एक तरह के भाव और विचार व्यक्त हुए। कृष्ण का बहुमुखी एव समृद्ध व्यक्तित्व, उनका चितनमय, रागमय, एव कर्मनिष्ठ जीवन कला का शाश्वत प्रेरणास्रोत बन गया। काव्य, सगीत, चित्रकला और नृत्यकला ने भारतीय जनमानस मे राधा-कृष्ण की भाव-प्रतिमा को प्रतिष्ठित करने का कार्य किया। राधा-कृष्ण की मधुर रससिक्त लीलाओ ने भावुक भक्त कवियो को आकृष्ट किया और उनमे भक्तो की तन्मयता के लिए पर्याप्त अवसर मिला। राधा-कृष्ण का लीलात्मक रूप और उससे प्रेरित कलाए लोकमानस की देन है और लोकमानस की निधि हैं। काव्य, सगीत और चित्रकला मे भागवत तथा अन्य पुराणो की कथाओ के धार्मिक अभिप्राय परिव्याप्त हैं, क्षेत्रीय भाषाओ के विभिन्न काव्यो एव गीतो मे इनकी पुनर्रचना हुई है। कवियो, सगीतज्ञो और चित्रकारो द्वारा जनसामान्य तक इनका प्रसार हुआ। डॉ राधाकमल मुखर्जी ने ठीक ही लिखा है कि 'किसी युग विशेष तथा देशवासियो के सामूहिक जीवनदर्शन की अभिव्यक्ति के लिए कलाओ का जैसा सहयोग तत्कालीन उत्तर भारत मे हुआ वैसा सहयोग विश्व की सस्कृति के इतिहास मे बहुत कम हुआ है।'

पद्रहवी शताब्दी मे विल्वमगल की 'बाल गोपाल स्तुति' का चित्राकन हुआ और जयदेव के गीतगोविंद का चित्राकन तो पद्रहवी शताब्दी से अब तक विभिन्न शैलियो मे निरतर हो रहा है। मध्यकाल मे राधा-कृष्ण विषयक चित्रो के आधार पर पद और दोहो की रचना हुई तथा पदो और दोहो के अनुरूप चित्र बने है। भारतवर्ष मे विभिन्न ऋतुओ के अनुकूल राग-रागिनिया हैं, रागमालाए है और सगीत के रागो के चित्र है। सगीत की चित्रकला मे अभिव्यक्ति भारतीय कला परपरा की एक विशेषता है। सगीत एक अमूर्त कला है और उसके सपर्क मे आने पर चित्रकला भी उस अमूर्तता की ओर उन्मुख हुई है। गीतात्मक काव्यो का बिब-विधान, रागो अथवा रागिनियो की मधुरता तथा चित्रो मे प्राकृतिक दृश्यो का अकन समान रूप से मानवीय मनोभावो की अभिव्यक्ति मे सहायक हुए हैं।

काव्य भावो का शब्दचित्र है और चित्र रगरेखाओ मे व्यक्त भाव काव्य। अरूप अनुभूतियो या विचारो को रूपायित करने की प्रवृत्ति दोनो मे है। सगीत ध्वनि का काव्य है और नृत्य गति का काव्य, काव्य मे ध्वनि और गति दोनो का सयोग है। आतरिक लय सगति काव्य, सगीत और नृत्य तीनो का प्राण है। इस प्रकार ये सभी कलाए परस्पर पूरक हैं। भारतीय कलाओ के समन्वित विकास की इस अवस्था मे ही सूरदास का आविर्भाव हुआ था। भक्त कवि ने अपने सामजस्य ज्ञान के सहारे काव्य मे सगीत, चित्र और नृत्य आदि सभी कलाओ का समन्वित स्वरूप उपस्थित करने मे सफलता प्राप्त की है।

सूरसागर शास्त्रीय सगीत और लोकगीत के सहयोग से निर्मित विशाल राग सागर है। सूरसागर के भावचित्रो तथा रूपचित्रो मे रग रूप-रेखाओ का समन्वित बोध है। सूर के शब्दचित्रो मे चित्रकला के अनिवार्य तत्त्वो का समुचित विन्यास दिखाई पडता है। सूरसागर के पदो के आधार पर चित्ररचना की अपार सभावनाए हैं। सूरसागर मे नृत्य के रास और कत्थक शैलियो के विभिन्न उपादानो का कलात्मक प्रयोग है। इस प्रकार सूरसागर अपने युग की कलाचेतना का प्रतिनिधि काव्य बन गया है।

सूरसागर का काव्यरूप

किसी काव्यरूप के निर्माण मे अभिव्यक्ति के तत्त्व दो प्रकार के होते हैं (1) आतरिक तत्त्व, जिसमे लय, छद, रचनात्मक सुसगति, रीति, बिब एव प्रतीक मुख्य है और (2) बाह्य तत्त्व, जिसमे सरचना, रूप, शैली तथ शिल्पविधि मुख्य हैं। अभिव्यक्ति के इन बाह्याभ्यतरिक तत्त्वो के सामजस्य से ही काव्य का रूप निर्मित होता है। काव्यरूप का निर्माण अनुभूति और अभिव्यक्ति की आतरिक समन्विति का परिणाम है। जब तक रूप रचनाकार की रचनाशक्ति के साथ विकासशील और सर्जनात्मक होता है तभी तक उसकी जीवतता एव सजीवता कायम रहती है। काव्यरूप का स्वरूप शास्त्रीय बनते ही जडीभूत हो जाता है। उसमे विकास एव आविष्कार की सभावना समाप्त हो जाती है। हरबर्ट रीड के अनुसार काव्य और दूसरी कलाओ के रूप के दो प्रकार होते हैं (1) आवयविक रूप (आर्गेनिक फार्म) और (2) अमूर्त रूप (आब्स्ट्रैक्ट फार्म)।[5] जब किसी कलाकृति मे वस्तु तथा सरचना की द्वद्वात्मक एकता से रूप का विकास होता है तो उसे आवयविक रूप कहा जाता है। जब कोई रूप स्थिर हो जाता है, उसका एक प्रतिमान के रूप मे प्रयोग होने लगता है और कलाकार कला की अतर्निहित आविष्कारशील प्रक्रिया की गतिशीलता को त्यागकर पूर्व निर्धारित रचना-विधान के अनुरूप ही विषयवस्तु का स्वरूप निर्मित करता है तो रूप अमूर्त होता है। स्वच्छदतावादी रचना मे आवयविक रूप का आग्रह होता है,

शास्त्रीयतावाद अमूर्त रूप का अनुगामी है।

प्राय काव्य का आवयविक रूप काव्यशास्त्र के रूढ नियमो से मुक्त और कवि की सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम होता है। एक समर्थ कवि अभिव्यक्ति के स्तर पर सर्जनशील होकर ही नवीन काव्यरूप की उद्भावना मे सफल होता है। ऐसा आवयविक काव्यरूप काव्यशास्त्र के सम्मुख एक नया आदर्श उपस्थित करता है, एक नए सिद्धात को जन्म देता है तथा काव्यरूप की व्याख्या के एक नए दृष्टिकाण की सभावना पैदा करता है। सूरसागर मे ऐसा ही आवयविक काव्यरूप है, जिसमे मध्यकाल मे प्रचलित अनेक काव्यरूपो का समन्वय और विकास है। सूरसागर मे प्रबध और मुक्तक का एक साथ विनियोग है और काव्य, सगीत, चित्र तथा नृत्य आदि कलाओ का समन्वित रूप भी है। सूरसागर के काव्यरूप की यह विशेषता है कि वह अपनी सपूर्णता मे एक महाकाव्य है, उसके भीतर अनेक खडकाव्यो का नियोजन है, उसके सदर्भसापेक्ष पद गेय गीत के लक्षणो से युक्त है और विनय के पद विशुद्ध चिंतनमूलक अतर्वृत्तिनिरूपक गेय मुक्तक है। गीतात्मक प्रबधात्मकता सूरसागर के काव्यरूप की अपनी मौलिक विशेषता है। सगीत सूरसागर के काव्यरूप के निर्माण मे नियामक तत्त्व है। सूरसागर की विशिष्ट गीतात्मक प्रबधात्मकता मे श्रीकृष्ण की ब्रजलीला की रसात्मक अनुभूति, जीवन की कथा, चरित्र की घटनापूर्णता, कृष्ण का ऐश्वर्यमय एव माधुर्यमय रूप, प्रेम और सौंदर्य का अमर सगीत, भावपूर्ण गोपियो का कृष्णार्पित जीवन तथा भावुक भक्त का आत्मनिवेदन आदि परस्पर घुल मिलकर एकरूप हो गए हैं। यही कारण है कि सूरसागर मे प्रबधात्मकता और प्रगीतात्मकता का सहज एकीकरण हुआ है। सूरसागर मे प्रबध का आधार लोकजीवन मे प्रचलित कृष्णकथा है। इसमे कथा की पुनर्रचना और प्रगीत की तन्मयता की अभूतपूर्व एकता है, इसलिए पाठक कथारस और अनुभूति की तीव्रता का एक साथ अनुभव करते है।

क्या सूरसागर एक महाकाव्य है ?

महाकाव्य एक ऐसा काव्यरूप है जिसमे किसी देश के एक युग के जीवन के रागपक्ष, ज्ञानपक्ष और कर्मपक्ष का समन्वित रूप उद्घाटित होता। उसमे एक राष्ट्र के मानस के अतीत और वर्तमान के अनुभव व्यक्त होते है। महाकाव्य मे सामूहिक जीवन के भाव और अनुभूतियो की व्यजना होती है। प्रबधकाव्य मे महाकाव्य श्रेष्ठ है, क्योकि वह अपने युग के सामूहिक मानस का विशाल चित्र होता है। महाकाव्य के आतरिक और बाह्य विधायक तत्त्वो एव लक्षणो के विषय मे कवि तथा काव्यशास्त्रियो की धारणाए बदलती रही है। भारतीय काव्य परपरा मे रामायण (वाल्मीकि), महाभारत (व्यास), रघुवश और कुमारसभव

(कालिदास), शिशुपालवध (माघ), किरातार्जुनीय (भारवि), पृथ्वीराज रासो (चद), पद्मावत (जायसी), रामचरितमानस (तुलसीदास), प्रियप्रवास (हरिऔध), साकेत (मैथिलीशरण गुप्त), कामायनी (प्रसाद) आदि प्रमुख महाकाव्य हैं। यूरोपीय साहित्य मे इलियड, ओडेसी (होमर), डिवाइन कामेडी (दाते), एनीड (वर्जिल), पैराडाइज लास्ट (मिल्टन), रिवोल्ट आफ इस्लाम (शेली) और द वेस्टलैंड (टी एस इलियट) को महाकाव्य या महाकाव्यात्मक कृतिया कहा जाता है। इन दोनो परपराओ के महाकाव्यो पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकाव्य की आत्मा और आकार मे निरतर परिवर्तन होता रहा है।

भारतीय महाकाव्यो की परपरा मे रामायण तथा महाभारत के समक्ष साकेत और कामायनी को रखने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि रामायण और महाभारत से साकेत और कामायनी की आत्मा और रूप मे पर्याप्त भिन्नता है। अगर रामायण या महाभारत को ही महाकाव्य का आदर्श रूप माना जाए तो साकेत और कामायनी को महाकाव्य मानना कठिन होगा। किंतु यह सत्य है कि भारतीय महाकाव्य-परपरा मे ये चारो काव्य महाकाव्य के रूप मे स्वीकृति और समादृत हैं। इसलिए काव्यशास्त्र द्वारा निर्धारित स्थूल लक्षणो के आधार पर ही किसी काव्य ग्रथ का महाकाव्यत्व निर्धारित नही किया जा सकता। महाकाव्य दो प्रकार के होते हैं (क) विकासशील महाकाव्य और (ख) कलाप्रधान महाकाव्य। अनेक आलोचको ने विकासशील महाकाव्य को ही वास्तविक महाकाव्य माना है। रवीद्रनाथ टैगोर का मत है कि 'महाकाव्य हमारे ज्ञात साहित्य के अदर केवल चार ही हैं इलियड, ओडेसी, रामायण और महाभारत। अलकार-शास्त्र के कृत्रिम नियमो के आधार पर रघुवश, भारवि, माघ या मिल्टन के पैराडाइज लास्ट, वाल्तेयर के हारियड आदि को महाकाव्य की पक्ति मे जबर्दस्ती बिठाया जाता है।'[6] प्राय आलोचको ने अलकारशास्त्र के कृत्रिम नियमो के अनुकूल न पाकर तथा उसकी प्रकृति की सच्ची पहचान के प्रयास के अभाव मे सूरसागर को महाकाव्य मानने से इनकार कर दिया है।

सस्कृत काव्यशास्त्र मे महाकाव्य के लक्षणो का विस्तृत विवेचन हुआ है। महाकाव्य मे मुख्य तत्त्व हैं—कथा, नेता या नायक, रस, प्रकृति एव परिस्थितियो का वर्णन, सर्गबद्धता, छद, शैली तथा उद्देश्य। वैदिक साहित्य से लेकर विभिन्न पुराणो तक तथा महाभारत से जयदेव के गीतगोविंद पर्यंत भारतीय वाड्मय मे परिव्याप्त कृष्णकथा भारतीय जनमानस का अविभाज्य अग है। वह भारतीय जनमानस का एक प्रबल सस्कार बन गई है। सूरसागर मे श्रीकृष्ण की कथा भागवत और महाभारत पर आधारित कथा ही है, लेकिन उसमे विदुर जन्म, जयविजय कथा, पार्वती विवाह, ध्रुवकथा, पुरजन कथा, जडभरत कथा, नारद

उत्पत्ति, सुदामा चरित और जनमेजय आदि की कथाए परवर्ती काल की हैं जो मूल कथा के साथ जुडी हुई है। सूरसागर की कृष्णकथा लोकजीवन मे प्रचलित कृष्णकथा है। इसमे कथा के मिथकीय, ऐतिहासिक और लोकप्रचलित रूपो का समन्वय है। सूरसागर का कृष्णचरित्र स्फुट सामग्री का सकलन मात्र नही है, बल्कि उसमे कथा का विकसित रूप है। सूरसागर का कथानक सुसबद्ध और सुघटित नही प्रतीत होता है । ब्रजेश्वर वर्मा के अनुसार इसके कथानक की विशृखलता के तीन कारण है (1) गीत पदो की शैली, (2) विभिन्न प्रकार के पदो, पदसमूहो और खडकथानको की स्वतत्र प्रकृति, और (3) सूरसागर के काव्यरूप की प्रकृति की सच्ची पहचान के बिना उसके पदो और कथाप्रसगो मे मनमाना परिवर्तन और सकलन ।[7] सूरसागर की कथा की असबद्धता का एक कारण कृष्णकथा की अत्यत लोकप्रियता है। कवि ने कथा के विशृखलित सूत्रो को कल्पनाशील सहृदय के बुद्धिविनियोग के लिए छोड दिया है । कथानक की असबद्धता तो अनेक आधुनिक महाकाव्यो मे भी है। सूरसागर का कथानक इतना असबद्ध और विशृखलित नही है जिससे पाठक को रस के आस्वादन मे व्यवधान प्रतीत हो ।

सूरसागर की कथा पर सरचना की दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि इसमे कथा का विभाजन काड (रामायण), पर्व (महाभारत) आश्वास या सधि (प्राकृत काव्य), खड (पद्मावत), सर्ग (रघुवश आदि), सोपान (रामचरितमानस) आदि मे नही हुआ है। सूरसागर के द्वादश स्कधात्मक रूप मे कथा पुराणो की पद्धति के अनुसार स्कधो मे विभाजित है। लेकिन सूरसागर का यह रूप वल्लभ सप्रदाय के सेवको के प्रयास की देन है। सूरसागर की कथा का विभाजन लीलाओ मे हुआ है, इसलिए यह सर्गबद्ध न होकर लीलाबद्ध है। विनय के पद इस लीलाबद्ध महाकाव्य की भूमिका के रूप मे प्रस्तुत हैं जिनमे वदना, सत प्रशसा, हरिविमुख (खल) निंदा, नाममहिमा तथा आत्मनिवेदन के द्वारा कवि ने अपनी मनोभूमिका एव भावी काव्य की पृष्ठभूमि का उद्घाटन किया है। इस लीला क्रम के अनुसार सूरसागर को सात भागो मे बाटा जा सकता है (1) विनय के पद, (2) बाललीला, (3) वृदावनलीला, (4) माधुर्यलीला (अनुराग, चीरहरण, पनघटलीला, दानलीला रासलीला, और विरहलीला), (5) मथुरालीला, (6) द्वारिकालीला, और (7) अवतार लीला। सूरसागर मे कथारस का अव्याहत प्रवाह उसके कथानक की एकात्मकता का प्रमाण है ।

सूरसागर के नेता या नायक लीला पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण हैं। सूरसागर मे श्रीकृष्ण का दिव्य रूप है और उनका मानवीय रूप भी। यद्यपि सूरसागर मे श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व का रागपक्ष ही प्रबल है, किंतु उनके व्यक्तित्व मे ज्ञानपक्ष और कर्मनिष्ठ पक्ष विस्मृत नही हैं। सूरसागर मे लोकपीडक असुरपक्ष है और

असुरो के सहार मे श्रीकृष्ण की लोकहित की चिंता व्यक्त हुई है। अवतारलीला के दो पक्ष है (1) साधुहित, और (2) असाधु अहेर। सूरसागर के श्रीकृष्ण लीला पुरुषोत्तम ब्रह्म ही है, किंतु उनका मानवीय रूप इतना उदात्त है कि दोनो मे अभेद ही दिखाई पडता है। सूरसागर मे अभिव्यक्त ईश्वर की मानवीयता तथा मानव की ईश्वरता का अद्वैत ही कृष्णचरित्र की विशेषता है।

काव्यशास्त्र की दृष्टि से सूरसागर मे शृगाररस ही अगीरस है, शेष वात्सल्य, वीर, रौद्र, भयानक आदि रस इसके सहायक है। वात्सल्य के रसत्व की प्रतिष्ठा सूर की प्रतिभा की देन है। भक्तिशास्त्र के अनुसार सूरसागर का प्रधान रस मधुर रस या उज्ज्वल रस है। आचार्य रामचद्र शुक्ल की एक धारणा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूरसागर का 'बीज भाव' प्रेम है। इस प्रेम के ही विभिन्न रूपो और पक्षो को जीवन-सदर्भ के बीच सूरदास ने सूरसागर मे व्यक्त किया है। सूर के कृष्ण जिनसे प्रेम करते है उनकी रक्षा भी करते हैं, इसलिए सूरसागर मे लोकमगल की साधनावस्था भी है, केवल सिद्धावस्था नही। सूर-सागर का प्रेम मानवजीवन का प्रेम है। वह लोक से न्यारा नही है, सामती समाज के बधनो से मुक्त है, सामती समाज से न्यारा है।

सूरसागर मे वस्तु वर्णन का भी अभाव नही है। उसमे प्रकृति का वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनो प्रकार का वर्णन है। शृगार मे सूरदास ने प्रकृति का उद्दीपन विभाव के अतर्गत वर्णन किया है, जिनमे पावस प्रसग तथा चद्रोपालभ आदि मुख्य हैं। सूरसागर मे प्रकृति का आत्मनिष्ठ वर्णन ही अधिक है। सयोग मे प्रकृति का सुखद और वियोग मे दुखद रूप चित्रित है। सारी ब्रजलीला प्रकृति की गोद मे हुई है, इसलिए लीला-वर्णन के साथ ही प्रकृति-वर्णन भी है।

शैली की दृष्टि से सूरसागर स्पष्टत गीतात्मक महाकाव्य है। इसमे राग-रागिनी पर आधारित शास्त्रीय सगीत तथा लोकगीत की पद्धति का उपयोग है। सूरसागर के पदो मे गेयता को कायम रखते हुए सूरदास ने छदो का प्रयोग किया है। प्राय कवि ने छदो के साथ टेक या ध्रुव को जोडकर उसे गेय बनाया है। ऐसे पदो मे उपमान, कुडल, शोभन, रूपमाला, सार, सरसी, समान, मत्त सवैया विष्णुपद, हसाल आदि छदो का प्रयोग किया है।[8] वर्णनात्मक छदो मे चौपाई दोहा, रोला आदि तथा उससे निर्मित अनेक नवीन छदो का भी प्रयोग हुआ है। सूरसागर के दोहा चौपाई मे लिखित कथात्मक पदो की प्रामाणिकता सदिग्ध है। सूरदास की यह अपनी विशिष्टता तथा मौलिकता है कि उन्होने गेय पदो के अतर्गत राग-रागिनी की शास्त्रीय सगीत पद्धति के भीतर ही छदो का प्रयोग किया है। कवि का ध्यान सदा पदो की गेयता तथा भाव की सफल व्यजना पर केद्रित रहा है, इसलिए छदो का रूप परिवर्तित हुआ है।

चद्रबली पाडेय ने सूरसागर को लीला-प्रबधकाव्य या भाव-प्रबधकाव्य कहा

है और उसे कथा-प्रबधकाव्य, वस्तु-प्रबधकाव्य या चरित-प्रबधकाव्य नही माना है।[9] लेकिन डॉ ब्रजेश्वर वर्मा ने सूरसागर को कृष्णचरित का महाकाव्य लिखा है।[10] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार गीत काव्यात्मक मनोरागो पर आधारित विशाल महाकाव्य ही सूरसागर है।[11]

सूरसागर को काव्यशास्त्र के लक्षणो के आधार पर महाकाव्य कहा जा सकता है और हिंदी के आलोचको ने उसे महाकाव्य माना भी है। वस्तुत सूर-सागर का महाकाव्यत्व उसके आकार मे कम, उसकी आत्मा के रूप मे अधिक प्रकट हुआ है। महाकाव्य अपने युग की सास्कृतिक चेतना के विभिन्न स्तरो का प्रतिनिधित्व करता है। सूरसागर मे मध्यकाल की जनसस्कृति के उत्थान की सफल अभिव्यक्ति है। उसमे वैष्णवधर्म और जनसस्कृति के तत्त्वो का समन्वय है, भक्ति आदोलन के काल के विचारधारात्मक द्वद्व का सश्लिष्ट चित्रण है। सूर-सागर मे तद्युगीन विलासपूर्ण सामती जीवन का प्रतिबिब है और सामान्य जनता के जीवन के चित्र भी। सूर की समतावादी जीवनदृष्टि से उस काल की जनता के सामाजिक जीवन की आकाक्षा की अभिव्यक्ति हुई है। सूरसागर मे उस युग की समग्र कलाचेतना और कलापरपरा का सामजस्य है। सूरसागर अपने युग के जीवन, सस्कृति, विचारधारा और कलाचेतना का प्रतिनिधि काव्य होने के कारण महाकाव्यात्मक रचना है। अपने विशिष्ट गीतात्मक स्वरूप के कारण सूरसागर एक नए प्रकार का महाकाव्य है। यह साहित्य की शास्त्रीय परपरा से स्वतत्र लोकगीतो की सरचना के अनुसार रचित गीतात्मक महाकाव्य है।

कथा, भाव, विचार, सरचना, शिल्प और भाषा के स्तर पर लोकजीवन से गहरे सबध के कारण ही सूर के पद आज भी जनजीवन मे इतने लोकप्रिय है। सूरदास मनुष्य जीवन की समग्रता के कवि हैं।

गीतकाव्य का स्वरूप और परपरा

गीतकाव्य व्यक्ति के सवेदनशील चित्त मे रूपायित भावनाओ का आवेगमय लयात्मक सहज प्रकाशन है। भावनाओ की तीव्र आत्मानुभूति गीतकाव्य का प्राण है और लयात्मक निश्छल अभिव्यक्ति उसका सार्थक रूप। गीतकाव्य मे कवि के व्यक्ति चित्त और लोक चित्त का एकात्म्य जरूरी होता है। इस एकात्म्य के कारण ही गीतकाव्य मे 'तदाकार परिणति' की क्षमता होती है। गीतकाव्य मे काव्यानुभूति के साथ गीतकार की तन्मयता के अनुरूप ही पाठकीय तन्मयता सभव होती है। गीतकाव्य वैयक्तिक अनुभूतियो की व्यजना है, किंतु उसमे लोक-हृदय का स्पदन भी होता है, यही कारण है कि वैयक्तिक गीत समूहगीत बन जाते हैं।

गीतकाव्य मे नाद-तत्त्व या सगीत सवेदना से उद्भूत लयात्मक बोध अनिवार्य होता है। गीत और सगीत का सबध आत्मिक है, आतरिक है। गीतकाव्य मे भावो की गति लयात्मक होती है। सूजन के लैंगर के अनुसार सगीत भावात्मक जीवन का सहधर्मी है। भावो के विकास और अवरोह, प्रवाह और सग्रह, द्वद्व और सकल्प, गति, विराम, उत्तेजना, शाति, सूक्ष्म सक्रियता, स्वप्निल अगति, और आतरिक अनुभूति की सपूर्ण प्रक्रिया की सगीत की स्वर सगति से घनिष्ठ समानता है।[12] यही कारण है कि सगीत गीतकाव्य का सहज अग है। गीतकाव्य मे कही सगीत से काव्यत्व दब जाता है और कही काव्यत्व से सगीत अनुशासित होता है, लेकिन श्रेष्ठ गीतकाव्य मे काव्य और सगीत का पूर्ण सामजस्य होता है। गीतकाव्य मे सगीत के तीन स्वर होते है. (1) शब्द सगीत, (2) नाद सगीत, (3) भाव या विचार सगीत। शब्द सगीत और नाद सगीत से क्रमश अर्थ सगीत तथा लय सगीत की रचना होती है। लय चेतना तथा सरचना की चेतना का बोध गीतकाव्य की रचना के लिए आवश्यक है।[13] लय चेतना के कारण ही गीत-काव्य के विभिन्न आतरिक तत्त्वो मे समन्वित होती है और सरचना की चेतना से उसका स्वरूप निर्मित होता है। गीतकाव्य का लय तत्त्व ही सहृदय को प्रभावित करता है। लय से गीत की आत्मा और रूप मे रूपात्मक सगति स्थिर होती है। भावो या विचारो की आतरिक सुसगति से ही भाव या विचार के सगीत का सृजन होता है। गीतकाव्य मे सगीत की प्रधानता या न्यूनता के आधार पर उसके दो प्रकार होते हैं गेय गीत और पाठ्य गीत। विषयवस्तु की दृष्टि से भी गीत के दो प्रकार होते हैं भावात्मक गीत और चितनमूलक गीत।

भारतीय काव्य परपरा मे काव्य और सगीत या गीत सगीत का आतरिक सबध अत्यत प्राचीन है। वेदो मे काव्य और सगीत का सहज सबध प्रकट है। वैदिक ऋचाओ को उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरो मे गाने की परपरा प्राचीन है। सामवेद सगीत का आदि स्रोत है। वेद के सूक्तो मे देवताओ की छद-मय स्तुतिया हैं और प्राकृतिक तत्त्वो का माहात्म्य और महिमागान है। ऋग्वेद के उषाविषयक मत्रो मे रूप-सौदर्य और भाव-सौदर्य की प्रभावी व्यजना हे, उसमे प्रकृति की रूपात्मकता, सौदर्य एव शक्ति की सजीव साकारता का आकषक वर्णन है। वेदो मे काव्य के लयात्मक आनद और चेतना की सुषमा का सुदर सयोग है। वैदिक ऋषि कवि और मनीषी दोनो हैं, इसलिए वेदो मे भावो के सौदर्य और आत्मा की विभिन्न दशाओ की व्यजना है। वेदो मे व्यक्त सत्य के सहज, अनावृत, सुदर और प्रिय स्वरूप मे ही काव्यत्व है। वैदिक गीत प्रधानत गेय हैं, उनमे सामाजिक रागात्मक अनुभूति की व्यजना है क्योकि ये गीत सामूहिक उत्सवो मे गाए जाते थे। वैदिक काल का जीवन सामूहिक था, वैयक्तिक भावना का विकास नही हुआ था, इसलिए मत्रो की भावधारा एव विचारधारा

का मुख्य स्वर सामूहिकता का है।

आदिकवि वाल्मीकि का प्रथम श्लोक वेदना, आकुल द्रवीभूत चित्तवृत्ति की स्वत प्रवर्तित लयात्मक छदोबद्ध व्यजना है, जिसमे सवेदना और सहानुभूति की प्रधानता है। क्रौंच की व्यथा से कवि की करुणार्द्र हृतत्री की कोमल झकार से नि सृत शोक ही श्लोक बन गया है। इस प्रकार तीव्र भावानुभूति की लयात्मक सहज व्यजना मे गीतकाव्य का मूल रूप प्रकट है। सभव है रामायण की कथा का कोई लोकप्रचलित गेय रूप विद्यमान था, क्योकि लवकुश द्वारा राम के दरबार मे वाल्मीकि रचित रामायण के गाए जाने की कथा प्रचलित है। परवर्ती काल मे सस्कृत के नाटको मे गीतो की नियोजना है। कालिदास के अभिज्ञान-शाकुनलम् और विक्रमोर्वशीयम आदि नाटको मे भी प्राकृत और अपभ्रश मे लघु-दीर्घ गीत हैं, जिनमे विभिन्न मनोदशाओ की अभिव्यक्ति है। कालिदास का मेघदूत तो एक सुदीर्घ विरह गीत ही है। सस्कृत के नाटको मे प्राकृत और अप-भ्रश मे गीत रचना की जो प्रकृति थी, वह निश्चय ही लोकगीतो से प्रभावित थी। प्राकृत और अपभ्रश मे प्रेम और सौंदर्यविषयक गीतो का प्राचुर्य है। प्राकृत और अपभ्रश काल के गीतकाव्य की यह विशेषता है कि उसमे गीत और सगीत का पार्थक्य तथा वैशिष्ट्य स्पष्ट होने लगा था। प्राकृत और अपभ्रश काल मे गीतकाव्य लोकगीत से प्रभावित होने के कारण भाव और अर्थ प्रधान हैं। उसमे सगीतात्मकता है, लेकिन सगीत का आग्रह कम है। प्राकृत और अपभ्रश काल के इस गीतकाव्य से प्रभावित जयदेव का गीतगोविंद है, जो सस्कृत गीतकाव्य की पराकाष्ठा है। कुछ विद्वानो का मत है कि जयदेव का गीतगोविंद पहले अपभ्रश मे लिखा गया था और बाद मे सस्कृत मे। जयदेव के गीतगोविंद मे भावो के अनुकूल रागो का प्रयोग है, राग-रागिनी तथा तालो का निर्देश है, भक्ति और शृगार का समन्वय है और कोमलकांत पदावली मे पद-रचना है। गीतगोविंद मे गीतिकाव्य और सगीत का सामजस्य है। गीतगोविंद मे नाटकीय सगीत है, इसलिए इसे ग्राम्यरूपक, गीतिनाट्य या सगीतरूपक कहा जाता है। सगीत के शास्त्रीय विधान के अतर्गत राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओ के गान की जो परपरा जयदेव के गीतगोविंद मे मिलती है, उसी का विकसित रूप सूरसागर मे उप-लब्ध है।

लोकभाषाओ के गीतकाव्य की परपरा का विकास सिद्धो के पदो मे हुआ, जिनकी भाषा को पुरानी हिंदी या हिंदी का प्राचीन रूप कहा जाता है। वास्तव मे सिद्धो के पदो की भाषा मे हिंदी के प्रारभिक रूप के दर्शन होते हैं। इन बौद्ध सिद्धो ने चर्या गीतियो की रचना की, जिन्हे चर्यापद भी कहा जाता है। भुसुकपा (नवी शताब्दी) की 'सहज गीति', लीलापा की 'विकल्प परिहारगीति', लुइपा की 'लुइपाद गीतिका', शवरपा की 'चित्तगुह्य गम्भीरार्थगीति', 'महामुद्राग्वज्र-

गीति', सहजयानी सरहपा की 'दोहाकोश गीति', 'नामचर्यागीत', 'दोहाकोशोपदेश गीति', 'तत्त्वोपदेश शिखर दोहागीतिका', 'वसततिलक दोहाकोश गीतिका', कम्बलपा की 'कम्बल गीतिका' आदि प्रमुख रचनाए हैं । इसके अतिरिक्त डोम्मिपा, धामपा, महीपा, विरुपा, ककणपा इत्यादि के गीतिग्रथो का उल्लेख तिब्बती स्तन्-ग्यूर् मे मिलता है।[14] इन चर्या गीतियो के पद मात्रिक वृतो मे है और उनमे विशेषत पादाकुलक, पज्झटिका, पद्धडी तथा चौपाई छदो का प्रयोग हुआ है। इनमे लयात्मकता तथा गेयता है और राग-निर्देश भी। पद की दूसरी पक्तियो को साधारणत ध्रुव अथवा ध्रुवक कहा जाता है तथा पद के अत मे रचयिता का नाम भी है। इस प्रकार इन चर्यापदो मे मध्यकाल के निर्गुण-सगुण भक्तो की पद शैली की प्रमुख विशेषताओ की मूल परपरा है। चर्यापदो मे तत्त्व-चिंतन और उससे उत्पन्न रहस्यानुभूति की प्रधानता है। इनमे धार्मिक उपदेश, अचारमूलक उपदेश तथा तान्त्रिक साधना के रहस्यो का व्याख्यान है। इन चर्या-पदो मे काव्यत्व का अभाव ही है, किंतु उनमे तद्युगीन भाषा का स्वरूप सुरक्षित है। इन सिद्धो की पद शैली का ही प्रभाव नाथो के योग-साधनापरक पदो मे दिखाई पडता है। किंतु नाथो के पदो मे ध्रुवक को टेर या टेक कहा गया है और यही टेक मध्यकालीन सत कवियो के पदो मे विद्यमान है। हिंदी साहित्य के आदिकाल मे गीतो मे स्वर और भाव की समान प्रमुखता दिखाई पडती है। वीरगाथाओ तथा वीरगीतो मे युद्ध और प्रेमविषयक गीतो की रचना हुई, जिन पर लोकगीतो की गेयता एव सहज भाव-सौंदर्य का प्रभाव पडा। दूसरी ओर अमीर खुसरो के सगीतपरक पदो मे गीत और सगीत का सयोग दिखाई पडता है। अमीर खुसरो की सगीतपरक पदरचना-प्रणाली का स्पष्ट प्रभाव मध्यकाल के सूरदास जैसे कवियो के पदसाहित्य पर पडा है।

हिंदी साहित्य के भक्तिकाल मे गीतकाव्य की दो धाराए हैं : (1) निर्गुण पदसाहित्य और (2) सगुणलीला पदसाहित्य। निर्गुण सतो मे कबीर, नानक और दादू आदि प्रमुख हैं। इन सत कवियो के पदो की रचना-शैली पर सिद्धो और नाथो की पद-परपरा, विषयवस्तु और रचनाशिल्प का प्रभाव परिलक्षित होता है। कबीर के 'सबद' गेय पद हैं। कबीर ने वसत, चाचर, बेलि, विरहुली और हिंडोला आदि लोकगीतो को भी अपनाया और उनमे गीतो की रचना की। कबीर के 'सबद' के राग निर्दिष्ट हैं तथा पदो के रागो के निर्देश की यह परपरा गुरुग्रथ साहब मे भी है और दादू के पदो मे भी। राग-निर्देशपूर्वक पद-रचना की इस पद्धति को सूरदास ने भी अपनाया है। सूरदास के विनय के पदो पर विषय-वस्तु तथा रचनाशैली दोनो दृष्टियो से कबीर आदि सत कवियो के पदसाहित्य का प्रभाव है। सत कवियो के पदो मे तत्त्वचिंतन, योगसाधना, रहस्यानुभूति, आत्मानुभूत भाव तथा प्रकृति के चेतनरूप की व्यजना है। कबीर के पदो मे

वैयक्तिक चित्त और लोकचित्त का सामजस्य है, आत्मचेतना तथा लोकचेतना की सुसगत अभिव्यक्ति है। कबीर के जिन पदो मे तीव्र भावानुभूति है, निश्छल आत्मनिवेदन है, निर्मल विचारप्रवाह है वहा काव्यत्व है और गीतिकाव्य का उत्कर्ष है, परतु जहा उलझाऊ तत्त्वचिंता है, आध्यात्मिक रहस्यानुभवो की प्रतीकात्मक व्यजना है, कोरा उपदेश है या साधनापरक योग की चर्चा है वहा काव्यत्व का अभाव है। कबीर के पदो मे अनुभूतिप्रसूत भावधारा तथा चिंतनसिद्ध विचारधारा का समानातर प्रवाह दिखाई पडता है। हिंदी साहित्य मे चिंतनमूलक तथा रहस्यानुभूतिपरक पदो के प्रणेता के रूप मे कबीर सदा समादृत हैं।

हिंदी साहित्य मे गीतकाव्य का चरम उत्कर्ष ब्रजभाषा के राधाकृष्ण लीला विषयक पदो मे दिखाई पडता है, जहा स्वरसाधना और भावसौंदर्य का पूर्ण सामजस्य है। राधाकृष्ण लीला की जो लोकप्रचलिक गेय परपरा हाल की गाथा सप्तशती मे प्रस्फुटित हुई, क्षेमेंद्र के दशावतार वर्णन मे सुरक्षित रही तथा जयदेव ने जिसे अपने प्राणरस से सीचकर पल्लवित पुष्पित किया, वह अपनी पूर्ण आत्मशक्ति तथा रूपसौन्दर्य के साथ अत्यत मनोहर रूप मे विद्यापति की पदावली मे अभिव्यक्त हुई। विद्यापति के पदो मे सौदर्यचेतना का आलोक भावानुभूति की तीव्रता, घनत्व एव व्यापकता और लोकगीत तथा सगीत की आतरिक सुसगति है। कुछ आलोचको का मत है कि विद्यापति के गीत लोकगीत के अधिक निकट हैं और उनमे सगीत की शास्त्रीयता का अभाव है। विद्यापति के गीतो मे सगीत के तत्त्वो का अभाव नही है, क्योकि लोचन कवि ने रागतरगिनी मे विद्यापति के गीतो की सगीतात्मकता का विशद विवेचन किया है। विद्यापति के गीतो का प्रभाव सूरदास के लीला पदो के रूप पर दिखाई पडता है। विद्यापति के पहले ही मैथिली मे गीतो की रचना अमृतकर (चौदहवी शती) ने की थी, जिनका एक पद रागतरगिनी मे प्राप्त है।[15]

विद्यापति के पूर्ववर्ती मैथिली कवि उमापति उपाध्याय ने अपने सस्कृत-प्राकृत मैथिली मिश्रित कीर्तनिया नाटक 'पारिजात हरण' मे गेयपदो की रचना की है, जिसमे रागो का निर्देश है। इस नाटक मे आए पदो के अतिरिक्त उनके कुछ स्फुट पद भी मिलते हैं।[16] विद्यापति के पश्चात पद्रहवी शति मे मैथिली गीतकाव्य की परपरा समृद्धतर हुई। विद्यापति और सूरदास दोनो ही भक्ति-आदोलन के कवि हैं, दोनो के काव्य मे लोकगीत की मौखिक परपरा का सर्जनात्मक रूप व्यक्त हुआ है। ये दोनो ही हिंदीजगत के दो जनपदो की भाषा के ग्रामगीतो के कलात्मक रूप के निर्माता और उन गीतो मे जनसस्कृति के रचनाकार हैं।

सूरदास के गीतकाव्य के स्वरूप के निर्माण मे महत्त्वपूर्व योगदान सूरपूर्व-

ब्रजभाषा के कवियो का है। सूरपूर्व ब्रजभाषा के कृष्णलीला विषयक पदो के रचयिताओ मे निंबार्क सप्रदाय के तीन कवि—श्री भट्ट (स 1352 वि), हरिव्यास देवाचाय (स 1320 वि), और परशुराम देव (स 1450 वि) उल्लेखनीय है।[17] इन तीनो भक्त कवियो का समय विवादग्रस्त है, किंतु सूरदास के पहले उनकी स्थिति कुछ विद्वानो ने मानी है।[18] इनके पदो मे रागो का निर्देश है तथा काव्य से सगीत का सुदर सामजस्य है। सूरपूर्व ब्रजभाषा के कृष्णलीला गायक कवि विष्णुदास (सवत 1492 वि) है,[19] जिन्होने सूरदास के लगभग अर्द्धशताब्दी पहले ऐसे पदो की रचना की जिसमे भक्तहृदय की भावप्रवणता और श्रीकृष्ण की ब्रजलीला की व्यजना है। विष्णुदास के पदो के राग भी निर्देशित है। सूरसागर के पदो की सगीतात्मकता के स्वरूप के निर्माण मे ब्रजभाषा के सूरपूर्व सगीतज्ञ कवियो के पदसाहित्य का विशेष महत्त्व है। ऐसे सगीतज्ञ कवियो मे गोपाल नायक, बैजू बावरा तथा तानसेन का नाम उल्लेखनीय है। ये सभी उच्चकोटि के सगीतकार थे। इनके पदो मे काव्यत्व का अभाव है, किंतु सगीत का आग्रह प्रबल है। तानसेन ने अपने पदो मे सगीत के विभिन्न अग-उपागो का उल्लेख किया है। सूरदास ने भी अपने अनेक पदो मे सगीत की पारिभाषिक श दावली का प्रयोग किया है, शास्त्रीय सगीत के अग-उपांगो का उल्लेख किया है तथा दो या दो से अधिक रागो के सयोग से नए रागो का निर्माण किया है। सूरसागर मे सगीत के तीन तत्त्व[20]—गीत, वाद्य तथा नृत्य के विभिन्न रूपो का प्रयोग किया गया है। सूरदास के पूर्ववर्ती प्रसिद्ध सगीतज्ञ स्वामी हरिदास के ध्रुपद विशेष विख्यात हैं। स्वामी हरिदास के केवल 126 ध्रुपद मिलते हैं, जिनमे से 18 उपदेशात्मक हैं, जो सिद्धात के पद कहे जाते हैं और शेष 108 राधा-कृष्ण की निकुजलीला विषयक हैं, जिनका सग्रह श्री केलिमाला नाम से हुआ है। स्वामी हरिदास के ध्रुपद सगीत की शास्त्रीय परपरा के अनुरूप हैं।[21] इनके पदो मे तन्मयता और तीव्र अनुभूति की अभिव्यक्ति है। सूरसागर मे ध्रुपद पदरचना की शैली का प्रभाव है।

सूरदास के गीतो की रचनाशैली का एक स्रोत उस काल के ग्रामगीत है। आचार्य रामचद्र शुक्ल ने ठीक ही अनुमान किया है कि सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य-परपरा का—चाहे वह मौखिक रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।[22] सूरसागर के गीतकाव्य के स्वरूप के निर्माण मे भारतीय गीतकाव्य-परपरा के अनेक ज्ञात-अज्ञात कवियो का प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रभाव है। सूरदास के मानस मे सचित गीतसस्कार, उनकी अपनी सगीत सवेदना, गीतकाव्य की परपरा के प्रभाव और लोकगीतो की मौखिक परपरा के योग से उनके गीतकाव्य का स्वरूप निर्मित हुआ हैं।

गीतकाव्य की आत्मा और रूप के विधायक तत्त्वो का विश्लेषण आलोचको

ने किया है। सारत गीतकाव्य के निम्नाकित तत्त्व माने गए है :

(1) आत्मानुभूति, (2) भावघनत्व एव भावऐक्य, (3) वैयक्तिकता, (4) सक्षिप्तता—अनुभूति और अभिव्यक्ति की, (5) सगीतात्मकता—शब्द, स्वर और भाव का सगीत, (6) कलात्मकता, (7) कृत्रिमता का अभाव, और (8) रूप-वैविध्य।

सूरसागर के पदो मे गीतकाव्य के ये सभी तत्त्व विद्यमान हैं। सूरसागर के विनय के पदो मे कथा और विचार, अनुभूति के अग बनकर व्यक्त हुए हैं। विनय के पद विशुद्ध गीत हैं, जिनकी प्रत्येक पक्ति में भक्त कवि की आत्मा का सगीत प्रतिध्वनित हो रहा है। उनमे कवि की तन्मयता, उसका आत्मसमर्पण तथा सघन भावानुभूति की अभिव्यक्ति है। अनुभूति की निष्कपटता और अभिव्यक्ति की सहजता का सूरसागर के विनय के पदो मे चरम उत्कर्ष है। इन पदो मे कही भी आरोपित भाव या कृत्रिम शैली नही हैं।

सूरसागर के लीलाविषयक पद गीतकाव्य के एक नवीन स्वरूप का उद्घाटन करते हैं। लीला के पदो मे कथातत्त्व भी विद्यमान है और सघन अनुभूति भी। वास्तव मे सूरदास को लीलागान की जो परपरा जयदेव और विद्यापति से उपलब्ध हुई थी, उसकी मुख्य विशेषताए हैं (1) तीव्र भावानुभूति, (2) मनोरागो के अनुकूल सगीत की राग-रागिनियो का प्रयोग, (3) कृष्ण की ललित लीलाओ की रसात्मक व्यजना, (4) भक्ति और शृगार का समन्वय, और (5) कोमलकात पदावली। सूरसागर के लीलाविषयक पदो में ये सभी विशेषताए हैं। कृष्ण की लीलाओ को अपने गीतकाव्य का विषय बनाने के कारण उसमे कथातत्त्व का समावेश सूर ने किया है। सूर के गीतकाव्य मे कथातत्त्व बाधक नही, साधक ही सिद्ध हुआ है। यहा कथा गीतकाव्य की पृष्ठभूमि है। गीतकाव्य मे केवल भावव्यजना ही अनिवार्य नहीं है, उसमे कथा भी हो सकती है।[23] लेकिन कथा को भावव्यजना और रसानुभूति मे बाधक नही होना चाहिए। सूरसागर के पदो मे कथा है, किंतु वह भावो की सघनता मे डूबी हुई है।

सूरसागर के पदो मे भाव और स्वर, काव्य और सगीत का आदर्श सयोग है। सूर की भावसाधना और स्वरसाधना के सहयोग से ही उनकी काव्यसाधना सफल हुई है। सूरसागर मे सगीत की राग-रागिनी पद्धति का उपयोग है, उसमें भावो के अनुकूल रागो का प्रयोग है। मध्यकाल मे प्रचलित सभी राग-रागिनियो का प्रयोग सूरसागर मे हुआ है, जिससे वह विशाल राग-सागर बन गया है। उसमे शब्दसगीत, स्वरसगीत और भावसगीत का सामजस्य दिखाई पडता है। गीतकाव्य का ऐसा आदर्श रूप जहा भाव-व्यजना और स्वरसाधना का सायुज्य हो, सूरसागर के पदो मे प्रकट है।

एक सफल गीतकार ईश्वर की भाति अपनी रचना मे अपनी सत्ता ो अदृश्य

गोपनीयता कायम रखता है। वह अपनी रचना के भीतर, बाहर, परे या ऊपर स्थित होता है।[24] गीतकार का लक्ष्य है आत्मानुभूति को लोकानुभूति मे परिणत करना। गीत मे कवि की प्रत्यक्ष उपस्थिति रसात्मक बोध मे बाधक सिद्ध होती है। सूरदास ने लीलाविषयक पदो मे आत्मसत्ता को यशोदा या गोपियो की सत्ता मे विलीन कर दिया है या कहिए कि सूर की आत्मा ही कभी यशोदा और कभी गोपियो के रूप मे मूर्तिमती होकर लीला का गान करती है। यशोदा और गोपियो के हर्ष-विषाद मे सूर की आत्मा का स्पदन दिखाई पडता है। अपनी सृष्टि के साथ स्रष्टा का यह तादात्म्य काव्य-सृजन की प्रक्रिया का एक विशेष गुण है।

सूरदास ने लीला के पदो मे मन की सूक्ष्म तथा जटिल गतिविधियो का सटीक अकन किया है और आत्मा की गतिविधि की भी व्यजना की है। उनके गीतकाव्य का मूल विषय है प्रेम, सौंदर्य उसका पूरक है। प्रेम के मानवीय और अलौकिक रूपो की आतरिक सगति का ऐसा सिद्ध स्वरूप अन्यत्र दुर्लभ है। प्रेम के विविध रूपो की कलात्मक व्यजना के कारण सूरदास के पदो मे रूप-वैविध्य का प्राचुर्य है।

सूरदास के गीतो मे तीव्र भावुकता है, मनोरागो के रूप तथा गति के चित्र हैं, सौंदर्य के आकर्षक बिब हैं, प्रकृति की रूपात्मक छविया हैं और अत चेतना का साकार रूप है। इन गीतो मे तन्मयता और विदग्धता का पूर्ण सयोग है। सूरसागर के गीतो का भावजगत अत्यत व्यापक है। उसमे शात, दास्य, वात्सल्य, सख्य और दापत्य प्रेम के विविध रूपो की व्यजना है। इन गीतो मे कवि की आत्मीयता सर्वत्र व्याप्त है। सूरसागर के लीलापदो मे श्रीकृष्ण के जीवन के माध्यम से मानवजीवन के शाश्वत आकर्षण-बिदुओ का उद्घाटन है, उसमे बाल्यकाल, किशोर जीवन तथा यौवन के रूप और रस, भाव और कर्म तथा सौदर्य और शील की प्रभावी अभिव्यजना है। कवि की प्रबल आत्मीयता, तन्मयता और अनुभूतिप्रवणता के कारण ही सूरसागर के पदो का गीतसौंदर्य अत्यत निखरा हुआ है। सूरसागर मे शात एव दास्य के चितनमूलक गीत, वात्सल्य और शृगार के भावात्मक गीत, प्रकृतिसबधी वर्णनात्मक गीत, दृष्टिकूट के प्रतीकात्मक गीत तथा लीलासबधी आख्यानक गीत हैं। प्रेम सूरदास के गीतो का प्राण है, इसलिए सूरदास के अधिकाश गीतो को प्रेमगीत कहा जा सकता है।

लीलाकाव्य

सूरदास ने महाकाव्य और गीतकाव्य के अतिरिक्त अपने युग मे प्रचलित दूसरे काव्यरूपो का भी प्रयोग किया है। सूरसागर मे प्रयुक्त इन काव्यरूपो

की सक्षिप्त चर्चा जरूरी है। लीलाकाव्य मध्यकाल का एक लोकप्रचलित काव्य-रूप है। सूरसागर मे लीलाकाव्य का प्रयोग है। सूरदास ने सूरसागर के आरभ मे सगुण लीलापदो के गान का व्रत लिया है और उसका अत तक निर्वाह किया है। लीलाकाव्य की सैद्धातिक मान्यता है कि सपूर्ण सृष्टि रसरूप लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के सच्चिदानदस्वरूप के आविर्भाव-तिरोभाव का परिणाम है। श्रीकृष्ण अपनी आह्लादिनी शक्ति राधा के साथ नित्यलीला मे सदैव रत रहते हैं और इस शाश्वत लीला का प्रकट रूप ही ब्रजलीला है। ब्रजलीला को भी नित्य माना गया है। भगवान की लीला के दो रूप हैं माधुर्यमयी लीला और ऐश्वर्यमयी लीला। मथुरा और द्वारिका की लीला ऐश्वर्यमयी लीला है और ब्रजलीला माधुर्यमयी लीला है। ब्रजलीला के मुख्य उपादान हैं ब्रजभूमि, गौवें, गोपाल, मुरली, गोप और गोपी। ये सभी राधा-कृष्ण-लीला मे भाग लेते है। यह लीलामार्ग या प्रेममार्ग है। राधा-कृष्ण की ब्रजलीला के गान की परपरा अत्यत प्राचीन है। राधा-कृष्ण की लीला के गान की परपरा का मूल स्रोत लोक-जीवन है, किन्तु इसका वाड्मय रूप भी प्राचीन है। लीलाकाव्य की परपरा का अत्यत पुष्ट रूप जयदेव के गीतगोविन्द मे अभिव्यक्त हुआ है। जयदेव के गीतगोविद के आधार पर लीलाकाव्य की मुख्य विशेषताए निम्नलिखित हैं

(1) राधा-कृष्ण की प्रेमलीला विषयवस्तु है, (2) काव्य, सगीत और नृत्य का सयोग, (3) मनोरागो के अनुकूल रागो का प्रयोग, (4) नाटकीय सगीत और काव्य का योग, (5) कोमलकात पदावली, (6) भक्ति और शृगार का समन्वय, और (7) छदोबद्ध गेयपद शैली का उपयोग।

जयदेव के लीलाकाव्य की परपरा का विकास विद्यापति के पदो मे व्यक्त हुआ और ब्रजभाषा के काव्य मे इसका चरम उत्कर्ष हुआ। सूरदास के पूर्ववर्ती ब्रज-भाषा के अनेक भक्त कवियो ने लीलापदो की रचना की, जिनमे स्वामी हरिदास विशेष स्मरणीय हैं। उनकी केलिमाला निकुजलीला के मुग्ध और विदग्ध रूपो की रसभीनी अभिव्यक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है। वल्लभ सप्रदाय के अष्टछाप के सभी कवियो ने लीलाकाव्य की रचना की, परन्तु भावप्रवणता और कला-सौष्ठव की दृष्टि से सूरसागर मे लीलाकाव्य का उदात्त रूप विद्यमान है। वैसे तो सपूर्ण सूरसागर लीलाकाव्य है, किंतु उसमे अनेक लीलाओ की अपनी स्वायत्तता है और वे अपने आप मे लीलाकाव्य की सभी विशेषताओ से सपन्न हैं। सूरसागर की ऐसी लीलाओ मे पनघटलीला, दानलीला, चीरहरणलीला, रासलीला तथा भ्रमरगीतलीला आदि प्रमुख हैं। इन लीलाओ मे नाटकीय कल्पना-शक्ति का विकास दिखाई पडता है। सूरसागर मे श्रीकृष्ण की ऐश्वर्यमयी लीलाए भी हैं जिनमे ब्रह्मा द्वारा बालक वत्स हरणलीला, नागलीला, दावानलपानलीला गोवर्धनलीला तथा मथुरा एव द्वारिका की लीलाए हैं। इन लीलाओ मे भगवान

के शक्तिमय तथा ऐश्वर्यमय रूप के दर्शन होते हैं और इनमे विस्मय एव रहस्योन्मुखता के साथ-साथ भक्तिभावना का पुट है।

रासलीला मे माधुर्यमयी ब्रजलीला की पराकाष्ठा है और लीलाकाव्य का चरम उत्कर्ष है। रासलीला रसमयी लीला है। रास मूलत एक प्रकार का नर्तकी प्रधान गेय नृत्यरूपक है। रास का ही एक रूप हल्लीसक नृत्य है। कामसूत्र मे उसे गेयरासक कहा गया है और उसके क्रीडारूप की ओर सकेत है। हल्लीसक स्त्रियो का मडलाकार नृत्य है जिसमे एक नेता होता है। हरिवश पुराण मे हल्लीसक का उल्लेख है और रासलीला का भी। हरिवश मे रासलीला शरद रास है। श्रीमद्भागवत मे रासलीला का विषद वर्णन है। हरिवश पुराण तथा भागवत पुराण की रासलीला मे राधा का अभाव है। ग्वालियर के बाघ की गुफ़ाओ के चित्र (छठी या सातवी शताब्दी) मे हल्लीसक गेयरूपक का चित्र है।[25] भोज के सरस्वतीकठाभरण मे भी हल्लीसक का उल्लेख है। ऐसा लगता है कि रास और हल्लीसक दोनो गेय नृत्यरूपक है और परवर्तीकाल मे हल्लीसक का रास मे समावेश हो गया। बाद मे केवल रासलीला ही प्रचलित हुई। निश्चय ही भागवत पुराण के रासपचाध्यायी के अत्यत लोकप्रचलित होने के कारण हल्लीसक के तत्त्व रास मे मिलकर विलुप्त हो गए। रास का उल्लेख भास के बालचरित नाटक मे है और बाणभट्ट के हर्षचरित मे भी।

रास एक प्रकार का गेय नृत्यरूपक माना जाता है, इसलिए इसकी उत्पत्ति लास्यनृत्य से मानी जाती है। नृत्य दो प्रकार के होते हैं ताडव और लास्य। लास्य नर्तकीप्रधान शृगारपरक मधुर नृत्य है और राधा-कृष्ण की रासलीला लास्यनृत्य है।[26] इस गेय नृत्यरूपक रास की काव्याभिव्यक्ति ब्रजभाषा मे लीलाकाव्य के रूप मे हुई है। रासलीला के काव्यरूप पर रास या रासक गेय रूपको का भी प्रभाव पडा है।[27]

उत्तर भारत मे रासलीला की दो परपराए प्राप्त होती हैं। एक परपरा हरिवश विष्णु पुराण तथा भागवत पुराण की है और दूसरी जयदेव के गीतगोविंद की। हरिवश और भागवत पुराण की रासलीला शरद रास है और उसमे राधा का अभाव है, किंतु गीतगोविंद की रासलीला वसत रास है और राधा उसमे प्रमुख गोपी है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि उत्तर भारत मे रासलीला की ये दो परपराए अलग-अलग विद्यमान थी।[28] सूरदास की रासलीला मे इन दोनो परपराओ का समन्वय है। सूरसागर की रासलीला शरदकालीन रास है और उसमे राधा रासेश्वरी हैं। सूरदास ने रासलीला मे राधा-कृष्ण के विवाह का आयोजन किया है और राधा को श्रीकृष्ण की स्वकीया के रूप मे उपस्थित किया है। राधा रासलीला की नायिका है। वे कृष्ण के रासमडल के मध्य मे विराजमान हैं। सूरदास ने रासलीला का अत्यत चित्रात्मक

वर्णन किया है। प्रत्येक गोपी के साथ श्रीकृष्ण हैं, लगता है बादल के बीच में बिजली का प्रकाश हो। यहा घनश्याम और दामिनी का ऐक्य है। सूरदास के रासलीला-वर्णन मे नृत्य की पद गति, सगीत की स्वर गति और काव्य की भाव गति की अद्भुत सुसगति है

नृत्यत स्याम नाना रग।
मुकुट-पटकनि, भृकुटि भटकनि, धरे नटवर अग।
चलत गति कटि कुनित किंकिनि, घुघुरू झनकार।
मनौ हस रसाल बानी, अरस परस विहार।
लसति कर पहुची उपाजै, मुद्रिका अति जोति।
भाव सौ भुज फिरत जबही, तबहि सोभा होति।
कबहु नृत्यत नारि-गति पर, कबहु नृत्यत आपु।
सूर के प्रभु रसिक के मनि, रच्यौ रास प्रतापु॥ (1674)

रासनृत्य मे पदो की गति, अगविक्षेप, आगिक अभिनय की मुद्राओ तथा हाव-भाव का बिबात्मक वर्णन है

गति सुघग नृत्यतिव्रज नारि।
हाव भाव नैननि सैननि दै, रिझवति गिरिवर धारि।
पग पग पटकि भुजनि लटकावति, फूदा फरनि अनूप॥
चचल चलत झूमका, अचल, अद्भुत है वह रूप।
दुरि निरखत अग, रूप परस्पर दोउ मनही मन रीझत।
हसि हसि बदन बचन रस बरषत, अग स्वेद जल भीजत।
वेनी छूटि लटै बगरानी, मुकट लटकि लटकानौ।
फूल खसत सिर तै भए न्यारे, सुभग स्वाति सुत मानौ।
गान करति नागरि, रीझे पिय, लीन्ही अकम लाइ।

रास मे नृत्य, गीत और वाद्य सगीत की एकता है। श्याम गोपियो के साथ नृत्यरत हैं, स्वरवाद्य और तालवाद्यो की सगति है, मुरज, रबाब, बीना और किन्नरी के स्वरो से मृदग के ताल का मेल है। गोपिया कभी गाती हैं और कभी नाचती हैं (पद स 1677)। मुरली की सप्तस्वरलहरी मे रासलीला की आत्मा बसी है। रासलीला का चित्रात्मक वर्णन सूर ने इस पद मे किया है

विराजत मोहन मडल रास।
स्यामा स्याम सुधा सर मानौ, क्रीडत विमल विलास।
व्रजबनिता सत जूथ मडली मिलि कर परस करै।
भुज मृनाल भूषन तौरन जुत, कचन खभ खरे।
मृदु पद न्यास, मद मलयानिल बिगलित सीस निचोल।

बाजत जाल मृदग बासुरी, उपजति तान तरग।
बिथकित उडपति व्योम विराजत, श्री गुपाल अनुराग। (1754)

सूरदास ने रासलीला के बाद जलक्रीडा की योजना की है। उस पर हरिवश का प्रभाव परिलक्षित होता है। सूरसागर की जलक्रीडा सयत और उदात्त है, उसमे हरिवश की जलक्रीडा की ऐंद्रिकता और इद्रियासक्ति का अभाव है। सूर मे भक्तहृदय की तन्मयता और भावप्रवणता है, जबकि हरिवश मे इद्रिय भोग-वासना का उन्मुक्त विलास। सूर की रासलीला मे भक्ति भावना का उत्कर्ष है, उसमे नृत्य और गीत तन्मयता के साधन हैं। यहा नृत्य और सगीत जीवन के उत्सव के साधन हैं।

लोकगीत तथा सूर का काव्य

मौखिक लोकगीतो की अपनी लबी परपरा है, जिसमे जीवनपद्धति मे परिवर्तन के कारण परिवर्तन और विकास सभव होता है। लोकसाहित्य, लोकचित मे सचित सामूहिक चेतना तथा अनुभूति का साहित्य है। लोकसाहित्य मे जीवन के राग-विराग, सयोग-वियोग और हर्ष-विषाद का जीवत प्रतिबिब होता है। अनुभूतियो का स्वच्छ, निष्कपट, सरल रूप लोकसाहित्य मे प्रकट होता है। लोकसाहित्य मे जातीय सस्कृति और परपराए सचित होती हैं। व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत सस्कारो के गीत हैं तथा सामूहिक कर्मों, उत्सवो, त्योहारो और पर्वों के गीत हैं। इन लोकगीतो मे लोकजीवन का सच्चा चित्र और लोकसस्कृति का मूल रूप सुरक्षित रहता है। लोकगीतो मे मानव और प्रकृति के साक्षात सपर्क से उत्पन्न भावनाओ की व्यजना होती है। इसमे प्रकृति के कोमल और कठोर, मगलमय और अनिष्टकारी सभी रूपो के गीत हैं। लोकगीतो मे विभिन्न ऋतुओ के प्रति मानवमन की क्रिया-प्रतिक्रिया तथा सवेदनात्मक अनुभव की भावस्निग्ध व्यजना होती हैं। बारहमासा तथा होली के गीतो मे समाज की सामूहिक भावना प्रकट होती है। लोकगीतो मे नारी-जीवन की प्रेम और करुणा-मिश्रित गाथा का ललित रूप भी मिलता है।

लोकसाहित्य लोकप्रतिभा की देन है और उसमे रचयिता का आत्मगोपन प्रधान है। लोकसाहित्य मे धर्मगाथा, लोकगाथा, परपरागत कथाओ, अवदान, तत्राख्यान, लोकवार्ता, लोकगीत, प्रहेलिकाओ और चुटकुलो आदि का समावेश होता है। लोकसाहित्य मे भावो का सहज रूप अभिव्यक्त होता है और उसमे शिष्ट साहित्य के अभिजात सस्कार, शास्त्रीयता, पाडित्य और कृत्रिम कलात्मकता का अभाव होता है। गीतात्मकता लोकगीतो का प्राण है, क्योकि अपनी गेयता के कारण ही वे अमर हैं। कभी-कभी शिष्ट साहित्य का वह अश जिसमे जनमानस की दशाओ की सहज व्यजना होती है, लोकसाहित्य का अग बन जाता है।

कबीर, सूर और तुलसी के पदो के लोकप्रचलित होने का यही कारण है। लोक-भाषा मे लोकभावनाओ की अभिव्यक्ति के कारण इन भक्त कवियो की कविता लोककविता बन गई है।

लोकसाहित्य के विविध रूपो मे लोकगीत सर्वाधिक प्राचीन हैं। सभवत साहित्य का यह प्राचीनतम रूप है। मानव सभ्यता के विकास के प्रारभिक काल मे हर्षोल्लास की अनुभूति की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम गीत के रूप मे ही हुई होगी। लोकगीतो मे सामूहिक भावनाओ की व्यजना होती है और ससार के प्राचीन साहित्यो मे सामूहिक अनुभूतियो की अभिव्यक्ति ही दिखाई देती है। कविता साहित्यरूपो मे सबसे प्राचीन है और लोकगीत कविता का प्राचीनतम रूप है। लोकगीतो मे जीवलता, ताजगी और सहजता होती है। लोकगीतो मे कुछ पुरुषो के गीत हैं, कुछ नारियो के गीत हैं, कुछ काम के गीत है, कुछ आराम के गीत हैं, कुछ उत्सवो से सबधित उल्लास और खुशी के गीत हैं, कुछ वेदना तथा शोक के गीत हैं, कुछ सामूहिक गीत हैं और कुछ व्यक्तिगत गीत हैं।

लोकसाहित्य मे अक्षय जीवनशक्ति, सजीवता और ताजगी होती है, इसलिए शिष्ट साहित्य सदा लोकसाहित्य से जीवन-रस ग्रहण करता है। एक प्रतिभा-शाली कवि शास्त्रबद्ध अभिव्यक्ति के रूप को छोडकर सदा लोकसाहित्य से सवेदना के उपादन एव अभिव्यजना के रूप सचित करता है। भारतीय काव्य-परपरा मे सस्कृत, प्राकृत, पालि और अपभ्र श के साहित्य मे अनुभूतियो, विचारो तथा अभिव्यक्ति रूपो के विकास मे लोकसाहित्य का पर्याप्त योगदान रहा है। हिंदी का भक्तिकाव्य लोकभाषा का साहित्य होने से कारण लोकसाहित्य का उन्नत रूप है। प्रेम और युद्ध, नीति और धर्म, रीति और उपदेश के साहित्य का अधिकाश लोकसाहित्य से प्रभावित है। लोकसाहित्य मे विशुद्ध गीतकाव्य, लोकवार्ता मे नाटकीय गीत, विनय, मगल एव प्रार्थनापरक गीत, आशीर्वा-दात्मक गीत, सदेश तथा चरित्रचित्रण के आख्यानक गीत और ऋतु सबधी गीत भी हैं। मध्यकाल के सत तथा भक्त कवियो ने लोकसाहित्य के विविध रूपो, विशेषत लोकगीत का भरपूर उपयोग किया है और यही कारण है कि अब भी भक्तिकाल के काव्य मे ताजगी और लोकजीवन की आभा है। सत और भक्त कवियो का साहित्य लोकचेतना तथा लोकभावना का साहित्य है। सपूर्ण भक्ति-काल की काव्यसाधना का लक्ष्य है लोकचित्त से तादात्म्य स्थापन। कबीर, सूर और तुलसी ने लोकप्रचलित अनेक समकालीन काव्यरूपो का उपयोग और विकास किया है।

ब्रजभूमि की प्राकृतिक सुषमा, ब्रज की मर्मस्पर्शी तान तथा ब्रजभाषा का माधुर्य लोकविख्यात है। वैसे तो प्रत्येक क्षेत्र की अपनी क्षेत्रीय सस्कृति तथा अपनी

परपराए होती हैं, जिनकी अभिव्यक्ति वहा के लोकसाहित्य मे होती है, किंतु राधा-कृष्ण की लीलाभूमि ब्रज की सस्कृति सपूर्ण उत्तर भारत की वैष्णव सस्कृति का लगभग चार शताब्दियो तक केंद्र रही है। ब्रज के धर्म, दर्शन, कला, साहित्य और भाषा का लोकव्यापी रूप भक्तिकाल मे दिखाई पडता है। ब्रज-सस्कृति के विभिन्न अगो—दर्शन, धर्म, कला, साहित्य और भाषा का सपूर्ण उत्तर भारत की सास्कृतिक निधि के सरक्षण और विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान है। राधा-कृष्ण की लीलाभूमि के जड-चेतन से भक्तो का आत्मीय सबध दिखाई पडता है। ब्रज के लोकसाहित्य का ब्रजभाषा के शिष्टसाहित्य पर बहुत प्रभाव पडा है। सूरदास ने लोकसाहित्य के अनेक रूपो को विकसित किया है। उन्होने कृष्ण-जन्मोत्सव के समय स्त्रियो के गीत बधायौ, सोहिलौ, मगलगीत, गारी गीत आदि का उपयोग किया है। यशोदा कृष्ण के जागरण का गीत गाती हैं और सुलाते समय लोरी गाती हैं। ब्रजवासियो का जीवन सगीतमय है। कृष्ण के जन्म, नामकरण, अन्न-प्राशन, वर्षगाठ और कर्णच्छेदन के गीत हैं। सूरसागर मे विवाह के भी गीतमय वातावरण का चित्रण है। गोवर्धन पूजा, दीपमालिका, अन्नकूट के उल्लास और दूसरे गीतमय उत्सवो का वर्णन है।

शरदोत्सव मे रासलीला तथा जलक्रीडा के अवसर के अनुकूल गीतो की रचना हुई है। झूलन-प्रसग मे झूलने के साथ-साथ गीत भी हैं। इन गीतो को सावन के गीत भी कहा जाता है। प्रकृति के मनोहर वातावरण मे राधा-कृष्ण के साथ गोपियो के गीतमय और नृत्यमय झूलनोत्सव का सूरदास ने वर्णन किया है। सूरसागर मे वसतोत्सव तथा फाग के प्रसग मे लोकगीतो का अधिक प्रयोग हुआ है। ब्रज की होली आज भी उत्तर भारत मे प्रसिद्ध है। वसत मे सपूर्ण लोकमानस उल्लसित दिखाई देता है और लताओ तथा पुष्पो से सुसज्जित प्रकृति नई प्रीति को उद्दीप्त करती है। यह ऋतु ही प्रेम और सयोग की ऋतु है। इसमे प्रकृति के कण-कण मे कामना का विकास दिखाई पडता है। ब्रज की प्रेम-रगभीनी ग्वालिनें और रागरजित चित्त वाले गोप प्रेमोन्मत्त होकर फाग खेलते हैं और चाचर, झुमका, होरी, धमार आदि गाते हैं। सूरदास ने लोकगीतो को भी सगीत की राग-रागिनी पद्धति मे आबद्ध किया है और उनके भीतर अनेक प्रकार के छदो का प्रयोग किया है।

भ्रमरगीत-काव्य

भ्रमरगीत सूरसागर का एक अश है, लेकिन यह एक स्वतत्र काव्यरूप भी है। इसकी परपरा सूरदास से पुरानी है और सूरदास के भ्रमरगीत के बाद इसकी लबी परपरा है। भ्रमरगीत-काव्य सूरदास के काव्य और कला की सिद्धावस्था है। भ्रमरगीत मे भारतीय काव्य-परपरा के उपालभ काव्य और दूत काव्य की

परपरा के तत्त्वो का समावेश है। गोपियो के विरहगीत मे सूरदास की काव्यकला निखर उठी है और गोपियो की भावनाओ की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। सूरदास ने भ्रमरगीत मे भारतीय विरहकाव्य-परपरा के अनेक तत्त्वो को आत्मसात कर एक अभिनव काव्य-परपरा का उन्मेष किया है जो परवर्ती काल मे अनेक कवियो की रचनाओ से समृद्ध हुई है। सूरदास ने इस भ्रमरगीत काव्य-परपरा को इतनी शक्ति और गति प्रदान की है कि यह परवर्ती चार सौ वर्षों तक निरतर गतिशील और विकासोन्मुख हुई है। भ्रमरगीत काव्य मे सूरदास परपरा के सरक्षक, सस्कारक और निर्माता के रूप मे हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं।

सूरसागर का गोपीचरित एक दुखात काव्य है। कहा जाता है कि भारतवर्ष मे दुखात काव्य की परपरा का अभाव है, किंतु महाभारत मे इस परपरा के बीज विद्यमान हैं। सपूर्ण महाभारत एक दुखात काव्य है, जिसमे अनेक प्रकार के बाह्य और आभ्यतरिक सघर्षों के बीच से विकसित होती हुई कथा दुखात ही है। भीषण भौतिक, मानसिक और आत्मिक सघर्षों के पश्चात भी चित्त की शातावस्था का उसमे प्रयास है, किंतु उस शातावस्था के प्रयास मे भी चेतना का आतरिक द्वद्व विद्यमान है। सूरदास के गोपी-विरह मे सयोग की स्मृति की सुगधि है, सयोग की आशा का सचार है, किंतु यह विरह इतना विशाल, दीर्घकालीन और कारुणिक है कि उसमे छिपा आनद क्षीण ही है। सूरदास ने कुरुक्षेत्र मे कृष्ण और गोपियो मे सयोग की योजना निर्मित की है किंतु उसमे सयोगकालीन उल्लास और आनद का प्रबल वेग नही है। यहा गोपिया अपने प्रिय से सयोग मे समान स्तर पर तादात्म्य का अनुभव नही करती है क्योकि वहा कृष्ण का अतिमानवीय रूप है। कृष्ण के मानवरूप के साथ सयोग सहज और स्वाभाविक था। उनका चतुर्भुज रूप अलौकिक है। इस प्रकार अनुभूति के स्तर पर विरहजनित वेदना का भाव ही गोपीचरित का स्थायी भाव है। गोपियो की यह सर्वातिशायी वेदना इतनी घनीभूत और व्यापक है कि स्मृतिजन्य या क्षणिक सयोग का सुख इसमे पूर्णत निमग्न हो जाता है और सहृदय के चित्त पर उस कारुणिक वेदना का ही चिरस्थायी प्रभाव कायम रहता है। गोपीचरित को दुखात काव्य मानना उचित प्रतीत होता है। गोपीचरित के रूप मे इस वियोगात काव्य की रचना से सूरदास की सर्जनात्मक प्रतिभा की शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। नददुलारे वाजपेयी[29] और विजयेद्र स्नातक[30] ने भी गोपीचरित को दुखात रचना माना है।

कीर्तन काव्य

कीर्तन नवधा भक्ति मे एक साधन माना गया है। कीर्तन गेय पदो मे भगवान की लीला और गुणो का गान ही है और इसका मुख्य लक्ष्य भावोद्रेक या

रस प्रतीति है। आचार्य रामचद्र शुक्ल के शब्दो मे 'कीर्तन भगवान के अनत सौंदर्य, अनत शक्ति और अखड शील की सर्वसाधारण के बीच रसमयी घोषणा है।'[31] कीर्तन भक्त द्वारा भगवान के रूप, लीला और गुणो की आत्मानुभूति की सगीतमय अभिव्यक्ति है। उसके दो रूप होते है व्यष्टि कीर्तन और समष्टि कीर्तन। भक्त जब स्वात सुखाय भावावेश की अवस्था मे कीर्तन गाता है तो वह व्यष्टि कीर्तन है और जब कीर्तन के माध्यम से जनसमुदाय मे सामूहिक भावानुभूति को जगाने की कोशिश होती है तब समष्टि कीर्तन होता है। आचार्य शुक्ल ने कीर्तन को जनसमुदाय की मर्मानुभूति मानकर उसके समष्टिगत रूप को ही स्वीकार किया है और वैयक्तिक अनुभूति को वदन या स्तवन माना है।[32] वैयक्तिक मर्मानुभूति और उसकी सगीतमय व्यजना के अस्तित्व को अस्वीकार नही किया जा सकता और उसे केवल वदन या स्तवन नही माना जा सकता है। नवधा भक्ति मे वदन और स्तवन (स्मरण, अर्चन) से भिन्न कीर्तन की स्थिति मानी गई है। वास्तव मे भक्तिभावना की अनुभूति के वैयक्तिक और सामूहिक दोनो रूप होते हैं। भक्त का व्यक्तिचित्त भक्ति की साधना और सिद्धावस्था मे लोकचित्त का अभिन्न अग बन जाता है।

भारत मे कीर्तन का इतिहास पुराना है। आचार्य क्षितिमोहन सेन के अनुसार बौद्धो का महायान मत ही कीर्तनप्रथा का मूल उत्स है।[33] विद्यापति के पूर्ववर्ती मैथिली के नाटककार कवि उमापति उपाध्याय के 'पारिजातहरण' को कुछ विद्वानो ने कीर्तनिया नाटक माना है।[34] 'आइने अकबरी' मे भी कीर्तनियो के कीर्तन पदो के गायन की चर्चा है। बगाल मे चैतन्य महाप्रभु के आविर्भाव और चैतन्य मत के विकास के साथ ही कीर्तन की परपरा विशेष समृद्ध हुई। सकीर्तन या नगर कीर्तन की परपरा चैतन्य मत मे विशेष प्रचलित हुई। बगाल के भक्त कवियो के पद साहित्य को कीर्तन-पदावली की सज्ञा दी गई है। वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग की सेवा विधि मे कीर्तन सेवा का विशेष महत्त्व है।

कीर्तन पदो के रूप मे लिखा गया काव्य कीर्तन काव्य कहा जाता है, जिसका प्रधान लक्ष्य भावोद्रेक ही है। कथा की पीठिका भी उसमें वर्तमान रहती है। कीर्तन काव्य की विषयवस्तु भगवान की विविध लीलाए होती है और उसकी रचना-शैली पदप्रधान होती है। इसलिए कीर्तन काव्य मे एक पद या पदसमूह मे एक भाव की व्यजना होती है। सत्येंद्र के अनुसार कीर्तन काव्य के दो अग हैं· एक प्रधान पदसमूह जो विविध रागो मे रचित होते हैं और दूसरा अग है कथा की पीठिका।[35]

कीर्तन काव्य मे पदसमूह मे एक भाव के उत्कर्ष के लिए अनेक पदो की रचना होती है, इसलिए कभी कभी पुनरावृत्ति भी हो जाती है। किंतु पदो में अनुभूति की गहनता के कारण पुनरावृत्ति रसबोध मे बाधक नहीं होती है। सूर-

सागर मे भी एक ही भाव की अभिव्यक्ति के अनेक पद है जिनमे अलग-अलग भावोद्रेक की क्षमता है। एक प्रकृति एव भाव के पदो मे भावानुभूति की एक आतरिक अन्विति के कारण इनकी रसमयता सदैव कायम रहती है। एक भाव की सम्यक व्यजना के लिए रचित अनेक पदो की अखड भावचेतना के कारण उनकी आतरिक सुसगति खडित नही होती है। ऐसे पदो मे अखड भावचेतना की व्यजना मे ही कीर्तनकार कवि की प्रतिभा का प्रकाश दिखाई पडता है। कीर्तन काव्य मे कथा पीठिका के पोषक पद विवरणात्मक और कभी-कभी वर्णनात्मक भी होते है, किंतु कथासूत्र की एकान्विति के लिए उनका महत्त्व है। कीर्तन काव्य की मुख्य विशेषताए निम्नलिखित है

1 भगवान का रूप, गुण और लीला ही इसकी विषयवस्तु है।
2 इसकी रचना शैली पदप्रधान होती है।
3 कीर्तन पदो मे सगीतात्मकता होती है, राग-रागिनी का प्रयोग होता है और उनमे गेयता की प्रधानता होती है।
4 पद रचना का प्रधान लक्ष्य भावोद्रेक होता है।
5 इसमे कथा की पीठिका होती है, इसलिए प्रबधात्मकता भी होती है।

सूरसागर मे कीर्तन काव्य के रूप का भी प्रयोग है। उसमे कृष्ण के रूप, गुण और लीलाओ की अनुभूति की अभिव्यक्ति हुई है। उसमे श्रीकृष्ण के बालरूप, किशोर रूप, प्रेममय रूप और ऐश्वयमय रूप की झाकी है। सूरसागर की रचना-शैली पदप्रधान है। कभी-कभी एक ही भाव के अनेक पद है जिसमे भावोद्रेक तथा भाव-उत्कर्ष की सिद्धि हुई है। सूरसागर के सभी पद राग-रागिनी मे आबद्ध है, उनमे छदो का प्रयोग है तथा गेयता उनका प्रमुख गुण हैं। कथासूत्र की एकता के लिए कथात्मक पदो का प्रयोग है। सूरसागर मे कथात्मक पद प्राय बिलावल राग मे रचित है। डॉ सत्येद्र ने सूरसागर को कीर्तन काव्य मानते हुए लिखा है कि सूरदास ने सूरमागर को कीर्तन काव्य के रूप मे प्रस्तुत किया है जिसमे कथा-काव्य का ढाचा है, किंतु प्रधान तत्त्व है वह भावोद्रेक जो गेय पदो मे प्रस्तुत है और जिसमे पद अथवा छदो और प्रकरणो की सीमा का कोई प्रतिबध नहीं है।[36] सूरसागर मे कीर्तन काव्य का जो रूप है उसमे काव्य और सगीत का पूर्ण सामजस्य है।

मध्यकाल मे दशावतार चरित-वर्णन की परपरा विद्यमान थी। क्षेमेद्र के दशावतार चरित-वर्णन मे इसका सुदर रूप व्यक्त है। जयदेव के गीतगोविंद मे भी राग-ताल निबद्ध अष्टपदी मे दशावतारो का गुणगान है। सूरदास ने सूर-सागर मे कीर्तन काव्य के रूप के अतर्गत ही प्राय बिलावलराग मे अवतारो का गुणगान किया है। सूरसागर मे मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिह, वामन, परशुराम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि अवतारो का उल्लेख हुआ है

मच्छ, कच्छ, बाराह, बहुरि नरसिंह रूप धरि ।
वामन, बहुरौ परसुराम, पुनि राम रूप करि ।।
वासुदेव सोई, भयौ, बुद्ध भयौ पुनि सोइ ।
सोई कल्की होई है, और न द्वितिया कोइ ।।[37]

सूरसागर की दशावतार-चर्चा केवल परपरा का निर्वाह है, इसमे सूर के कवित्व का अभाव ही है। कृष्ण सूर के आराध्य देव हैं और उनकी लीलाओ के कीर्तन से ही सूरसागर भरा हुआ है। सूरदास ने कृष्ण के बाद रामचरित को ही विशेष महत्त्व दिया है और पद शैली मे रामचरित की मार्मिक व्यजना की है। सूर के रामचरित मे अनेक पद भावोद्रेक और अभिव्यजना-कौशल की दृष्टि से अत्यत सुदर हैं। सूरदास के रामचरित मे वाल्मीकि रामायण की कथा का अनुसरण है। पदप्रधान गीतकाव्य की शिल्पविधि का प्रयोग करने के कारण सूरदास के रामचरित मे भावात्मक स्थल ही विशेष मार्मिक है और उन्ही मे कवि की वृत्ति रमी है। सूरदास ने राम के जन्म और बाल्यकाल को विशेष कुशलतापूर्वक चित्रित किया है। राम की क्रीडा और रूप का बिबात्मक चित्रण एक पद मे है

करतल-सोभित बान धनुहिया ।
खेलत फिरत कनकमय आगन, पहिरे लाल पहनिया ।।
दसरथ कौसिल्या के आगै, लसत सुमन की छहिया ।।
मानौ चारि हस सरवस तैं बैठे आइ सदेहिया ।
रघुकुल-कुमुद चद चितामनि, प्रगटे भूतल महिया ।
आए ओप देन रघुकुल कौ, आनद-निधि सब कहिया ।
यह सुख तीन लोक मे नाही, जो पाए प्रभु पहिया ।।
सूरदास हरि बोलि भक्त कौ, निरवाहत गहि बहिया ।। (463)

राम की बाललीला का सूरदास ने कृष्ण की बाललीला से भिन्न रूप मे वर्णन किया है। राम के बाल रूप के साथ ही उनका शक्तिस्वरूप भी प्रकट है और राजसी रूप भी। सूरदास ने सक्षेप मे रामकथा का वर्णन किया है, किंतु शृगार और करुण रस के भावात्मक स्थलो पर सूर की प्रतिभा विशेष मुखर हुई है।

सूर ने सीताहरण के पश्चात विरही राम के वेदना-विकल हृदय का प्रभावशाली चित्रण किया है। सीता के वियोग मे सतप्त राम की हार्दिक विकलता मे उनका मानवीय रूप दिखाई पडता है। सूरसागर के रामचरित मे करुण रस के दो स्थल विशेष रमणीय बन पडे है। एक स्थल तो वह है जहा दशरथ की मृत्यु के बाद राम और भरत के मिलन के प्रसग मे शोकाकुल राम की अपार वेदना की मार्मिक व्यजना हुई है (पद स 496)। दूसरे, लका मे लक्ष्मण को सघातिनी शक्ति लगने के बाद राम की हार्दिक विकलता और मानसिक द्वद्व का चित्रण सूरदास ने अत्यत विदग्धता से किया है

निरखि मुख राघव धरत न धीर।
भए अति अरुन, बिसाल कमल-दल-लोचन मोचन नीर।
बारह् बरष नीद है साधी तातैं बिकल सरीर।
बोलत नही मौन कहा साध्यौ, विपति बटावन बीर।
दसरथ मरन, हरन सीता कौ, रन बैरिनि की भीर।
दूजौ सूर सुमित्रा सुत बिनु कौन धरावैं धीर। (589)

स्तुति काव्य

स्तुति काव्य कीर्तन की तरह ही धार्मिक परपरा का काव्यरूप है। इसमे धर्म-भावना प्रबल होती है और काव्यचेतना गौण। काव्य के ढाचे मे धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति इसकी प्रमुख विशेषता है। स्तुति काव्य की परपरा का उत्स तो वैदिक मत्रो मे देवताओ के स्तवन से ही माना जा सकता है। स्तुति काव्य-परपरा मे बौधस्त्रोत, शाक्तस्त्रोत आदि हैं तथा महाभारत और विभिन्न पुराणो मे ईश्वर की अनेकश स्तुतिया विद्यमान हैं। सस्कृत मे बाण का चडीशतक, मयूर का सूर्य-शतक, और पुष्पदत का शिवमहिम स्त्रोत स्तुति काव्य की परपरा मे विशेष उल्लेखनीय कृतिया हैं। शकराचार्य की सौदर्यलहरी एव पडितराज जगन्नाथ की गगालहरी मे स्तुति काव्य का उत्कृष्ट रूप देखा जा सकता है, जिनमे स्तवन और काव्यात्मकता दोनो का सामजस्य है।

सूरदास ने सूरसागर मे स्तुति काव्य की परपरा का भी उपयोग किया है। विनय के पदो मे श्रीकृष्ण का स्तवन किया है। विनय के पदो मे परमेश्वर के अनेक रूपो और अवतारो की स्तुति है तथा उसमे राम, कृष्ण, वासुदेव, विष्णु, शिव आदि मे अभेद हैं। किंतु सूर की मनोवृत्ति अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की स्तुति मे ही विशेष रमी है। सूरदास ने श्रीकृष्ण के ऐश्वर्यमय और प्रेममय दोनो स्वरूपो की विविध लीलाओ मे वदना की है। द्रौपदी द्वारा की गई श्रीकृष्ण-स्तुति मे स्तुति काव्य का सौदर्य निखरा है (पद स 247-354)। इसके अतिरिक्त सूरदास ने नवम् स्कध मे गगा की स्तुति की है। गगा की स्तुति पडितराज जगन्नाथ की गगालहरी मे है और विद्यापति पदावली मे भी। सूर-सागर मे गगा-स्तुति का एक पद अत्यत काव्यात्मक है (पद स 454)।

सूरदास ने विभिन्न देवताओ और ऋषियो द्वारा भिन्न-भिन्न स्थलो पर श्रीकृष्ण की स्तुति कराई है। इनमे गोवर्धनलीला मे देवताओ द्वारा कृष्ण की स्तुति (पद स 1558), कसवध के बाद देवस्तुति (पद स 3701), ऋषियो के द्वारा स्तुति (पद स 4917) और वेदस्तुति विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। नारद द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति मे श्रीकृष्ण का अवतारी रूप और उनकी शक्ति, शील तथा सौंदर्य की मार्मिक व्यजना है •

प्रभु तुव मर्म समुझि नहि परै ।
जग सिरजत पालत सहारत, पुनि क्यो बहुरि करै ।
ज्यो पानी मे होत बुदबुदा, पुनि ता माहि समाइ ।
त्योही सब जग प्रगटत तुम तै पुनि तुम माहि बिलाइ ।
माया जलधि अगाध महाप्रभु, तरि न सकै तिहि कोइ ।
नाम जहाज चढ़ै जो कोऊ, तुव पद पहुचै सोई ।

•• •

थावर जगम सब तुव सुमिरत, सनक सनदन ताही ।
ब्रह्मा सिव अस्तुति न सकै करि, मैं बपुरा केहि माही ।
जोग ध्यान करि देखत जोगी, भक्त सदा मोहि प्यारो । (4921)

सूरदास ने अपने युग मे लोकप्रिय अनेक काव्यरूपो का प्रयोग और विकास किया है । उन्होने साहित्यिक परपरा, धार्मिक परपरा और लोकजीवन मे प्रचलित विभिन्न काव्यरूपो का अपने रचनात्मक प्रयोजन के अनुसार उपयोग करते हुए उनका विकास किया है । यद्यपि सूरदास ने अनेक काव्यरूपो का प्रयोग किया है, लेकिन उनकी सर्जनात्मक कल्पना मुख्यत प्रगीतात्मक ही है । उनकी काव्यानुभूति का स्वरूप प्रगीतात्मक है, इसलिए प्रगीत रचना मे ही उनकी कवि-प्रतिभा और कला-कौशल का उत्कर्ष दिखाई देता है ।

अभिव्यक्ति का सौंदर्य

भक्ति आदोलन के नए ऐतिहासिक सदर्भ और नई सास्कृतिक चेतना से उस काल की कविता का स्वरूप निर्मित हुआ । कविता की नई रचनादृष्टि और नई अतर्वस्तु के साथ नई अभिव्यक्ति-पद्धति का भी विकास हुआ । भक्तिकालीन काव्य की नई अभिव्यक्ति-पद्धति के अतर्गत नए काव्यरूप, नए छद, बिब, प्रतीक, नई सरचना, शैली, शिल्पविधि और नई काव्यभाषा का जो विकास हुआ उसके विवेचन के बाद ही भक्तिकाव्य के कलात्मक मूल्य और सौंदर्यबोधी महत्त्व का उद्घाटन हो सकता है । यहा इन सब बातों की विस्तृत चर्चा का अवसर नही है । हमारा उद्देश्य सूरदास की कविता की अभिव्यक्ति पद्धति की कुछ मुख्य विशेषताओ की चर्चा करना है । सूरसागर के काव्यरूप की पहले ही चर्चा हो चुकी है । अब हम सूरदास की कविता की अभिव्यक्ति पद्धति के स्वरूप और सौंदर्य सबधी विशेषताओ के विवेचन का प्रयास करेंगे ।

सूरदास ने जिस कथा को अपनी कविता का आधार बनाया है, वह ऐतिहासिक नही है, वह पूरी तरह काल्पनिक भी नही है । वह कथा मुख्यत मिथकीय पौराणिक और लोकमानस मे बसी हुई कथा है । लोकमानस मे जीवित और विकसित होने के कारण वह कथा ऐतिहासिक-सामाजिक सदर्भों और लोक-

जीवन के परिवर्तनो से बराबर प्रभावित होती रही है। इस मिथकीय कथा मे कल्पना के सहारे प्रकृति, मानवजीवन और समाजसबधी भावो तथा विचारो की अभिव्यक्ति होती रही है। कृष्णकथा का विकास इतिहास से अनुशासित हुआ है। इस कथा के विकास मे मिथक और इतिहास का द्वद्वात्मक सबध देखा जा सकता है। सूरदास ने अपन समय के जनजीवन मे प्रचलित कृष्णकथा को स्वीकार किया है, लेकिन उनकी दृष्टि कथा से अधिक उसके माध्यम से व्यक्त होने वाले मानवीय सबधो, भावो और विचारो पर है। वे घटनाओ के विस्तृत ब्यौरो, कथा के प्रवाह और उसकी सरचना पर उतना ध्यान नही देते जितना मानवीय सबधो, भावो, सवेदनाओ और जीवन की वास्तविकताओ के चित्रण पर।

राधा-कृष्ण की कथा लोकमानस मे बसी हुई कथा है। इसलिए सूरदास कथा के निर्माण के बदले लोकप्रचलित कथा का रचनात्मक उपयोग करते हुए उसे मानवीय अनुभूतियो की अभिव्यक्ति का साधन बनाते हैं। यही कारण है कि वे राधा-कृष्ण की कथा के भावाभिव्यजक प्रसगो का बार-बार उपयोग करते है और घटनाप्रधान प्रसगो की ओर केवल सकेत करते है। सूर के पदो के पाठक अपनी कल्पना से पदो के कथा-सापेक्ष सदर्भ का निर्माण कर लेते है और इस प्रक्रिया मे पदो मे व्यक्त अनुभूतियो के बोध का वस्तुनिष्ठ कथात्मक आधार भी निर्मित हो जाता है। सूरदास मानवीय सबधो और मानवजीवन के अनुभवो की अभिव्यक्ति के दौरान ही मिथकीय कथा को इतिहास से जोडते है, क्योकि मानव जीवन के अनुभव और मानवीय सबध समाज के इतिहास से प्रभावित होते हैं। मानवीय सबधो और जीवन के अनुभवो की अभिव्यक्ति के साथ ही सूरदास अपने युग के जीवन-यथार्थ की अभिव्यजना भी करते हैं। वे अपने युग के जीवन-यथार्थ, मानवीय सबध, भाव और विचार आदि की अभिव्यक्ति यथार्थवादी ढग से भी करते है और प्रतीकात्मक ढग से भी। मिथकीय चेतना और ऐतिहासिक चेतना की एकता से भक्तिकालीन काव्यचेतना का निर्माण हुआ है। सूरदास की कविता मे यही काव्यचेतना प्रकट हुई है। उनके काव्य मे कृष्ण-कथा के माध्यम से जातीय चेतना की परपरा और अपने युग के जीवनानुभवो की रचनात्मक एकता दिखाई देती है।

भक्तिकालीन कविता की अभिव्यक्ति-पद्धति की एक विशेषता प्रगीत क विकास मे देखी जा सकती है। यह प्रगीतात्मकता भारतीय कविता के इतिहास मे भक्ति आदोलन और उसके काव्य की एक विशिष्ट देन है। इसका मूल स्रोत सस्कृत काव्य नही है। यह प्रगीतात्मकता लोकजीवन मे जीवित लोकगीतो की मौखिक परपरा का विकास है। भक्ति आदोलन और उसके साहित्य मे सामत विरोधी जनसस्कृति के व्यापक उत्थान की अभिव्यक्ति है। भक्तिकाल मे प्रगीत

का विकास सामतवाद-विरोधी सास्कृतिक चेतना की उपज है। भक्तिकाल की कविता मे प्रगीत के विकास से यह सिद्ध होता है कि साहित्यिक विधाओ और साहित्य के रूपो के विकास मे सामाजिक आधार और सास्कृतिक चेतना की महत्त्व-पूर्ण भूमिका होती है। यह प्रगीतात्मकता सस्कृत काव्य और काव्यशास्त्र की रूढियो से मुक्त और जनसस्कृति की सृजनशीलता की देन है। सूरदास के काव्य मे गीतकाव्य की मौखिक और लिखित दोनो परपराओ का विकसित रूप दिखाई पडता है।

सूरदास भक्तिकाल के सबसे बडे प्रगीतकार हैं। वे प्रेम के विविध रूपो और पक्षो के गायक कवि हैं। उनकी कविता की मुख्य अतर्वस्तु प्रेम ही है। इस प्रेम की अनुभूति का स्वरूप प्रगीतात्मक है। सूरसागर मे वात्सल्य, सख्य और दापत्य प्रेम की अनुभूति का प्रगीतात्मक स्वरूप बार-बार कथा की सरचना को तोड देता है। सूर की कविता का प्रेम सामती व्यवस्था के बधनो, रूढियो और सामती नैतिकता के आग्रहो से मुक्त है। इस प्रेम का स्वरूप सामत विरोधी है और इसकी अभिव्यक्ति करने वाले प्रगीत का स्वरूप भी सामतवाद विरोधी है। यह प्रेम लोकजीवन का सहज स्वच्छद प्रेम है और इसकी अभिव्यक्ति करने वाली प्रगीतात्मकता लोकगीतों का ही विकसित रूप है।

यूरोपीय साहित्य मे सामतवाद विरोधी स्वच्छदतावाद के साथ प्रगीत का विकास हुआ। प्रगीतात्मकता स्वच्छदतावादी रचनादृष्टि की बुनियादी विशे-षता है। प्रगीतात्मकता सपूर्ण भक्तिकाव्य मे है, लेकिन सूर-काव्य मे इसका चरम विकास हुआ है। प्रगीत की एक अनिवार्य विशेषता यह है कि उसमे कवि के व्यक्तित्व की गहरी छाप होती है, उसमे कवि की आत्माभिव्यक्ति प्रमुख होती है। प्रगीत मे कवि की वैयक्तिक्ता की व्यजना सामतवाद विरोधी प्रवृत्ति है। भक्तिकाल के सभी प्रमुख कवियो के गीतो मे उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति हुई है, लेकिन सूरदास के गीतो मे कवि की वैयक्तिकता और तन्यमता का चरम उत्कर्ष व्यजित है। रूप के स्तर पर सूर के प्रगीतकाव्य मे उस युग की उत्थानशील सास्कृतिक चेतना अभिव्यक्त हुई। यह सूर के काव्य का एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पक्ष है। जो लोग मानवीय भावो की कल्पित शाश्वतता की अभिव्यक्ति को कलाकृतियो की शाश्वतता का कारण मानते हैं और अतर्वस्तु तथा रूप की ऐतिहासिकता को कलाकृतियो की सीमा समझते हैं, उनको यह जानकार आश्चर्य होगा कि सूरदास की कविता के निर्माण मे उस युग के समाज के इतिहास का महत्त्वपूर्ण योगदान है। कुछ लोग महाकाव्य मे समाज और इतिहास की उपस्थिति स्वीकार करते हैं, लेकिन प्रगीत को इतिहास के बधनो से मुक्त मानते हैं। ऐसे लोगो की सेवा मे गेटे का यह कथन निवेदित है कि श्रेष्ठ प्रगीत निश्चित रूप से ऐतिहासिक होता है।[37] प्राय सूरदास की कविता की

अतर्वस्तु के सामतवाद विरोधी मानवतावादी स्वरूप की चर्चा होती है, लेकिन उनके गीतो की सरचना के ऐतिहासिक चरित्र और मूल्य की बात नही होती। सूरदास का सामत विरोधी और लोकोन्मुख रचनात्मक दृष्टिकोण उनकी कविता मे व्यक्त अनुभूति, विचार, नैतिक चेतना मे ही नही है, वह कविता की प्रगीतात्मकता और काव्यभाषा मे भी है।

सूरदास के प्रगीत के स्वरूप के निर्माण मे उनकी सगीत सवेदना का विशेष योगदान है। उनके गीतो की सरचना सगीत से अनुशासित है। इस सगीत सवेदना के मूल मे शास्त्रीय सगीत का अनुशासन और लोकगीत की सहजता का योग है। सूरदास ने जातीय भाषा और जातीय जीवन के छदो को अपनी सगीत सवेदना से नए रूप मे ढालकर गीतो की रचना की है। सगीत सवेदना से काव्यानुभूति की सरचना प्रभावित हुई है और अभिव्यक्ति का स्वरूप भी। सूर-साहित्य की असीम लोकप्रियता का एक कारण उनके गीतो की सगीतमयता भी है। मानवतावादी दृष्टि, सगीतमयता और लोकभाषा की सहजता के कारण सूर का काव्य धार्मिक काव्य होते हुए भी धर्म, सप्रदाय, जाति, देश और काल की सकुचित सीमाओ को तोडता हुआ मनुष्य मे निहित असीम मनुष्यता को जगाने और विकसित करने मे आज भी सक्षम है। इसी क्षमता के कारण सूर का काव्य कालजयी है। यह कालजयीपन भक्तिकाल के ऐतिहासिक सदर्भ, सामाजिक आधार और सास्कृतिक चेतना की उपज है।

भक्ति आदोलन के साथ जनपदीय भाषाओ के विकास और जातीय भाषाओ या आधुनिक भारतीय भाषाओ के निर्माण की प्रक्रिया तेज हुई। दसवी-ग्यारहवीं सदी की जनपदीय भाषाओ मे साहित्य रचना के आरभ के प्रमाण मिलते हैं। लेकिन भक्ति आदोलन के पहले जनपदीय भाषाओ मे साहित्य-रचना की परपरा का कोई विशेष विकास हुआ हो, इसके बहुत प्रमाण नही मिलते। सूरदास के पहले ब्रजभाषा मे लिखित काव्य की कोई समृद्ध परपरा नहीं मिलती। सामती समाज-व्यवस्था मे समाज का अभिजनवर्ग सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के साहित्य की रचना और आस्वादन मे भी रुचि लेता था और सामान्य जनता के जीवन-व्यवहार मे प्रचलित जनपदीय भाषाए उपेक्षित थी। भक्ति आदोलन के काल मे जनसस्कृति के उत्थान के साथ जनपदीय भाषाओ का भी उत्थान हुआ और उनमे साहित्य रचना की शुरुआत हुई। सूरदास ब्रजभाषा मे साहित्य रचना की परपरा का निर्माण करने वाले महत्त्वपूर्ण कवि हैं। यही कारण है कि कुछ विद्वान सूरदास को ब्रजभाषा का वाल्मीकि कहते हैं। सूरदास ब्रजभाषा के 'आदि कवि' भले ही न हो, लेकिन वे ब्रजभाषा के पहले महान कवि अवश्य हैं। सूरदास की कविता मे ब्रजभाषा की अभिव्यक्ति-शक्ति और सौंदर्य का जो रूप है, वह आश्चर्यजनक है। सूरदास के पहले ब्रजभाषा मे लिखित काव्य की कोई समृद्ध

परपरा नही थी, लेकिन लोकगीतो की मौखिक परपरा सूरदास को मिली थी। इसी मौखिक परपरा का उन्नत तथा विकसित रूप और रचनात्मक प्रयोग सूर की कविता मे मिलता है। जन-सस्कृति के कवि के लिए यह स्वाभाविक ही है कि वह जनसस्कृति की अभिव्यक्ति करने वाली जनभाषा की सृजनशीलता का विकास करे। यह काम सूरदास ने इस कौशल और सफलता के साथ किया कि ब्रजभाषा सूर के बाद लगभग चार सौ वर्षों तक काव्यभाषा बनी रही।

भाषा सामाजिक और सास्कृतिक चेतना के विकास का प्रमुख लक्षण है। भाषा मे सास्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति ही नही होती, उससे सस्कृति का निर्माण भी होता है। भाषा चिंतन का माध्यम है और चिंतन की अभिव्यक्ति का साधन भी। साहित्य मे भाषा मनुष्य की चेतना को समाज, सस्कृति और इतिहास के अनुभवो से जोडती है। साहित्य मे रचना की भाषा का स्वरूप रचनाकार की सास्कृतिक चेतना से निर्मित होता है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ठीक ही लिखा है कि 'काव्यभाषा के क्षेत्र मे सास्कृतिक चेतना का महत्त्व अप्रतिभ है। काव्यभाषा का अपने प्रयोगकर्ताओ की सस्कृति से घनिष्ठ सबध रहता है। वस्तुत उसका स्वरूप एक बडी सीमा तक सास्कृतिक आधार पर गठित होता है।'[38] भक्ति आदोलन और उसके काव्य मे जन-सस्कृति के विकास का प्रमाण काव्यभाषा के रूप मे लोकभाषाओ का विकास भी है। इस काल की कविता मे भारतीय कविता के इतिहास मे सभवत पहली बार जीवन-व्यवहार की भाषा साहित्य की भाषा बनी। प्राय रूपवादी आलोचक जीवन-व्यवहार की भाषा से साहित्य की भाषा की भिन्नता मे ही साहित्य की साहित्यिकता देखते हैं। ऐसे दृष्टिकोण वाले आलोचक कविता की भाषा की 'कृत्रिमता' और जीवन-व्यवहार की भाषा से भिन्न विचलन के कौशल को काव्यभाषा का प्रमुख लक्षण मानते हैं। भक्तिकाल के कवियो की काव्यभाषा से इस धारणा का खडन होता है। भक्तिकाल की कविता मे जीवन-व्यवहार की भाषा और काव्यभाषा की एकता है। लेकिन इसका यह अर्थ नही है कि दोनो मे कोई फर्क नही है। कविता मे जीवन-व्यवहार की भाषा का विशिष्ट प्रयोग होता है। कविता मे सामान्य भाषा के सर्जनात्मक रूप और सौदर्यपरक प्रयोजन का विकास होता है। भक्तिकाल की कविता की काव्यभाषा मे ये विशेषताए हैं। लेकिन भक्तिकाव्य की भाषा न तो सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश की तरह केवल 'कवि समय सिद्ध भाषा' है, न रीतिकाल की काव्यभाषा की तरह कृत्रिम भाषा है और न छायावादी काव्यभाषा की तरह अत्यत साहित्यिक भाषा। रामस्वरूप चतुर्वेदी की यह मान्यता विचित्र है कि 'कबीर, जायसी, सूर, तुलसी सभी ने 'कृत्रिम बोली' का प्रयोग अपने काव्य मे किया है।'[39] भक्तिकाल की काव्यभाषा मे जनभाषा का ही सर्जनात्मक रूप है,

वह गढ़ी हुई कृत्रिम साहित्यिक भाषा नही है।

सूरदास की कविता मे ब्रजभाषा का काव्यात्मक रूप जीवन-व्यवहार की भाषा से अलगाव सूचित नहीं करता। वह काव्यभाषा सामाजिक जीवन के यथार्थ के विभिन्न सदर्भों, सकेतो और सूचनाओ से भरी हुई है। वह साहित्य, धर्म और दर्शन की परपराओ के सदर्भों से भी अनेक रूपो मे जुडी हुई है। इसमे जातीय जीवन के इतिहास की स्मृतिया भी सुरक्षित हैं। सूर की काव्यभाषा की सृजनशीलता का मुख्य स्रोत उस समय के समाज और जनजीवन का यथाथ ही है, क्योकि कविता की भाषा जीवन व्यवहार की भाषा है। सूर की काव्यभाषा का विश्लेषण करके उस युग के समाज, इतिहास और सस्कृति को जाना जा सकता है। विनय के पदो मे दार्शनिक भाषा मे समाज का चित्रण है और भ्रमर-गीत मे दैनिक जीवन के व्यवहार तथा अनुभव की वास्तविकताओ से निर्मित काव्यभाषा है। सूर की कविता मे काव्यभाषा और जीवन-व्यवहार की भाषा मे एकता है, इसलिए वह काव्यभाषा अपने युग के सामाजिक जीवन के यथार्थ को अनुभव के स्तर पर ही व्यक्त नही करती, सरचना के स्तर पर भी अभिव्यक्त करती है। यहा कविता के शब्द और सामाजिक जीवन के अनुभव के बीच कोई दूरी नही है। यही कारण है कि सूर की कविता का सत्य उस युग का सामाजिक सत्य है, वह ऐतिहासिक सत्य है।

सूरदास की काव्यभाषा रूपकप्रधान भाषा है। यहा रूपक केवल अलकार मात्र नही है। भाषा का रूपात्मक चरित्र एक विशेष प्रकार की चिंतन-पद्धति का लक्षण है। चूकि भाषा मे ही चिंतन सभव है इसलिए भाषा का स्वरूप चिंतन के स्वरूप को जाहिर करता है। सूरदास के रूपकप्रधान या लाक्षणिक चिंतन के अनुरूप ही उनकी काव्यभाषा की सरचना निर्मित हुई है। इसी रूपकप्रधान भाषा मे वे जीवन के यथार्थ, अनुभूति, विचार आदि की पुनर्रचना और अभिव्यक्ति करते है। वे राधा और कृष्ण के चरित्र, व्यवहार, सौदर्य, भाव आदि की व्यजना भी लाक्षणिक भाषिक सरचना मे ही करते हैं। भ्रमरगीत मे भावो की गहराई और वैचारिक द्वद्वो की जटिलता की अभिव्यक्ति रूपकप्रधान भाषा मे हुई है। सूरदास रूपकप्रधान चिंतन के सहारे ही अलकारो का प्रयोग करते है और बिंब, प्रतीक, अन्योक्ति आदि की रचना भी करते हैं। इस पद्धति से काव्यभाषा मे वाग्विदग्धता, उपचार वक्रता और अभिव्यक्ति के सौंदर्य का विकास हुआ है।

सूरदास के पदो की रूपकप्रधान सरचना के दो स्तर हैं। प्राय पदो की बाहरी सरचना रूपकात्मक है, लेकिन भीतर अनुभूतियो, विचारो, वस्तुओ और स्थितियो की अभिव्यजना यथार्थवादी है। सूरदास के रूपक-निर्माण का आधार बहुत व्यापक है। प्रकृति, मानवजीवन, समाज, मिथक, इतिहास और सस्कृति आदि के क्षेत्र उनकी रूपक रचना के मुख्य स्रोत हैं। सूरदास रूपकप्रधान चिंतन

के सहारे अपनी कविता मे परस्पर विरोधी और असबद्ध प्रतीत होने वाले भावो, विचारो और स्थितियो को परस्पर सबद्ध रूप मे व्यक्त कर पाते हैं। राबर्ट बाइमान ने ठीक ही लिखा है कि 'रूपक मे भौतिक और आध्यात्मिक, मूर्त और अमूर्त, सामान्य और विशिष्ट, सामाजिक और वैयक्तिक के बीच सबध स्थापित करने की क्षमता होती है।'[40] रूपकप्रधान चिंतन और काव्यभाषा के इस सामजस्य का प्रमाण सूर के काव्य से बेहतर और कहा मिल सकता है।

सूर की काव्यभाषा केवल इद्रियबोध और भावो की व्यजना मे ही सक्षम भाषा नही है। वह केवल बिब-निर्भर काव्यभाषा भी नही है। यह काव्यभाषा गहरे स्तर पर विचारप्रधान है। प्रतीको के प्रयोग मे विचारशीलता का एक स्तर दिखाई देता है और अलकारो के प्रयोग तथा वाग्विदग्धता मे दूसरा स्तर। इस काव्यभाषा मे अर्थ की गहराई, अनेकार्थता, सदर्भ-सपन्नता, सरचनात्मक सुसगति और रूपात्मक सयम आदि के मूल मे बौद्धिकता ही है। अनेक भावो की एक साथ व्यजना करने की क्षमता के पीछे गहरी विचारशीलता है। सूरदास की काव्यभाषा मे अपने युग के बौद्धिक द्वद्वो (ज्ञान और भक्ति तथा सगुण और निर्गुण के द्वद्वो) की अभिव्यक्ति है, उसमे सामाजिक जीवन के विविध रूपो और स्तरो का बोध है, युग की कलाचेतना की अभिज्ञता है, युग की नैतिक चेतना के द्वद्व की पहचान है और एक विशेष प्रकार के दार्शनिक चिंतन की अभिव्यक्ति है। इन सबके बावजूद, क्या यह कहना सही है कि सूर की कविता मे केवल इद्रियबोध और भावो की व्यजना है और यही उसके स्थायित्व का कारण है? सूर की कविता का सौदर्यबोधात्मक महत्त्व उसके ज्ञानात्मक पक्ष, नैतिक चेतना और अभिव्यक्ति के सौंदर्य से अलग नही है।

भारतीय कविता के इतिहास मे रचना-पद्धति की दृष्टि से तीन तरह के कवि है स्रष्टा, द्रष्टा और कलाकार। वैसे तो प्रत्येक सार्थक कवि स्रष्टा होता है लेकिन कुछ कवियो की सर्जनात्मक प्रतिभा मनुष्य के जीवन-जगत के समानातर कल्पना के नए ससार की सृष्टि करने मे विशेष सक्षम होती है। इस कल्पना के ससार के कर्मशील मानवचरित्रो मे मानव जीवन की वास्तविकता और आकाक्षा की अभिव्यक्ति होती है। वास्तविकता और सभावना के द्वद्व से निर्मित कथा और चरित्र परवर्ती काल मे मिथक और इतिहास के रूप मे जातीय स्मृति के अग बन जाते हैं। भारतीय कविता मे वाल्मीकि और व्यास ऐसे ही कवि है। ऐसे कवियो को ही काव्यससार का प्रजापति कहा गया है। कुछ दूसरे मनीषी कवि मानवचरित्रो के कर्म, ज्ञान और भावना के नए ससार की सृष्टि के बदले अपने युग के यथार्थ और चेतना की पहचान करते हुए पीडित मानवता की मुक्ति की वैचारिक प्रेरणा देते हैं। ऐसे कवि पीडित मानवता की आवाज बनकर दमनकारी सत्ता, समाज-व्यवस्था और विचारधारा के विरुद्ध विद्रोह की चेतना जगाते

हैं। ऐसे कवि कविता को सामाजिक परिवर्तन और वैचारिक क्राति का साधन बनाते है। ये कवि अपने युग की चेतना के विकास के मार्गदर्शक, युगद्रष्टा और भावी युग के स्रष्टा होते है। कबीर ऐसे ही युगद्रष्टा कवि है।

इन दोनो से भिन्न कुछ ऐसे भी कवि होते हैं जो वास्तविक ससार के समानातर कल्पना का नया ससार नही रचते और न मनीषी कवियो की तरह युग-द्रष्टा होते हैं, लेकिन जो परपरा से प्राप्त कथा तथा मानवचरित्रो की अपने युग की सास्कृतिक चेतना के सदर्भ मे पुनर्रचना करते है। उनकी इस पुनरचना मे ही उनकी कला प्रकट होती है। यह पुनर्रचना पुरानी रचना को दोहराना या उसका अनुकरण नही है, यह पुनर्रचना नई रचना है। परपरा की पुनर्रचना करने वाली नई सृष्टि दृष्टि मे कलाकार कवियो की कला और रचना-कौशल की अभिव्यक्ति होती है। ऐसे कवियो की कला परपरा के विकास, साहित्यिक विधा और रूपसबधी आविष्कार और नई शिल्प-विधि के विकास मे दिखाई देती है। इसका यह तात्पर्य नही है कि ऐसे कवियो की कला केवल रूप पर निर्भर होती है। रूपसबधी प्रत्येक आविष्कार के मूल मे नई अतर्वस्तु की कलात्मक अभि-व्यक्ति की आकाक्षा होती है। कालिदास और सूरदास ऐसे ही कलाकार कवि है। स्रष्टा, द्रष्टा और कलाकार कवियो की पारस्परिक भिन्नता की बात करने का उद्देश्य इनकी रचनादृष्टि सबधी विशिष्टताओ को समझने का आग्रह करना है, इनकी रचना दृष्टियो मे आत्यतिक पृथकता स्थापित करने का प्रयत्न नही है।

ये तीनो रचनादृष्टिया कई बार एक ही कवि मे मिल सकती हैं। यह भी कहा जा सकता है कि ये तीनो रचनादृष्टिया सार्थक कवियो की रचनाशीलता मे कमोवेश मौजूद रहती हैं। फिर भी, रचनादृष्टियो की प्रधानता अप्रधानता के आधार पर स्रष्टा, द्रष्टा और कलाकार कवियो की रचनाशीलता मे निहित अतर की समझ से बेहतर काव्य-विवेक की सभावना बनती है। भारतीय कविता के इतिहास के व्यापक परिप्रेक्ष्य को ध्यान मे रखकर कहा जा सकता है कि सूर-दास कालिदास की तरह मानवीय प्रेम और सौदर्य के कलाकार कवि हैं। उनकी रचना के अधिकाश उपादान परपरा और लोकजीवन के हैं, लेकिन कृति की रचनादृष्टि सूर की अपनी है। रचनादृष्टि का यही निजीपन सूर की काव्यकला की महानता का मुख्य कारण है। सूरदास की रचनादृष्टि की प्रमुख विशेषता यह है कि उसमे अनुभूति की तन्मयता, निश्छलता, सच्चाई और पवित्रता से लोक-कला के सरल-सहज सौदर्य की स्वाभाविक एकता है। यही सूर की कविता की सार्वभौम लोकप्रियता का बुनियादी कारण है।

संदर्भ

1 जान हेवार्ड (स), 'टी एस इलियट सलेक्टेड प्रोज', (लदन, 1965)
2 टी एस इलियट (स) 'एजरा पाउड सेलेक्टेड पोयम्स', लदन 1948, पृ 9
3 टी एस इलियट (स), 'लिटरेरी एसेज आफ एजरा पाउड', पृ 23
4 राधाकमल मुखर्जी, 'दि फ्लावरिंग आफ इडियन आर्ट', पृ 254
5 हरबर्ट रीड, 'क्लेक्टेड एसेस इन लिटरेरी क्रिटिसिज्म', लदन, 1950, पृ 19
6 रवीद्रनाथ ठाकुर, 'साहित्य', बबई, 1949, पृ 109
7 ब्रजेश्वर वर्मा, 'सूरदास', पृ 334
8 वही, पृ 71-72
9 चद्रबली पाडेय, 'हिन्दी कवि चर्चा', पृ 210
10 ब्रजेश्वर वर्मा, पूर्वोद्धृत, पृ 342
11 हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'मध्यकालीन धर्मसाधना', पृ 150
12 सूजन के लैगर, 'फीलिंग ऐंड फार्म', लदन, 1953, पृ 27
13 जान हेवार्ड (स), पूर्वोद्धृत, पृ 63
14 शिवपूजन सहाय (स), 'हिंदी साहित्य और विचार', खड एक, पटना, 1960, पृ 3-18
15 वही, पृ 32
16 वही, पृ 34
17 पोद्दार अभिनदन ग्रथ, पृ 86
18 शिवप्रसाद सिंह, 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य', वाराणसी, 1958, पृ 20
19 वही, पृ 149
20 के वासुदेव शास्त्री, 'सगीतशास्त्र', सूचना विभाग, उ प्र , 1985, पृ 1
21 पोद्दार अभिनदन ग्रथ, पृ 187
22 रामचद्र शुक्ल, 'सूरदास', पृ 114
23. डब्ल्यू पी केर, 'फार्म ऐंड स्टाइल इन पोयट्री', लदन, 1928, पृ 159
24 जेम्स ज्वायस, 'ए पोट्रेट आफ दि आर्टिस्ट एज ए यग मैन', 'लदन, 1964, पृ 215
25 पर्सी ब्राउन, 'इडियन पेंटिंग', 1947, पृ 37
26 रागिनी देवी, 'डासेज आफ इडिया', कलकत्ता, 1953, पृ 56
27 शिवप्रसाद सिंह, पूर्वोद्धृत, पृ 229

28 हजारीप्रसाद द्विवेदी, पूर्वोद्धृत, पृ 145
29 नददुलारे वाजपेयी, 'महाकवि सूरदास', पृ 121
30 विजयेंद्र स्नातक, 'सूरदास' (आलोचना, वर्ष सात, अक एक जनवरी, 1959), पृ 64
31 रामचद्र शुक्ल, पूर्वोद्धृत, पृ 74
32 वही, पृ 74
33 हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'सूर साहित्य', पृ 86
34 शिवपूजन सहाय (स), हिंदी साहित्य और बिहार', पृ 34
35 सत्येंद्र, 'सूर की झाकी', आगरा, 1956, पृ 145
36 वही, पृ 148
37 गाल्वानो डेल्ला वोल्पे, 'क्रिटीक आफ टेस्ट', लदन, 1978, पृ 25
38 रामस्वरूप चतुर्वेदी, 'भाषा और सवेदना', भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1964, पृ 46
39 वही, पृ 50
40 राबर्ट वाइमान, 'स्ट्रक्चर ऐंड सोसाइटी इन लिटरेरी हिस्ट्री', लदन, 1977, पृ 195

सूर का काव्य और किसान-जीवन

हिंदी साहित्य मे महात्मा सूरदास को तो बहुत सम्मान मिला है, लेकिन महाकवि सूरदास के महत्त्व की व्याख्या करने वाला आलोचनात्मक विवेक विरल ही है। हर अच्छी कविता की तरह सूर की कविता भी श्रद्धा से अधिक समझ की माग करती है। रामचद्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सूर के काव्य की व्याख्या को जहा छोडा था वहा से आज भी वह बहुत आगे नही बढी है। आचार्य शुक्ल की आलोचना से सूर की कविता के विशिष्ट स्वरूप की पहचान की शुरुआत हुई। उन्होने सूर की सहृदयता, कल्पनाशीलता, तन्मयता, नवीन प्रसगो की उद्‌भावना शक्ति, वाग्विदग्धता और काव्यभाषा की अपूर्व सृजनशीलता की व्याख्या करते हुए सूर-साहित्य की आलोचना का मार्ग बनाया। लेकिन उनकी आलोचना मे कुछ ऐसे आग्रह भी हैं, जिनसे सूर की परवर्ती आलोचना प्रभाविन हुई है। उनका एक आग्रह यह है कि सूर के काव्य मे लोक-सग्रह का अभाव है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है "सूरदास जी अपने भाव मे मग्न रहनेवाले थे, अपने चारो ओर की परिस्थिति की आलोचना करने वाले नहीं। ससार मे क्या हो रहा है, लोक की प्रवृत्ति क्या है, समाज किस ओर जा रहा है इन बातो की ओर उन्होंने अधिक ध्यान नही दिया है।" (सूरदास, पृ 191)

हजारीप्रसाद द्विवेदी के सामने शुक्ल जी की सूर-सबधी मान्यताए थी इसलिए उन्होने शुक्ल से भिन्न दृष्टि से सूर के काव्य को देखा, कही शुक्ल जी की मान्यताओ का विरोध किया है तो कही विकास भी। द्विवेदी जी ने सूर की काव्यानुभूति की शास्त्र-निरपेक्षता और रचनादृष्टि की नवीनता की व्याख्या की है और उनके कवि व्यक्तित्व की स्वाधीनता, प्रेम के विद्रोही स्वभाव, सूरसागर मे स्त्री-चरित्रो की प्रधानता, पदो की रचनापद्धति की मौलिकता आदि का मूल्याकन किया है। इस तरह सूर के काव्य की लोकोन्मुखता और सामाजिकता उजागर हुई है।

बाद के दिनो मे सूर-साहित्य की व्याख्या के लिए जो सत्सगी आलोचना

आगे आई, उसकी दिलचस्पी महात्मा सूरदास मे अधिक थी और महाकवि सूरदास मे बहुत कम। इस आलोचना मे बुद्धि की जगह श्रद्धा ने ले ली। फिर 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवो की वार्ता' के आधार पर सूर के जीवन और काव्य मे वल्लभ सप्रदाय की छाप की खोज होने लगी। लक्ष्य था सूर को 'पुष्टिमार्ग का जहाज' सिद्ध करना, ताकि आलोचना लोक-परलोक दोनो को सुधारने का साधन बन सके। सूर-साहित्य की व्याख्या मे सत्सगी आलोचना की वही भूमिका है जो तुलसी-साहित्य के प्रसग मे कथावाचको की परपरा की।

भक्तिकाव्य और प्रगतिशील आलोचना

रामचद्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना-दृष्टियो को, और साथ ही भक्तिकाव्य की उनकी व्याख्याओ को विकसित करने का प्रयत्न प्रगतिशील आलोचको ने किया है। प्रगतिशील आदोलन के आरभ से ही भक्ति आंदोलन और उसके काव्य के मूल्याकन का प्रश्न प्रगतिशील आलोचको के बीच उग्र विवाद का विषय रहा है और आज भी है। हाल के वर्षों मे रामविलास शर्मा और नामवर सिह के बीच अपनी-अपनी परपराओ की खोज और रक्षा के लिए आलोचना का जो महाभारत हुआ है, उसका कुरुक्षेत्र भक्तिकाव्य ही है। प्रायः प्रगतिशील आलोचना मे भक्तिकाव्य पर बहस के केंद्र मे कही कबीरदास हैं तो कही तुलसीदास। यह आश्चर्य की बात है कि इन बहसो के केंद्र मे सूरदास कही दिखाई नही देते। वे अगर कही हैं तो हाशिए पर।

इसका कारण बहुत रहस्यमय नही है। प्रगतिशील आदोलन के आरभिक दौर की आलोचना मे कविता की जो समझ थी और साहित्य मे समाज को खोजने की जो पद्धति थी, उसके लिए कबीर और तुलसी के काव्य का अपनाव और उपयोग आसान था। वह आलोचना कविता मे सतह पर तैरती विचार-धारा और सामाजिक यथार्थ के प्रत्यक्ष वर्णन की खोज करती थी। ये दोनो बातें कबीर और तुलसी के काव्य मे आसानी से मिल जाती थीं, इसीलिए उस ओर आलोचना का झुकाव स्वाभाविक था। सूर की कविता की विशिष्ट बनावट के भीतर समाविष्ट समाज और सामाजिक चिंता को वह आलोचना देख नहीं पाती थी। यही कारण है कि सूर हाशिए पर रहे।

सूरदास न कबीर की तरह समाज-सुधारक हैं और न तुलसी की तरह उप-देशक। उनके काव्य मे कबीर के समान उस समय के समाज की कडी आलोचना नही है और न, तुलसी के समान समाज की व्यवस्था तथा मर्यादा की रक्षा का आग्रह। वे प्रेम और सौंदर्य के अनत अनुभवो के अनुपम शब्द-शिल्पी हैं। सूर की कविता विचारधारात्मक बयान देने वाली बातूनी कविता नहीं है। यहां तक कि

उन्हे जिस वल्लभ सप्रदाय का कवि कहा जाता है, उसके आग्रहो से भी उनकी कविता मुक्त ही है। उनकी कविता पर वल्लभ सप्रदाय की छाप लगाने और सूरसागर को भागवत का अनुवर्ती बनाने का काम बाद मे सप्रदाय के सेवको ने किया है। सूरसागर मे लोक-चिता काव्यानुभूति के प्रवाह मे अतर्धारा की तरह है, सतह पर तैरती लकडी जैसी नही। उसमे समाज का प्रत्यक्ष वर्णन कम है, परतु मानवीय सबधो के चित्रण और काव्यभाषा की सरचना मे उस काल की सामाजिक वास्तविकता के चित्र और प्रतिबिब मौजूद हैं। वहा भाषा के लाक्षणिक प्रयोग सामाजिक अनुभवो और सच्चाइयो की ओर इशारा करते है। सूरदास सामाजिक यथार्थ का सीधे वर्णन करने के बदले उसके अनुभव का अभिव्यक्ति के उपकरण के रूप मे उपयोग करते है।

सूर की कविता अपने समय के समाज के पीछे चलने या उसकी आलोचना करने के स्थान पर उस सामती समाज की व्यवस्थाओ, सस्थाओ और रूढियो के दमनकारी प्रभावो का निषेध करती हुई एक ऐसे समाज की रचना करती है जिसमे लोक और शास्त्र के बधनो से स्वतत्र मानवीय भावो और मानवीय सबधो का सहज स्वाभाविक विकास सभव हुआ है। उनकी कल्पना के वृदावन मे वात्सल्य की चरम सहजता और प्रेम की परम स्वतत्रता का अनुभव सामती सामाजिकता के आतक से एकदम मुक्त है। भक्तिकाल के दूसरे कवियो ने भी कल्पना लोको की सृष्टि की है। जायसी का 'सिंहलद्वीप' और तुलसी का 'रामराज्य' कल्पना लोक ही है। सूर का वृदावन जायसी के सिंहलद्वीप और तुलसी के रामराज्य की तुलना मे उस काल के सामती समाज की सीमाओ से अधिक स्वतत्र है। उसमे स्वतत्र मानवीय सबधो की आकाक्षा अधिक मूर्त और ग्राह्य रूप मे व्यक्त हुई है। वह मानवीय भावो की शक्ति और मानवीय सबधो के सौदर्य का बोध जगाने वाला कल्पनालोक है। इसी विशेषता के कारण सूर का काव्य अपने समय की पुकार होते हुए कालातीत भी है। नाभादास ने भक्त कवियो मे केवल सूरदास को 'कवियो का कवि' ठीक ही कहा है 'सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहि सिर चालन करै।'

सूरदास कवियो के कवि इसलिए भी है कि उन्होने ब्रजभाषा-काव्य की जो परपरा निर्मित की, वह बाद के लगभग चार सौ वर्षों तक चलती रही। सूर को समाज और साहित्य से जो ब्रजभाषा मिली थी उसे पहले से अधिक विकसित, परिष्कृत और अभिव्यजक बनाकर उन्होने बाद के कवियो को सौपा। तभी वह चार सौ वर्षों तक काव्यभाषा बनी रही। यद्यपि सूर की कविता बाद के कवियो के लिए कठिन चुनौती साबित हुई, क्योकि आचार्य शुक्ल के शब्दो मे, "वात्सल्य और शृगार के क्षेत्र मे तो इस महाकवि ने मानो औरो के लिए कुछ छोडा ही नही।" फिर भी परवर्ती काव्य-परपरा पर सूर का प्रभाव पडा है। वे

तुलसी की तरह अपनी परपरा के अतिम कवि नही हैं, एक विशाल काव्य-परपरा के प्रवर्तक कवि हैं। उनके वात्सल्य चित्रण की अद्वितीयता आज भी अक्षुण्ण है, जिसके अनुकरण का प्रत्येक प्रयत्न दुस्साहस साबित हुआ है। लेकिन उनके शृगार की परपरा जरूर आगे चली है, पर उसमे लोकगीतो का वह उत्सवधर्मी सगीत नही है जो सूर के प्रेम की मुख्य विशेषता है।

सूर-साहित्य की आलोचना के इतिहास से स्पष्ट है कि अच्छी कविता मे अतर्निहित समाज और लोक-चिंता की पहचान का काम सचमुच कठिन है। कवि के भौतिक परिवेश और कविता के विचारधारात्मक आग्रहो के आसपास ही मडराने वाली आलोचना के लिए तो वह और भी दुष्कर है। यद्यपि आचार्य शुक्ल मानते थे कि सूर की कविता मे लोक-सग्रह का अभाव है, फिर भी उनकी आलोचना मे ऐसे अनेक सूत्र और सकेत है, जिनके सहारे उस काव्य मे कहीं प्रत्यक्ष रूप मे व्यक्त और कही परोक्ष रूप से व्याप्त लोक-चिता की खोज सभव है। परतु बाद के कुछ आलोचको ने शुक्ल जी के सकेतो की दिशा को समझकर आगे बढने के बदले उन सकेतो को ही लक्ष्य मान लिया और उन्हे सिद्ध करने की कोशिश की।

सूर का गोचारण-काव्य

आचार्य शुक्ल का एक सकेत यह है कि सूरसागर मे पशुचारण-काव्य की प्रवृत्ति मिलती है। उन्होने लिखा है, 'बाललीला के आगे फिर उस गोचारण का मनोरम दृश्य सामने आता है, जो मनुष्य जाति की अत्यत प्राचीन वृत्ति होने के कारण अनेक देशो के काव्य का प्रिय विषय रहा है। यूनान के पशुचारण-काव्य का मधुर सस्कार यूरोप की कविता पर अब तक कुछ न कुछ चला ही आता है। कवियो को आकर्षित करने वाली गोप-जीवन को सबसे बडी विशेषता है प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र मे विचरने के लिए सबसे अधिक अवकाश। कृषि, वाणिज्य आदि और व्यवसाय जो आगे चलकर निकले, वे अधिक जटिल हुए—उनमे उतनी स्वच्छदता न रही।' (सूरदास, पृ 160)

आचार्य शुक्ल के अनुसार, समाज के विकास के साथ पशुचारण काव्य का भी विकास हुआ है। कृषि तथा व्यापार के युगो मे भी गोचारण-काव्य रचा जाता है, क्योकि कृषि और व्यापार की व्यवस्थाओ से उपजी जटिलताओ से निकलकर प्रकृति के स्वछद वातावरण मे विचरने की मानवीय आकाक्षा की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है गोचारण-काव्य। तात्पर्य यह कि गोचारण-काव्य सामती और पूजीवादी समाजो के जटिल बधनो से मानव-मन की मुक्ति मे सहायक बनता है। इस तरह कभी-कभी मानव समाज के इतिहास के सुदूर अतीत की स्मृति भी भविष्य की सभावनाओं की तलाश मे मनुष्य की मदद करती है।

आधुनिक युग मे भी किसी न किसी रूप मे गोचारण-काव्य की रचना का यही रहस्य है।

यूरोप मे पशु-चारण-काव्य की परपरा अत्यत लबी और समृद्ध है। यूनान के थिओक्रिटस और रोम के वर्जिल से शुरू होकर अग्रेजी के स्पेसर, शेक्सपियर, वड्सवथ आदि से होती हुई पशु-चारण-काव्य की परपरा बीसवी सदी तक चली आई है। जाहिर है, समाज के इतिहास के साथ पशु-चारण-काव्य का रूप ही नही, उसका प्रयोजन भी बदलता रहा है। विकास की प्रत्येक अवस्था मे उसके स्वरूप का समकालीन सामाजिक सबधो से गहरा रिश्ता दिखाई देता है और उसके सामाजिक, नैतिक तथा भावात्मक प्रयोजनो पर समकालीन जीवन का गहरा प्रभाव पडता रहा है। वहा के आलोचक पशु-चारण-काव्य के विकास और परिवर्नन के बारे मे सजग दिखाई देते हैं। वे वड्सवथ की पशु-चारण सबधी कविता मे वर्जिल के पशु-चारण-काव्य की विशेषताए नही खोजते। लेकिन हिंदी के आलोचक सूर के गोचारण-काव्य को आदिम गोचारण-काव्य मानते दिखाइ देते है। भारतीय कविता मे गोचारण-काव्य की परपरा यूरोप के समान सघन और समृद्ध नही है। यहा वैसी निरतरता भी नही है। फिर भी, यहा जो है वह गोचारण सबधी ग्वाल-गीतो के रूप मे मिलता है, जबकि यूरोप का पशु-चारण-काव्य मुख्यत गडेरियो के गीतो से जुडा हुआ है। हिंदी मे गोचारण-काव्य की प्रवृत्ति का सार्थक प्रयोग केवल सूर के काव्य मे है।

आचार्य रामचद्र शुक्ल जब कहते हैं कि सूरसागर मे बाललीला के बाद गोचारण का मनोरम दृश्य सामने आता है तब उनका आशय यह नही है कि सूर का सपूर्ण काव्य गोचारण-काव्य है, और यह भी नही कि वह प्रागैतिहासिक पशु-चारण-काव्य है। फिर भी हिंदी के कुछ आलोचको ने सूरदास को चरागाह सस्कृति का कवि घोषित कर दिया है। और तो और, डॉ रामविलास शर्मा भी सूर को पशुपालको का कवि मानते है। उन्होने सन् 1984 मे लिखा था, "कबीर शहरी कारीगरो के, सूर पशु-पालको के, तुलसी किसानो के जीवन से जुडे हुए है। दार्शनिक मतवाद की छानबीन मे विवेचक इनके भौतिक परिवेश की विशेषताए भूल जाते है। किसान-जीवन के चित्र कबीर और सूर के काव्य मे नही है, वे तुलसी के काव्य की विशेषताए है।" (मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ 344) साल-भर बाद ही उन्होने 'लोकजागरण और हिंदी साहित्य' मे लिखा, "किसान जीवन के चित्र कबीर और सूर के काव्य मे नही हैं—मेरी यह बात केवल सापेक्ष रूप मे सही है। कबीर और सूर किसान-जीवन से परिचित हैं पर इस जीवन की समग्रता तुलसी के काव्य मे है, उस युग के अन्य किसी कवि में नही।" (पृ 74)

साल भर के भीतर डॉ रामविलास शर्मा के मत मे यह परिवर्तन और

फिर उसका स्वीकार आश्चर्यजनक है, लेकिन स्वीकार की शैली और भी अधिक चकित करने वाली है। किसान-जीवन से कबीर और सूर के सबध की बात आधे मन से मानने के साथ ही इस पूर्वग्रह को पहले से अधिक जोर देकर दोहराया गया है कि उस युग मे किसान-जीवन के प्रतिनिधि कवि तुलसीदास है, कोई और नही। क्या सचमुच ऐसा है कि सूरदास तो किसान-जीवन से सिर्फ परिचित हैं, लेकिन तुलसी किसानो के प्रतिनिधि कवि ? आखिर किसान-जीवन की वह कौन सी समग्रता है जो तुलसी के काव्य मे है, पर सूर या उस युग के किसी अन्य कवि मे नही ? इन प्रश्नो का उत्तर पाने के लिए कवियो के काव्य-ससार के भीतर जाना होगा, उनके केवल भौतिक परिवेश को याद रखना पर्याप्त नही होगा, क्योकि तीनो महाकवियो के भौतिक परिवेश की बात उलझी हुई है। कबीर कारीगर है, लेकिन सूर पशुपालक नही । तुलसी के किसान होने का कोई प्रमाण नही है। ऐसी स्थिति मे इन कवियो के भौतिक परिवेश की बात साक्षेप रूप मे ही सही है।

गोचारण-प्रसग और किसान-जीवन

यहा हमारा लक्ष्य केवल सूर के काव्य-ससार से किसान जीवन के सबध का विवेचन है। आइए, पहले हम यह देखें कि सूरसागर के गोचारण-प्रसग का किसान जीवन से कोई सबध है या नही। सोलहवी सदी के भारतीय समाज का कवि प्रागैतिहासिक गोचारण का कवि कैसे हो सकता है ? सूर के काव्य मे ऐसा समाज है जिसमे पशुपालन कृषिव्यवस्था का अग है और गोचारण किसान-जीवन के व्यापक अनुभवो का हिस्सा। ग्राम-समाज और किसान-जीवन मे लोक-अनुभव और लोक-कला के पुराने रूप बहुत दिनो तक जीवित रहते हैं, इसलिए उस समाज और जीवन से जुडी कविता मे नए के साथ पुराने अनुभवो और कलारूपो का आना स्वभाविक है। सूर के काव्य मे गोचारण का जो चित्रण है उसमे उस काल के गोचारण सबधी अनुभवो के साथ अतीत के अनुभवो की स्मृति भी है, उनके गोचारण-गीतो मे पुराने ग्वाल-गीतो की अनुगूज मौजूद है। इसलिए सूरसागर के गोचारण-गीतो को चरागाह सस्कृति की कविता या आदिम गोचारण-काव्य समझना गलत है। सूर का काव्य अपने समय और समाज से जुडा हुआ काव्य है।

कविता मे जीवन के यथार्थ और अनुभव की अभिव्यक्ति दो रूपो मे होती है—प्रत्यक्ष और साकेतिक। एक मे यथार्थ और अनुभव का सीधा वस्तुपरक वर्णन होता है और दूसरे मे अलकारो, बिबो, प्रतीको तथा भाषा के अन्य इशारो के माध्यम से कवि यथार्थ और अनुभव की ओर सकेत करता है। प्रत्यक्ष रूप मे चित्रित यथार्थ और अनुभव की पहचान सरल होती है, लेकिन जहा साकेतिकता

होती है वहा पहचान की प्रक्रिया कठिन हो जाती है। सूर के काव्य मे किसान-जीवन दोनो रूपो मे है। यहा किसान-जीवन के यथार्थ का जितना प्रत्यक्ष चित्रण है, उससे अधिक किसान-जीवन के अनुभवो की साकेतिक व्यजना है। विनय के पदो मे किसान-जीवन के यथार्थ के प्रातिनिधिक चित्र अधिक हैं, जबकि भ्रमरगीत में मुहावरो, कहावतो, लोकोक्तियो और अलकारो के माध्यम से उस जीवन के अनुभव साकेतिक रूप मे आए हैं।

किसान-जीवन की पहचान है खेती। वही उस जीवन का सबसे बडा यथार्थ भी है। खेती की पूरी प्रक्रिया का समग्र चित्र सूर के इस पद मे है:

प्रभु जू यों कीन्ही हम खेती
बजर भूमि गाउ हर जोते, अरु जेती की तेती।
काम क्रोध दोउ बैल बली मिलि, रज तामस सब कीन्हौं।
अति कुबुद्धि मन हाकनहारे, माया जूआ दीन्हौं।
इन्द्रिय मूल किसान, महातृन अग्रज बीज बई।
जन्म जन्म को विषय वासना, उपजत लता नई।
कीजै कृपादृष्टि की बरषा, जन की जाति लुनाई।
सूरदास के प्रभु सौ करियै, होई न कान-कटाई।

(सूरसागर, भाग-1, पद स 185)

इस रूपक मे खेती से सबधित सभी आवश्यक बातें आ गई हैं, खेती के साधन, उसकी प्रक्रिया, कठिनाइया और किसान के श्रम को कभी सार्थक, कभी निरर्थक बनाने वाली वर्षा भी।

सूर के काव्य मे खेती से जुडी हर छोटी-बडी बात का जितना आत्मीय ज्ञान है, वह किसान-जीवन से तादात्म्य के बिना सभव नही। उसमे खेती की भूमि के गुण-धर्म की पूरी पहचान है। कही बजर भूमि की चर्चा है तो कही ऊजड जमीन की—"ज्यौं ऊजर खेरे की पुतरी को पूजै को मानै।" कभी-कभी किसान खाल खेत को पाटकर खेती के योग्य बनाता है। सूर ने इस प्रक्रिया की ओर सकेत किया है—'सूर खाल किन पाटत।' विभिन्न पौधो की प्रकृति और वर्षा से उनके सबध का जैसा ज्ञान सूर को है, वैसा किसी किसान को ही होगा। धान का पौधा पानी की कमी से मुरझाकर मर जाता है। कृष्ण के बिना गोपियो की यही दशा है—'सूखति सूर धान अकुर सी, बिनु बरसा ज्यो मुल तुई।' कुछ पौधे नमी की कमी से मरते हैं तो कुछ नमी की अधिकता से। उन्हे एक साथ उपजाने की कोशिश व्यर्थ है, जैसे कि प्रेम के साथ योग को रखने की कोशिश 'सूरदास तीनौ नहि उपजत धनिया धान कुम्हाडे।' सूरदास जानते हैं कि खेती के पौधो के समुचित विकास के लिए निराई आवश्यक है, इसलिए लिखा है—'जैसे प्रथम अषाढ आजु तृन खेतिहर निरखि उपाटत।' यहा निराई की केवल

सूचना नही है, निराई की पूरी प्रक्रिया का चित्र सामने आता है। यह चित्रमयता सूर की काव्यभाषा की स्थायी विशेषता है।

तुलसी के काव्य मे भी खेती से सबधित कुछ बातें मिल जाती हैं। उनमे से एक यह है—'कृषि निरावहि चतुर किसान।' कुछ तुलसी-भक्त इसको बार-बार उद्धृत करते हुऐ कहते हैं कि उस युग मे किसानो के प्रतिनिधि कवि केवल तुलसीदास हैं। शायद वे यह नही जानते कि तुलसी से पहले और अधिक काव्योचित ढग से यही बात सूरदास कह चुके हैं। लगता है कि भक्तिकाव्य मे ज्ञान से भक्ति का स्थायी विरोध भले ही न हो, लेकिन भक्तिकाव्य की हिंदी आलोचना मे भक्ति का ज्ञान से स्थायी विरोध जरूर है।

खेती के साथ-साथ किसान-जीवन का एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष है पशुपालन। यह आज भी किसान-जीवन की वास्तविकता है। सूर के समय मे तो पशुपालन का खेती से सबध और भी घनिष्ठ रहा होगा। यही कारण है कि किसान-जीवन से जुडे कवि के लिए पशु-प्रकृति की पहचान जरूरी है। विशेषत गोपाल की लीला के गायक कवि के लिए तो गाय के रूप, रग और स्वभाव मे गहरी दिलचस्पी अनिवार्य है। सूर के विनय के पदो मे गाय के स्वभाव से सबधित अनेक रूपक हैं। एक पद मे हरही गाय के स्वभाव का विस्तृत वर्णन है

> माधौ जू, यह मेरी इक गाई
> अब आज तैं आप आगैं दई, लै आइयै चराइ।
> यह अति हरहाई, हटकत हू बहुत अमारग जाति।
> फिरति वेद-वन-ऊख उखारति, सब दिन अरु सब राति।
> हित करि मिलै लेहु गोकुलपति, अपने गोधन माह। (1/51)

गायो के रूप, रग और व्यवहार का वर्णन गोचारण-प्रसग मे भी हुआ है। वहा गायो के रूप-रग के अनुसार उनके नामो का भी उल्लेख है -

> अपनी-अपनी गाई ग्वाल सब, आनि करौ इक ठौरी।
> धौरी, धूमरि, राती, रौंछी, बोल बुलाइ चिन्हौरी।
> पियरी, मौरी, गोरी, गैनी, खैरी, कजरी, जेती।
> दुलही, फुलही, भौंरी, भूरी, हाँकि ठिकाई तेती।
> (1/1063)

गायो के नाम, रूप और स्वभाव का यह वर्णन उन लोगो को विचित्र लगेगा जो डेयरी का दूध पीकर जवान हुए हैं, लेकिन गाव वालो के लिए आज भी गायो के ये नाम सहज और आत्मीय हैं।

सूर के काव्य मे जिस किसान-जीवन का चित्रण है, उसका एक विशेष सामाजिक और ऐतिहासिक सदर्भ है। वह सदर्भ सामती व्यवस्था का है, जिसके भीतर किसान-जीवन के अनुभवो का स्वरूप बना है। सूर की विशेषता यह है कि

उन्होंने सामती-व्यवस्था के सदर्भ के साथ किसान-जीवन के अनुभवो का चित्रण किया है। उसमे सामती-व्यवस्था के अत्याचार और किसानो की यातना को मूर्त और इद्रियग्राह्य बनाने के लिए रूपक का सहारा लिया गया है। एक रूपक मे किसानो की निर्धनता के कारण लगान देने मे असमर्थता, सामतो की लूट और उनके कपटी कर्मचारियो के अनाचार का वर्णन इस रूप मे है

अधिकारी जम लेखा मागै, तातैं हौं आधीनौ।
घर मैं गथ नहि भजन तिहारौ, जौन दिय मैं छूटौं।
धर्म जमानत मिल्यौ न चाहै, तातैं ठाकुर लूटौ।
अहकार पटवारी कपटी, झूठी लिखत बही।
लागै धरम, बतावै अधरम, बाकी सबै रही।
सोई करौ जु बसतै रहियै, अपनौ धरियै नाउ।
अपने नाम की बैरख बाधौ, सुबस बसौं इहि गाउ।

(सूरसागर, 1/185)

सामती-व्यवस्था मे लगान की लूट के साथ सूदखोरी की प्रथा भी किसानो को तबाह करती रही है। भारतीय किसान-जीवन के नए-पुराने सभी बडे लेखको की रचनाए इस बात की गवाही देती हैं। सूरदास ऋण की प्रथा की क्रूरता से खूब परिचित हैं, इसीलिए लिखा है

सबै कूर मोसो ऋण चाहत, कहौ कहा तिन दीजै।
बिना दियै दुख देत दयानिधि, कहौ कौन विधि कीजै।

(सूरसागर, 1/196)

इस पद मे ऋण की प्रथा से सबधित अधिकतर पक्षो का उल्लेख है। ऋण की प्रथा का शोषण की व्यवस्था से गहरा सबध होता है, इसलिए उसका विस्तार सामतवाद से पूजीवाद तक और पडोस के महाजन से विदेशी बैंको तक दिखाई देता है। सूर के मन पर ऋण-प्रथा की क्रूरता का इतना गहरा प्रभाव है कि वे गोपियो की विरह-वेदना की गभीरता व्यक्त करने के लिए उसका लाक्षणिक उपयोग करते हैं—'सूर मूर अक्रूर लै गयो, ब्याज निवेरत ऊधौ।' कृष्ण मूलधन है और उनकी स्मृति ब्याज है, मूलधन तो अक्रूर ले गए पर अब ब्याज वसूल करने उद्धव आए हैं। मूलधन लौटाने से अधिक दुखदायी होता है ब्याज देना, इसलिए उद्धव का व्यवहार गोपियो को अधिक पीडादायक लगता है।

सामती-व्यवस्था के सेवक पुरोहितो ने ऋण की प्रथा को धर्म से जोडा और उसके बधनो को अकाट्य बनाने के लिए उसके दुष्प्रभावो का लोक से परलोक तक विस्तार किया, ताकि कर्ज लेने वाला किसी भी हालत मे कर्ज देने से मुकर न जाय। सूर ने इस स्थिति की ओर भी सकेत किया है

मुकरि जाई, कै दीन बचन सुनि जमपुर बाधि पठावै।
लेखौ करत लाखही निकसत, को गनि सकत अपार।

(सूरसागर, 1/196)

हिंदी मे ऐसे आलोचको का अभाव नही है जो कहते हैं कि कविता की व्याख्या मे समाज को लाना कविता के साथ अत्याचार है। लेकिन जिस कविता मे समाज होगा उसकी व्याख्या सामाजिक चिंता के बिना कैसे होगी ? जो व्यक्ति ऋण की प्रथा की क्रूरता से अपरिचित होगा वह 'सूर मूर अक्रूर ले गये, ब्याज निबेरत ऊधौ' मे निहित अर्थ की गहराई और गोपियो की यातना की गभीरता भी नही समझ सकता।

सूर के काव्य मे सामती-व्यवस्था का जो चित्र उभरता है उसमे ठाकुर लुटेरा है, कोतवाल दगाबाज और पटवारी कपटी, जो झूठी बही लिखता है। इस लूट और झूठ की व्यवस्था के कुछ अन्य अमलो के क्रिया-कलाप का ब्यौरा यह है

मोहरिल पाच साथ करि दीने, तिनकी बडी विपरीति।
जिम्मै उनके, मागैं मोतैं, यह तौ बडी अनीति
पाच-पचीस साथ अगवानी, सब मिलि काज बिगारे।
सुनी तगीरी, बिसरि गई सुधि, मो तजि भए नियारे।
बढौ तुम्हार बरामद हू कौ लिखि कीनौं है साफ
सूरदास की यहै बीनती दस्तक कीजै माफ। (सूरसागर, 1/143)

विनय के पदो मे उस समय की शासन-व्यवस्था, ग्राम-प्रबध और भूमि-व्यवस्था का जो वर्णन है उसकी शब्दावली भी ध्यान देने लायक है। इसमे ज्यादातर शब्द अरबी-फारसी के हैं। वे मुगलकाल की शासन-व्यवस्था की प्रचलित शब्दावली से आये हैं और 'आईने-अकबरी' मे भी मिलते हैं। सूर की इस सजगता से जाहिर है कि वे अपने समय के समाज से बेखबर कवि न थे।

सूरदास सामाजिक यथार्थ और जीवन के अनुभवो का चित्रण प्राय रूपकों की मदद से करते हैं। 'जनम साहिबी करत गयौ', 'हरि हौं सब पतितनि-पतिनेश', 'साचौं सो लिखहार कहावै', 'हरि हौं ऐसे अमल कमायौ', 'प्रभुजू यौं किन्ही हम खेती' आदि पदो मे रूपक के माध्यम से ही उस काल की सामती सत्ता, सामाजिक व्यवस्था, ग्राम-प्रबध, भूमि-व्यवस्था और किसान-जीवन के अनुभवो का चित्रण हुआ है। सूर के लिए रूपक केवल एक अलकार नही है। वह यथार्थ और अनुभव की पुनर्रचना तथा अभिव्यक्ति की विशिष्ट पद्धति है, जीवनानुभव को काव्यानुभव बनाने का माध्यम है और काव्यानुभूति के सप्रेषण का सर्जनात्मक साधन है। किसान-जीवन से सबधित रूपको मे प्रतिनिधिकता है और मूल्य-बोध भी, वस्तुस्थिति का वर्णन है और उसके प्रति कवि की विशेष दृष्टि भी,

किसान जीवन का ज्ञान है और उससे सहानुभूति भी। यद्यपि इन पदो का उद्देश्य कवि की भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति है, लेकिन अमूर्त भावो और विचारो को मूर्त तथा सवेद्य बनाने की प्रक्रिया मे जो रूपक रचे गए हैं, उनमे सामाजिक जीवन के अनुभव व्यक्त हुए हैं। ये रूपक कवि के जीवनानुभव और सामाजिक सहानुभूति की ओर सकेत करते हैं। इन रूपको मे भक्ति वह मचान है जिस पर किसान-जीवन के अनुभवो की कविता खडी है।

भ्रमरगीत मे किमान-जीवन के अनुभवो का वस्तुपरक वर्णन नही है, क्योकि उसमे कवि का मुख्य उद्देश्य है गोपियो की प्रेमानुभूति के विभिन्न पक्षो की अभिव्यक्ति। लेकिन वहा प्रेम की अनुभूति की सस्कृति, उसकी सरचना और अभिव्यक्ति मे अनेक स्तरो पर किसान-जीवन के अनुभव उपस्थित है। वैसे कविता मे जीवन की मच्चाइया केवल वस्तु-रूप मे नही आती, अभिव्यक्ति के साधनो के माध्यम से भी आती हैं। भ्रमरगीत मे भी प्राय किसान-जीवन के अनुभव काव्य-शिल्प के विभिन्न साधनो के साथ कविता मे आए हैं। यहा भाषा की बनावट, कथन की शैली, वचन-वक्रता, व्यग्य, मुहावरो, कहावतो, अलकारो आदि मे किसान-जीवन के अनुभव आते हैं और सूर की काव्यानुभूति की सस्कृति के विशिष्ट स्वरूप का निर्माण करते है। साथ ही वे कवि के जीवनानुभवो का पता भी देते है, क्योकि कवि की कल्पना अभिव्यक्ति के साधन जुटाने के लिए वही जाती है जो कवि के ज्ञान और अनुभव का क्षेत्र होता है।

सभव है, कुछ लोग इस बात पर चौकें कि सूर की कविता मे अभिव्यक्ति-कला के माध्यम से जनजीवन के अनुभव आते हैं। लेकिन यही सच है। दूसरो की बात जाने दीजिए। देखिए कि इस प्रसग मे आचार्य रामचद्र शुक्ल क्या कहते हैं। अभिव्यक्ति के अन्य साधनो, अर्थात मुहावरो और कहावतो आदि की कौन कहे, सूर तो अलकारो के माध्यम से भी कविता मे समाज के अनुभव लाते हैं। उनकी रचनादृष्टि की इस विशेषता को पहचानते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है— "वस्तु-विन्यास का जो सकोच सूर की कविता मे दिखाई देता है, उसकी बहुत कुछ कसर अलकार-रूप मे लाए हुए पदार्थों के प्राचुर्य द्वारा पूरी होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि अप्रस्तुत रूप मे लाए हुए पदार्थों की सख्या बहुत अधिक है।" (सूरदास, पृ 153) सूर के काव्य मे अलकार कविता की केवल शोभा नही बढाते, वे जीवन-जगत के अनुभव भी साथ लाते है, क्योकि वे शास्त्र और परपरा से नही, समकालीन जीवन के अनुभवो से आते हैं। भ्रमरगीत मे कई बार रूपक का प्रयोग इसी प्रयोजन से हुआ है। एक पद मे गाव के कुम्हार की कारीगरी की पूरी प्रक्रिया का चित्रण है

ऊधौ भली भई ब्रज आए।
विधि कुलाल कीन्हे काचे घट ते तुम आनि पकाए।

रग दीन्हौ हौ कान्ह सावरैं अग अग चित्र बनाए।
पातै गरे न नैन मेह तैं, अवधि अटा पर छाए।
ब्रज करि अवा जोग इँधन करि, सुरति आनि सुलगाए।
फूक उसास बिरह प्रजरनि सग, ध्यान दरस सिमराए।

(सूरसागर, 2/4400)

ऐसा चित्र केवल सुनी-सुनाई बातो के आधार पर नही बनाया जा सकता।

आचार्य शुक्ल जिसे सूर की वाग्विदग्धता कहते है, वह केवल वचन-वक्रता और शब्द-क्रीडा नही है, उसमे व्यग्य और विनोद के साथ गहरी कल्पनाशीलता भी है। वही कल्पनाशीलता अलकारो, मुहावरो और लोकोक्तियो की खोज मे सक्रिय दिखाई देती है। अलकारो, मुहावरो और लोकोक्तियो की खोज मे सूर की कल्पना ग्राम-समाज की ओर जाती है, क्योकि वही कवि के ज्ञान और अनुभव का परिचित क्षेत्र है और गोपियो का वास्तविक परिवेश भी। गोपियो की भाव-दशाओ को अधिक प्रभावशाली और चित्रात्मक रूप मे व्यक्त करने के लिए यदि कही कोई अलकार आता है तो वह किसान-जीवन के किसी न किसी अनुभव से जुडा होता है। कृष्ण के बिना गोपियो की विरह विदग्ध दशा की व्यजना सूर ने इस रूप मे की है

कछुवै कहति कछू कहि आवत, प्रेम पुलक स्रम स्वेद चुई।
सूखति सूर धान अकुर सी, बिनु बरषा ज्यौ मूल तुई।।

(सूरसागर 2/2473)

उद्धव-गोपी-सवाद मे सूरदास गोपियो की मानसिकता और उसकी पृष्ठभूमि का ध्यान रखते है, इसलिए गोपियो की कथनशैली और वचन वक्रता मे उनके स्वभाव और परिवेश की झलक मिलती है। वचन-चातुरी के बावजूद गोपियो की बातो मे जो भावप्रवणता, निष्कपटता, सहजता और स्पष्टवादिता है वह गाव की श्रमशील स्त्रियो की स्वाभाविक विशेषता है।

वास्तव मे मनुष्य के सौंदर्यबोध का उसके भावबोध से और भावबोध का जीवन जगत के अनुभव तथा ज्ञान से गहरा सबध होता है। मनुष्य के सौंदर्य की कल्पना भी उसके अनुभव और ज्ञान के दायरे के भीतर ही क्रियाशील होती है। यही कारण है कि कविता मे आए अलकार, बिंब और प्रतीक भी कवि और कविता के देश-काल की ओर सकेत करते हैं। उदाहरण के लिए 'ढोला मारू रा दूहा' का यह दोहा देखिए और विचार कीजिए कि इसमे अलकार और भाषा के माध्यम से राजस्थान का जीवन और परिवेश कैसे आया है—'हू कुमलावणी कत विणु जलह विहुणी वेल। बिणजारा री भाइ जिउ गया धुकती मेल।।' (मैं जल-विहीन लता की तरह कत के बिना कुम्हला गई हू। मेरा प्रिय बनजारे की भट्टी के समान मुझे सुलगती छोड गया है।) इस दोहे की दूसरी पक्ति मे जो अलकार

है वह कवि और कविता के देश-काल का द्योतक है। 'ढोला मारू रा दूहा' की तरह 'पद्मावत' और 'सूरसागर' मे भी अभिव्यक्ति के उपकरणो के माध्यम से स्थानीय प्रकृति, लोकसस्कृति और जनजीवन के अनुभव कविता मे आए है।

कही-कही सूरदास ने गोपियो की विरहानुभूति की अभिव्यक्ति के साधन के रूप मे किसान जीवन के अनुभवो का उपभोग किया है। उन्होने किसान-जीवन की किसी वास्तविकता या स्थिति का ऐसा वस्तुपरक चित्रण किया है कि गोपियो की मनोदशा स्वत व्यक्त हो जाती है। कृष्ण के व्यवहार से निराश और उद्धव के उपदेश से विक्षुब्ध गोपिया कभी-कभी खुद को कोसने लगती है। उनकी इस मनोदशा की अभिव्यक्ति के लिए किसान-जीवन के एक अनुभव का उपयोग इस तरह हुआ है

ऐसो माई, एक कोद को हेतु।

× × ×

जैसे करनि किसान बापुरो नौ नौ बाहे देत।

ऐते हू पर नीर निठुर भयो, उमगि आय सब नेत।।

गोपियो की व्यथा अथाह है। उन्होने समाज के सभी बधनो को तोडकर कृष्ण से प्रेम किया, परतु बदले मे मिली अनत वियोग की अपार वेदना। इस जटिल भावदशा की व्यजना के लिए सूर ने किसान-जीवन के एक जटिल अनुभव का सहारा लिया है

मरि-मरि झगरि भूमि कछु पाई, जस अपजस ब्रितई।

अब लौ सूर कहनि है उपजी सब ककरी करूई।।

सूरदास की काव्यभाषा का रचाव किसान-जीवन से उनके घनिष्ट सबध का साक्षी है। इस भाषा की एक बडी विशेषता है किसान जीवन से जुडे मुहावरो, कहावतो और लोकोक्तियो का भरपूर प्रयोग, जिनमे खेती और पशुपालन के अनुभव सचित है। साथ ही बातचीत की शैली मे भी किसान जीवन की वास्तविक भाषा के रूप रग की चमक मिलती है। उद्धव से गोपिया जिस भाषा मे विवाद और सवाद करती है, वह परपरा से पाई हुई भाषा नही है। वह बोलचाल की जीवत और सवादधर्मी भाषा है, इसलिए उसमें मुहावरो और कहावतो की अधिकता है। गोपिया कभी निर्गुण की निस्सारता साबित करने के लिए भोलेपन से पूछती है, 'कहो कौन पै कढत कनूका, जिन हठि भुसी पछौरी' तो कभी उद्धव के उपदेश की व्यर्थता पर चिढकर कहती हैं, 'कित पट पर गोता मारत हौ निरे भूड के खेत।' बहुत वाद-विवाद के बाद भी उद्धव जब गोपियो की बात नही समझते और अपनी जिद पर अडे रहते हैं तब खीझकर गोपिया कहती हैं

धान को गाव पयार तै जानौ, ज्ञान विषय रस भोरे।

सूर सु बहुत कहे न रहै रस, गूलर को फल फोरे।।

सूरसागर मे ऐसे बहुत से पद है जो आरभ से अत तक मुहावरो और लोकोक्तियो की मदद से ही रचे गए हैं। ऐसे पदो का एक उदाहरण यह है

> आए जोग सिखावन पाडे।
> परमारथी पुराननि लादे ज्यो बनजारे टाडे ।।
> हमरी गति पति कमलनयन की जोग सिखै ते राडे।
> कहो, मधुप, कैसे समायगे एक म्यान दो खाडे ।।
> कह षटपद, कैसे खैयतु है हाथिन के सग गाडे।
> काकी भूख गई बयारि भखि बिना दूध घृत माडे ।।
> काहे को झाला लै मिलवत, कौन चोर तुम डाडे।
> सूरदास तीनो नहिं उपजत धनिया धान कुम्हाडे ।।
>
> (सूरसागर, 2/4223)

सूरसागर मे किसान-जीवन से सबधित जो मुहावरे, कहावते और लोकोक्तिया मिलती हैं वे आज भी किसानो मे प्रचलित हैं। यह कहना कठिन है कि उनमे से कितने लोकजीवन से लिए गए है और कितने सूर के रचे हुए है। हिंदी के जो आलोचक कहते है कि हिंदी कविता की भाषा उर्दू की तरह मुहावरेदार नही होती वे सूर की कविता पढकर अपना भ्रम दूर कर सकते हैं। यह सही है कि आज की हिंदी कविता की भाषा मे मुहावरो और कहावतो का अभाव है, क्योकि वह प्राय बोलचाल की भाषा से दूर है। आज के अनेक प्रगतिशील और जनवादी कवि भी लोकजीवन से जुडने के नाम पर बोलियो के कुछ शब्दो से अपनी काव्य-भाषा को छौककर उसमे लोकजीवन का स्वाद पैदा करने की कोशिश करते हैं, लेकिन वहा बोलचाल की भाषा का अदाज और मुहावरा नही मिलता।

सूरदास के सामने प्रेम-कविता की एक समृद्ध परपरा थी और उसकी अत्यत विकसित भाषा भी थी। उस परपरा से मिली भाषा मे कविता लिखकर वे प्रेम के अच्छे कवि हो सकते थे, लेकिन अपने ढग के पहले और बेजोड कवि नही। सूर ने परपरा से पाई भाषा मे कविता लिखने के बदले किसान-जीवन की वास्तविक भाषा से अपनी कविता की दुनिया बनाई है, इसलिए उनकी काव्यभाषा मे अनेक स्तरो पर ग्राम-समाज और किसान-जीवन प्रतिबिबित है। वे ही यौवन को 'हरियर खेत' और प्रिय को 'हारिल की लकडी' कह सकते हैं। वास्तव मे सूर की भाषिक सवेदनशीलता मे उनकी सामाजिक सवेदनशीलता प्रकट हुई है।

किसान-जीवन की समग्रता का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है प्रकृति से उसका विशेष सबध। किसान के लिए प्रकृति पराई और दूर की वस्तु नही होती, इसलिए उससे किसान की सहज आत्मीयता होती है। प्रकृति के प्रति किसान के मन मे शहरी लोगो जैसी ललक या मुग्धता नही मिलती। प्रकृति पर किसान का पूरा जीवन निर्भर है, वह प्रकृति के कोप और कृपा को सहज भाव से स्वीकार करता

है। किसान-जीवन के राग-विराग, हर्ष-विषाद, उत्सव-अवसाद आदि मे प्रकृति सक्रिय सहभागी होती है। यही कारण है कि लोकसस्कृति मे प्रकृति का इतना अधिक महत्त्व है। किसान-जीवन का कोई भी कलाकार प्रकृति से किसान के स्थायी और अतरग सबध की उपेक्षा नहीं कर सकता। सूर के काव्य मे प्रकृति उसी रूप मे आई है जैसे वह किसान-जीवन से जुडी होती है।

सूर के काव्य मे प्रकृति का विशेष महत्त्व है, क्योकि वह कृष्ण-लीला की रगभूमि है। गोचारण के साथ कृष्णलीला प्रकृति के स्वच्छद परिवेश मे प्रवेश करती है और चीरहरण-लीला, रासलीला, जलक्रीडा, पनघटलीला, दानलीला और वसतलीला के रूपो मे प्रकृति की गोद मे ही विकसित होती है। कृष्ण की सपूर्ण लीला प्रकृति के स्वच्छद परिवेश मे जमुना के किनारे और वृदावन मे चलती है। यहा प्रकृति केवल पृष्ठभूमि नही है, वह लीला के स्वरूप और प्रेम की प्रकृति का निर्माण करने वाली सक्रिय शक्ति है। कृष्ण और गोपियो के प्रेम मे जो सहजता, स्वच्छदता तथा उत्सवधर्मिता है और लोक के बधनो को अस्वीकार करने का साहस है, वह सब प्रकृति के स्वच्छद वातावरण के कारण सभव हुआ है, अन्यथा सोलहवी सदी के भारतीय समाज मे ऐसा प्रेम कहां सभव था। सूर के काव्य मे प्रकृति सामती रूढियो से मानव-मन की मुक्ति का एक माध्यम है।

यद्यपि भ्रमरगीत मे प्रकृति का परपरागत रूप भी दिखाई देता है, उसका उद्दीपन के रूप मे चित्रण मिलता है, लेकिन वर्षाऋतु के वर्णन मे सूर की रचना-दृष्टि की विशिष्टता प्रकट हुई, जिसका एक उदाहरण है यह पद

> बलैया लैहों, हो वीर बादर।
> तुम्हरे रूप सम हमरे प्रीतम गए निकट जलसागर ॥
> पा लागो द्वारका सिधारो बिरहिनि के दुखदागर।
> ऐसो सग सूर के प्रभु को करुनाधाम उजागर ॥

इस पद मे बादल के प्रति वह भाव नही है जो उद्दीपन विभाव के अतर्गत वर्षा और बादल के वर्णनो मे मिलता है। यहा बादल के साथ गहरी आत्मीयता है, जो 'वीर बादर' सबोधन मे प्रकट है। इस पद को पढते हुए यदि कालिदास के 'मेघ', घनानद के 'परजन्य', निराला के 'पावस के वीर' और नागार्जुन के 'शिशु घन-कुरग' की याद आए तो मानना होगा कि यह परपरागत प्रकृति-वर्णन नही है, बल्कि वर्षा और बादल से भारतीय मन के गहरे लगाव की पहचान कराने वाली काव्य-परपरा का प्रमाण है। प्रत्येक देश की कविता का अपने देश की प्रकृति से विशेष प्रकार का सबध होता है, जिससे उस कविता की विशिष्ट सस्कृति बनती है। सूर की कविता मे ब्रज की लोकसस्कृति के साथ प्रकृति भी व्यक्त हुई है।

गाव और शहर का द्वद्व

यह सब जानते है कि सूर की कविता की कर्मभूमि ग्राम-समाज है, क्योकि वही कृष्ण की मुख्य लीलाभूमि है। लेकिन इस बात की ओर शायद ही किसी का ध्यान गया हो कि सूर की कविता मे गाव से शहर के द्वद्व की अभिव्यक्ति भी है। यहा गाव और शहर के बीच द्वद्व अनेक स्तरो पर है। सबसे पहले सगुण से निर्गुण, ज्ञान और योग के द्वद्व मे गाव से शहर का विरोध व्यक्त हुआ है। ऐसा लगता है कि उस समय निर्गुण, ज्ञान और योग का अधिक प्रचार शहरो मे था और सगुण का गावो मे। भ्रमरगीत मे बार-बार निर्गुण, ज्ञान और योग को नगर से जोडा गया है। उद्धव से निर्गुण और योग का उपदेश सुनकर गोपिया कहती है—'यह प्रिय कथा नगर नारिन सौं, कहहिं जहा कछु पावहिं।' सूर के अनुसार योग, ज्ञान और निर्गुण का केंद्र है काशी। भ्रमरगीत मे बार-बार काशी को निर्गुण, ज्ञान और योग का गढ कहा गया है। उद्धव से गोपिया कहती हैं—'यह निरगुन लै तिनहिं सुनावहु, जे मुडिया कसै कासी' या फिर 'जे गाहक निरगुन के ऊधौ, ते सब बसत ईसपुर कासी।' सरल-सीधे गाव वालो को सहज-स्वाभाविक सगुण भक्ति प्रिय है—'गोकुल सबै गोपाल उपासी।' गोपियो को योग की बाते 'कपट-कथा' लगती है, गाव की रीति-नीति के ठीक विपरीत। वे उद्धव से पूछती हैं—'मधुकर! कौन गाव की रीति? ब्रज जुवतिन को जोग कथा तुम कहत सबै विपरीत।'

शहर और गाव के बीच नैतिक द्वद्व भी है। सूर के अनुसार गाव के जीवन और व्यवहार मे सहजता, ईमानदारी और सचाई है, जबकि शहर अनैतिकता, छल-प्रपच और चालाकी का गढ है। गाव की गोपियो की कथा शुद्ध प्रेम-कथा है और शहरी प्रेम कपट-कथा है। ब्रजवासी जिस शहर से परिचित है वह मथुरा है—सत्ता और शक्ति का केंद्र, अत्याचार और शोषण का गढ, छल और प्रपच का प्रतीक। वह मायानगरी है, गोकुल और गोपियो का सर्वस्व हरण करने वाली। मथुरा गोपियो के लिए कस, अक्रूर और उद्धव का ही नही, कुब्जा का भी नगर है। वहा जो जाता है वह लौटकर नही आता, वहीं का हो जाता है और जो आता है वह छल-प्रपच का जाल फैलाता है। इसीलिए गोपिया उद्धव से कहती हैं

> वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे।
> तुम कारे सुफलक सुत कारे, कारे मधुप भवारे॥

ब्रजवासी अपने अनुभव से जानते हैं कि मथुरा के लोग विश्वसनीय नहीं हैं। यही कारण है कि गोपिया कहती हैं

> मधुबनिया लोगनि को पतियाय।
> मुख औरे अतरगत औरे, पतिया लिखि पठवत जू बनाय॥

सूर के अनुसार गाव के लोग सहज रूप से सहृदय है, गोपिया हजार कठिनाइयो के बावजूद हठ कर प्रेम करती है, जबकि शहर के लोग प्रेम का दिखावा करते हैं, मथुरावासी चतुर और कपटी है

हम अहीरि मतिहीन बापुरी, हटकत हू हठि करत मिताई।
वे नागर मथुरा निरमोही, अग-अग भरे कपट चतुराई।।

शहर और गाव के बीच द्वद्व की जो चेतना सूर के काव्य मे है, वह उस युग के किसी अन्य कवि के यहा शायद ही मिले। इस द्वद्व मे सूर की सहानुभूति गाव के साथ है।

राजनीतिक अभिप्रायो की खोज

अब तक हमने देखा है कि सूरदास की कविता अपने समय के समाज और सस्कृति के बारे मे कितनी सजग है। क्या ऐसी कविता अपने काल की राजनीति के अभिप्रायो से अनभिज्ञ रह सकती है? हमारे सामने सवाल सूर की कविता के राजनीतिक महत्त्व की खोज का नही है, वह तो प्रत्येक लोकधर्मी कविता का स्वाभाविक गुण है। यहा विचारणीय प्रश्न यह है कि सूर की कविता मे उस युग की राजनीति के अर्थ और अभिप्राय की पहचान कितनी है। यह प्रश्न कुछ लोगो को विचित्र लग सकता है, क्योकि हिंदी आलोचना मे भक्तिकाव्य की राजनीति अर्थात् उसके राजनीतिक अर्थ, अभिप्राय और महत्त्व पर विचार की कोई विकसित परपरा नही है। यद्यपि बहुत पहले आचार्य रामचद्र शुक्ल ने भक्ति आदोलन के राजनीतिक महत्त्व को पहचाना और लिखा था कि "दक्षिण मे रामदास स्वामी ने लोक धर्माश्रित भक्ति का सचार करके महाराष्ट्र-शक्ति का अभ्युदय किया। पीछे से सिखो ने भी लोकधर्म का आश्रय लिया और सिख-शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ।" लेकिन बाद के दिनो मे भक्ति आदोलन और भक्तिकाव्य की यह पहचान विकसित नही हुई। इसलिए कुछ लोग भक्ति आदोलन और उसके काव्य के प्रसग मे राजनीति की बात सुनकर चौक उठते हैं।

जो लोग यह समझते हैं कि जिस कविता मे राजसत्ता का खुला विरोध या समर्थन होगा, वही राजनीतिक होगी वे भक्तिकाव्य मे राजनीति की खोज करते हुए निराश होते हैं, क्योकि उसमे राजसत्ता का सीधा विरोध नही है। इस प्रसग मे कुभनदास का यह कथन बार-बार उद्धृत किया जाता है .

सतन सो कहा सीकरी सो काम ?
आवत जात पनहिया टूटी, बिसरि गयो हरिनाम ।।
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम।

लेकिन राजनीति केवल राजसत्ता के विरोध या समर्थन तक सीमित नही होती, कविता की राजनीति तो और भी नही। समकालीन राजनीति के अर्थ तथा

अभिप्राय की पहचान और उसके विरोध तथा विकल्प की रचनात्मक चिंता भी कविता की राजनीतिक सजगता का प्रमाण है। भक्तिकाव्य मे ऐसी राजनीतिक सजगता है। सूरदास के विनय के पदो मे उस काल की सामती व्यवस्था और साधारण जनता के साथ उसके दुर्व्यवहार का बोध है और उद्धव-गोपी-सवाद मे उस व्यवस्था की राजनीति के अर्थ तथा अभिप्रायो की पहचान है।

साधारण जनता के लिए शासकवर्ग की राजनीति की लीला हमेशा अबूझ पहेली होती है। गोपिया ठीक ही कहती हैं—'जानै कहा राजगति लीला अत अहीर विचारो।' इस लीला का रहस्य और प्रयोजन तो कोई मर्मज्ञ कवि ही खोलकर बता सकता है। सूर ने शासकवर्ग की राजनीति के रूप, रहस्य और अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखा है

राजनीति की रीति सुनौ हो, चरत बारिचर खेत।

इससे बडी विडबना क्या हो सकती है कि बादल खेत चर जाए, जीवन देने वाला जीवन ले ले, पोषक ही शोषक बन जाए। लेकिन शासकवर्ग की राजनीति की यही रीति-नीति है, सूर के समय के शासकवर्ग की और आज के शासकवर्ग की भी। तबसे आज तक राजनीति का रूप जरूर बदला है, परतु उद्देश्य वही है। राजनीति की यह रीति बताते हुए सूर ने उस काल की जन-भावना को वाणी दी है, जो आज भी जन-मन मे सीधे उतर जाने वाली है।

सूरदास राजसत्ता और उसके व्यवहार को जनता की दृष्टि से देखते हैं, इसलिए उन्हे दुराचारी शासन की अधेरगर्दी असह्य लगती है

सूरदास ऐसी क्यो निबहै अध धुध सरकार।

उस युग मे छोटे-बडे सामत बात की बात मे परस्पर लडा करते थे। ऐसी लडाइयो से सामतो का झूठा अहकार तुष्ट होता था, पर जनता तबाह होती थी। सूरदास सामती राजनीति की इस असगति और अनीति को पहचानते हैं—'द्वै नृप लरत प्रजा इद्रीगति, सूर कौन यह नीति।'

आजकल राजनीति का सबसे अधिक प्रचलित अर्थ है झूठ, फरेब और छल। राजनीति का यह अर्थ शासकवर्ग के राजनीतिक कर्म और व्यवहार से पैदा हुआ है। लगता है कि राजनीति का यह अर्थ नितात नया नही है। सूर ने एकदम आधुनिक अर्थ मे 'राजनीति' का प्रयोग इस पद मे किया है.

हरि हैं राजनीति पढि आए।
समुझी बात कहत मधुकर जो? समाचार कछु पाए?
इक अति चतुर हुते पहिले ही, अरु करि नेह दिखाए।
जानी बुद्धि बडी जुवतिन को जोग सदेस पठाए॥
भले लोग आगे के सखि री! परहित डोलत धाए।
वे अपने मन फेरि पाइए, जे हैं चलत चुराए॥

ते क्यो नीति करत आपुन, जे औरनि रीति छुडाए ?
राजधर्म सब भए सूर, जह प्रजा न जाय सताए ।।
(भ्रमरगीत सार, पृ 33)

हिंदी कविता मे 'राजनीति' का ऐसा सार्थक और साभिप्राय प्रयोग सूर से पहले और बाद मे भी शायद ही कही मिले। यह प्रयोग इतना सटीक और व्यजक है कि मुहावरा बन गया है। आज की राजनीति मे झूठ और फरेब का बोलबाला पहले से अधिक है, इसलिए यह मुहावरा आज पहले से भी अधिक सार्थक लगता है। राजनीति के इस अर्थ की पहचान के पीछे उस युग की राजनीति के स्वरूप की समझ है और उस राजनीति के बारे मे जनमत की जानकारी भी।

हिंदी के कुछ आलोचक कहते है कि कविता मे राजनीति और व्यग्य के आने से कविता का स्वास्थ्य बिगड जाता है, दोनो एक साथ आए तब तो हालत और खराब हो जाती है। लेकिन वास्तविकता यही है कि कविता मे दोनो प्राय एक साथ आते है। सूर के इस पद मे भी राजनीति के साथ व्यग्य वैसे ही है, जैसे शब्द के साथ अर्थ। यहा सूर की वाग्विदग्धता का निखार देखने लायक है।

सूर के काव्य मे तत्कालीन शासन व्यवस्था की राजनीति के रूप और अभिप्राय की पहचान है और साथ मे जनता के हित की राजनीति की चिंता भी है, इसीलिए लिखा है

राजधर्म सब भए सूर, जह प्रजा न जाय सताए।

यह अनीति और अत्याचार से मुक्त राजनीति की माग है, सामती युग मे प्रजातन्त्र की आकाक्षा की अभिव्यक्ति है।

क्या ऐसे कवि को अपने आसपास की दुनिया से विरक्त, अपने भाव मे मग्न रहने वाला कहना उचित है ?

•••